अञ्चलगच्छीय-आचार्यश्रीमहेन्द्रसिंहसूरिविरचितम्

मनःस्थिरीकरणप्रकरणम्

(सटीकम्)

अञ्चलगच्छीय आचार्यश्रीमहेन्द्रसिंहसूरिविरचितम्

मनःस्थिरीकरणप्रकरणम्

(सटीकम्)

श्रुतभवन संशोधन केन्द्र

ग्रन्थनाम : मनःस्थिरीकरणप्रकरणम् (सटीकम्)

ग्रन्थकर्ता : आ. श्रीमहेन्द्रसिंहसूरिजी म.

टीका : आ. श्रीमहेन्द्रसिंहसूरिजी म.

सम्पादक : मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी गणिवर, रूपेन्द्रकुमार पगारिया

पत्र : ४८ + १४४

प्रकाशन : श्रुतभवन संशोधन केन्द्र – शुभाभिलाषा रीलीजीयस ट्रस्ट

आवृत्ति : प्रथमा वि.सं. २०७१, (ई.स. २०१५)

लाभार्थी : श्री पंचमहाजन मेरमांडवाडा, राज.

प्राप्तिस्थान

पूना : **श्रुतभवन संशोधन केन्द्र**
४७–४८, अचल फार्म, आगममंदिर से आगे,
सच्चाइ माता मंदिर के पास, कात्रज, पूणे–४११०४६
संपर्क : Mo. 7744005728 (9-00am to 5-00pm)
www.shrutbhavan.org Email : shrutbhavan@gmail.com

अहमदाबाद : **श्रुतभवन (अहमदाबाद शाखा)**
C/o. उमंग शाह
अर्हम् फ्लेक्सीपेक प्रा.लि., बी–४२४, तीर्थराज कॉम्पलेक्स,
वी. एस. हॉस्पिटल के सामने मादलपुर, अहमदाबाद.
मो. ०९८२५१२८४८६

प्रकाशकीय

मनःस्थिरीकरणप्रकरण श्री संघ के करकमल में समर्पित करते हुए हमें आनन्द की अनुभूति हो रही हैं । श्रुतभवन संशोधन केन्द्र के सन्निष्ठ समर्पित सहकारिगण की कडी मेहनत और लगन से दुर्गम कार्य सम्पन्न हुआ है । इस अवसर पर श्रुतभवन संशोधन केन्द्र के संशोधन प्रकल्प हेतु गुप्तदान करने वाले दाता एवं श्रुतभवन संशोधन केन्द्र के साथ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जुडे हुए सभी महानुभावों का हार्दिक अभिनन्दन करते है । इस ग्रन्थ के प्रकाशन का अलभ्यलाभ **श्री पंचमहाजन मेरमांडवाडा श्री सिरोडकी तीर्थ संघ** ने प्राप्त किया है । आपकी अनुमोदनीय श्रुतभक्ति के लिए हम आपके आभारी है ।

श्रुतभवन संशोधन केन्द्र की समस्त गतिविधियों के मुख्य आधारस्तंभ मांगरोळ (गुजरात) निवासी श्री चंद्रकलाबेन सुंदरलाल शेठ परिवार एवं भाईश्री (ईन्टरनेशनल जैन फाऊन्डेशन, मुंबई) के हम सदैव ऋणी है ।

-भरत शाह

(मानद अध्यक्ष)

श्री जित-हीर वृद्धि-तिलक शांतिचन्द्रसूरिजी समुदायवर्ती,

सम्यग्ज्ञानपिपासु स्व.परम पूज्य आचार्यदेव

श्रीमद् विजयरत्नशेखरसूरीश्वरजी म.सा. के शिष्यरत्न

मरुधररत्न प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् **विजयरत्नाकरसूरीश्वरजी** म.सा.

की निश्रा में आयोजित

श्रीमहावीरस्वामी आदि जिनबिंबों की अंजनशलाका प्रतिष्ठा महोत्सव

(दि. १३-५-१५ से २१-५-१५) की स्मृति में

श्री पंचमहाजन मेरमांडवाडा

मु.पो.मेरमांडवाडा, वाया कालन्द्री, जिला सिरोही (राजस्थान) ३०७८०२

श्री सिरोडकी तीर्थ संघ

आपकी श्रुतभक्ति की हार्दिक अनुमोदना।

संपादकीय

प्रति परिचय:

मनःस्थिरीकरण प्रकरण का संपादन तीन प्रतियों के आधार पर हुआ है। हमें तीनों प्रतियों की प्रतिछाया (झेरोक्षकोपी) ही उपलब्ध हुई है।

प्रत **ए**– यह संज्ञा पाटण के भण्डार की ताडपत्रीय प्रति की है। मूलतः संघवी पाडा के भंडार की यह प्रत वर्तमान में श्री हेमचंद्राचार्य जैन ज्ञानभंडार में विद्यमान है। (डाबडा नं.१३४/१) पूज्य मुनिश्री जंबूविजयजी म. सा. के डीवीडी सेट में इस प्रत की कोपी है (डीवीडी नं.५२ पातासंघवी १३४/१)। पूज्य आ.श्री मुनिचंद्रसू.म की कृपा से यह कोपी उपलब्ध हुई है। इस प्रति के कुल पत्र १६+१७८ हैं। प्रत्येक पत्र में ५ पंक्तियां एवं प्रत्येक पंक्ति में ५८ अक्षर है। हमें प्रति की प्रतिछाया (झेरोक्षकोपी) ही उपलब्ध हुई है, अतः पत्र का माप एवं प्रत की स्थिति के विषय में कहने के लिये अक्षम है। प्रारंभ के १६ पत्र में मनःस्थिरीकरण प्रकरण मूल है उसके बाद पत्र १ से १७८ तक टीका लिखी गई है। पत्र क्रमांक ५९+६० तथा ७८+७९ एकत्र है। पत्र क्रमांक १३० दो बार लिखा है। पत्र क्रमांक ७५, १६९ का पुनरावर्तन हुआ है। प्रत पूर्ण है। इस प्रति के अंत में ग्रंथ लिखानेवाले की प्रशस्ति नहीं है। अतः ग्रन्थ लेखन का संवत् प्रति में नहीं दिया गया। अक्षर सुन्दर है साथ ही काफी शुद्ध है। इस प्रत के ज्यादातर पत्र स्पष्ट एवं पढने योग्य है और कुछ इतने अस्पष्ट काले धब्बे वाले है कि जिसे पढा नहीं जाता। सम्पादन के लिए मुख्य रूप से इस ताडपत्रीय प्रत का ही उपयोग किया है।

प्रत **बी**– यह संज्ञा पू.कांतिवि.शास्त्रसंग्रह, वडोदरा स्थित कागज की हस्तप्रत की है। (नं. २०५५) इसकी प्रतिछाया (झेरोक्षकोपी) पू.मुनिश्री सर्वोदयसागरजी के पास थी और पू.आ.श्री कलाप्रभसागरसू.म.सा. की कृपा से यह कोपी उपलब्ध हुई है। इसके मूलपत्र ५३ हैं। प्रत्येक पत्र में १४ पंक्तियां एवं प्रत्येक पंक्ति में ५५ अक्षर है। हमें प्रति की प्रतिछाया (झेरोक्षकोपी) ही उपलब्ध हुई है, अतः पत्र का माप एवं प्रत की स्थिति के विषय में कहने के लिये अक्षम है। लेखनकाल वि.सं. १९७० है। प्रत के अंत में लेखक पुष्पिका इस प्रकार है। **इदं पुस्तकं श्रीमदणहिल्लपुरपत्तनस्थसंघवीपाटकचित्कोशगत–ताडपत्रपुस्तकोपरितः संवत् १९७० वर्षे चैत्रकृष्णनवम्यां मन्दवासरे पत्तनवास्तव्य–श्रीमाळीज्ञातीय–लक्ष्मीशंकरात्मजेन गोवर्धनेन त्रिवेदिना प्रवर्तकश्रीमत्कान्तिविजयमुनिकृते लिखितम्।।** स्पष्ट है कि यह प्रत अर्वाचीन है और प्रत ए के कुल की ही है। प्रत पूर्ण है। यह प्रत पाटण के भण्डार की ताडपत्रीय प्रति की अनुकृति है। अतः पाटण के भण्डार की ताडपत्रीय प्रति की तरह इस में प्रथम मूल स्वतंत्र रूप में लिखा गया है। मनःस्थिरीकरण प्रकरण मूल के साथ इस प्रत में आ.श्री महेंद्रसिंहसू.म. रचित आयुःसारसंग्रह नामक लघुकृति भी है। इसका क्रमांक २०५६ है।

प्रत **सी**– यह संज्ञा आ.श्रीवि.कमलसू.जैनहस्तलिखितपुस्तकोद्धारफंड, जैनानन्दपुस्तकालय,सुरत स्थित कागज की हस्तप्रत की है। इसकी प्रतिछाया (झेरोक्षकोपी) पू.आ.श्री वि.नेमिसू.म.सा.के **पू.आ.श्री वि.सोमचंद्रसू.म.सा.** की कृपा से उपलब्ध हुई है। इसके मूलपत्र ४४ हैं। प्रत्येक पत्र में १७ पंक्तियां एवं

प्रत्येक पंक्ति में ५२ अक्षर है। हमें प्रति की प्रतिछाया (झेरोक्षकोपी) ही उपलब्ध हुई है, अतः पत्र का माप एवं प्रत की स्थिति के विषय में कहने के लिये अक्षम है। लेखनकाल वि.सं. १९ वी सदी का उत्तरार्द्ध है। प्रत के अंत में लेखक पुष्पिका इस प्रकार है- **विजयकमलसूरि-प्राचीनपुस्तकोद्धारफंड तरफथी जैनानन्दपुस्तकालय माटे लखावी।। गोपीपुरा, सुरत।।** स्पष्ट है कि यह प्रत भी अर्वाचीन है और प्रत ए के कुल की है। प्रत पूर्ण है।

इन तीन हस्तप्रतों से अतिरिक्त मनःस्थिरीकरण प्रकरण की अन्य हस्तप्रत से हम अवगत नहीं है। प्रत बी और सी अर्वाचीन है । यह दोनों प्रत पाटण के भण्डार की ताडपत्रीय प्रति (= प्रत ए) के कुल की ही है। प्रत ए का लेखनकाल निश्चित करने के साधन नही है। लिपिकार की लेखनशैली एवं अक्षरों के आकारप्रकार से यह अनुमान होता है कि यह प्रत चौदहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखी गई होगी। परंतु संपादन करते समय यह ज्ञात हुआ कि- प्रकरण की मूल गाथाओं का टीका में परिवर्तन किया गया है। टीका के पाठों का भी परिमार्जन हुआ है। टीकाकार ने अपनी और से टिप्पणी भी लिखी है। अतः यह अनुमान है कि - यह प्रत कर्ता ने स्वयं अपने हाथों से लिखी है। यदि यह अनुमान सच है तो इस प्रत का लेखनकाल तेरहवी सदी का उत्तरार्द्ध है। मनःस्थिरीकरण प्रकरण की इस प्रत से प्राचीन प्रत कोई नहीं है। आश्चर्य की बात तो यह है कि ७०० साल के दीर्घ कालावधि में इतने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की ओर किसी का ध्यान भी नहीं गया है। इसी कारण इस प्रकरण की प्रतिलिपि नही हुई है। यहां तक कि बृहट्टिप्पणीकाकार ने भी इसका उल्लेख नही किया है। तेरहवी शताब्दी के बाद बीसवी शताब्दी में यह ग्रंथ प्रकाश में आया। ऐसा भी नहीं है कि यह ग्रंथ विद्वानों में प्रचलित नहीं था। पंद्रहवी शताब्दी में आचार्यश्री सोमसुन्दरसू.म. ने मनःस्थिरीकरण प्रकरण का आधार लेकर मारुगुर्जर भाषा में 'मनःस्थिरीकरण विचार' नामक कृति की रचना की है। अतः उसकी उपादेयता अवश्य थी किंतु किसी अगम्य कारण से यह ग्रंथ प्रचलित नहीं हो पाया।

आचार्यश्री महेन्द्रसिंहसू.म. अंचलगच्छ के है अतः अंचलगच्छ के वर्तमान पुरोधा विद्याप्रेमी मनीषीप्रवर आचार्यश्री कलाप्रभसागरसू.म.ने कुछ वर्ष पूर्व इस ग्रंथ का संपादनकार्य प्रारंभ किया था। इस कार्य के लिये प्राज्ञवर्य श्री रूपेंद्रकुमार पगारिया को नियुक्त किया था। पगारियाजी ने परिश्रमपूर्वक लिप्यंतर, संपादन निष्पन्न किया। प्रस्तावना आदि से सज्ज हो कर ग्रंथ मुद्रण के लिये तैयार भी हो चुका था, परंतु किसी कारणवश प्रकाशित न हो पाया। पूज्य आचार्यश्री ने यह कार्य विदुषी साध्वी श्रीचंदनबालाश्रीजी को सौंपा। श्रुतभवन में इस ग्रंथ का संपादन हो रहा है यह जानकर साध्वीवर्या ने आचार्यश्री कलाप्रभसागरसू.म. का निर्देश प्राप्त कर पगारियाजी द्वारा संपन्न सामग्री भेज दी। यह सामग्री प्राप्त होने से पूर्व ताडपत्र की (पाटण) प्रत के आधार पर लिप्यंतर और प्राथमिक संपादन हो चुका था। पगारियाजी द्वारा संपन्न सामग्री के कारण संशोधन और सटीक हो सका। अतः मैं आचार्यश्रीकलाप्रभसागरसू.म., साध्वी श्रीचंदनबालाश्रीजी म. तथा श्री रूपेंद्रकुमार पगारिया का ऋण स्वीकार करता हूं।

संपादन पद्धति:

जैसा कि पूर्व कहा है- इस प्रकरण की प्राचीनतम प्रत एक ही है, अन्य प्रत अर्वाचीन है और उसके कुल की ही है। अतः पाठभेद के प्रसंग में ताडपत्र की (पाटण) प्रत को ही प्रधान किया है और पाठभेद को स्वतंत्र रूप में दर्शाना जरुरी नहीं समझा है। इस प्रकरण में जो जो गाथाएँ एवं गद्य भाग उद्धरण के रूप में दिये गये हैं उन के मूल ग्रंथों की सहायता से अशुद्ध पाठों की शुद्धि करने का प्रयास किया है। आदर्श प्रत

एक ही है उसकी लिपिगत अशुद्ध पाठ की जगह संभवित शुद्ध पाठ वर्तुलाकार कोष्ठक () में दिया है। प्रत में क्वचित् अधिक अक्षर, पद आदि का प्रवेश हो गया है, उसे चौरस कोष्ठक में दिया है। प्रकरण की मूल गाथाओं का टीका में परिवर्तन किया गया है । (उदा. गाथा २२, ४१, ४७, ८२, ८३, ८४, ८५, ९१, ९२, ९३, १२, १३३) मूल की गाथा तथा वृत्ति की गाथा के क्रम में भी थोडा सा भेद दिखाई देता है। मूल की १६९ गाथा है तथा वृत्ति की १७० गाथा है। यहां पर वृत्ति सम्मत पाठ को अंतिम मानकर संपादन किया है। टीका के पाठों का भी परिमार्जन हुआ है अर्थात् अनभीष्ट पाठ को टीकाकार ने स्वयं निकाल दिया है। ऐसे पाठ को निकालना ही उचित समझा है। कुछ एक स्थान पर टीकाकार ने अपनी ओर से टिप्पणी भी लिखी है। यह टिप्पणी पादटीप (फूटनोट) में दी है। परिशिष्ट में मनःस्थिरीकरण प्रकरण मूल (परि.१), गाथार्द्ध का अकारादि अनुक्रम (परि.२), उद्धरणस्थल संकेत (परि.३) के साथ साथ मनःस्थिरीकरण प्रकरण के पदार्थों को विशद रूप से समझने के लिये परिशिष्ट ४ में यंत्र = कोष्ठक दिये है।

परिशिष्ट–५ में आचार्यश्री सोमसुन्दरसू.म. कृत '**मनःस्थिरीकरण विचार**' नामक कृति दी है। इस में मनःस्थिरीकरण प्रकरण के पदार्थ उसी क्रम से गुजराती भाषा में प्रस्तुत किये गये है। इसे हम मनःस्थिरीकरण प्रकरण की गुजराती आवृत्ति कह सकते है। 'मनःस्थिरीकरण विचार' की दो हस्तप्रत उपलब्ध हुई है।

(१) पहली प्रत जैन ज्ञानभंडार, संवेगी उपाश्रय, हाजा पटेलनी पोळ, अमदावाद की है (डा. नं. १२९– प्र.नं.४६५४ [२४])। इस प्रत के १२ पत्र है। प्रत्येक पत्र में १६ पंक्तियां एवं प्रत्येक पंक्ति में ६० अक्षर है। पत्र का माप २५/१०.५ है। हमें प्रति की प्रतिछाया (झेरोक्षकोपी) ही उपलब्ध हुई है,अतः प्रत की स्थिति के विषय में कहने के लिये अक्षम है। मूलतः यह प्रत श्री दयाविमल भंडार, काळुशीनी पोळ अमदावाद की थी ऐसा इस के उपर अंकित मुद्रा (स्टेम्प) से लगता है। प्रत के अंत में लेखक की प्रशस्ति इस प्रकार है– **परमगुरुभट्टारकप्रभुश्रीगच्छनायकसोमसुन्दरसूरिभिः कृतं मुनिलावण्यसागरपठनार्थम्**। इस प्रत का लेखनकाल संभवतः १८वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध प्रतीत होता है। प्रत पूर्ण है। पू.आ.श्री कलाप्रभ–सागरसू.म.सा. की कृपा से यह कोपी उपलब्ध हुई है।

(२) दूसरी प्रत भोगीलाल लहेरचंद संशोधन संस्थान, दिल्ली की है (AC No. –B 647/0/DL 00000/30777, DVD 182)। अंत में लेखक की प्रशस्ति इस प्रकार है–**परमगुरुभट्टारकप्रभुश्रीगच्छ–नायकसोमसुन्दरसूरिभिः कृतम्**। इस प्रत का लेखनकाल संभवतः १८ वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध प्रतीत होता है। अमदावाद की प्रत से यह अर्वाचीन लगती है। प्रत के पत्र ३२ है। पत्र का माप २८/११.५ है।। प्रत्येक पत्र में ९ पंक्तियां एवं प्रत्येक पंक्ति में ४२ अक्षर है। हमें प्रति की प्रतिछाया (झेरोक्षकोपी) ही उपलब्ध हुई है, अतः प्रत की स्थिति के विषय में कहने के लिये अक्षम है। प्रत पूर्ण है। संपादन के लिये यह प्रत की छायाप्रति (झेरोक्ष) प्रदान करने के लिये संस्था का आभारी हूं। पूज्य आ.श्री मुनिचंद्रसू.म. की कृपा से यह कोपी उपलब्ध हुई है।

ग्रंथकार कृत **आयुःसारसंग्रह** नामक कृति प्रस्तुत विषय की उपयोगी है अतः उसका समावेश परिशिष्ट ६ में किया है। ८० गाथा प्रमाण इस लघुकृति में चार गति के जीवों के आयुष्य का विचार किया गया है। यह कृति अद्यावधि अप्रगट है। इस की हस्तप्रत पाटण के संघवी पाडा स्थित ताडपत्रीय भंडार में (क्रमांक ११८/२) है। यह 'आर्द्रकुमार कथानक आदि' नामक प्रत की पेटा–कृति है, जो पत्र क्रमांक २६ से शुरू होकर पत्र क्रमांक ३१ पे समाप्त होती है। प्रत्येक पत्र में ६ पंक्तियां एवं प्रत्येक पंक्ति में ६५ अक्षर है। हमें

प्रति की प्रतिछाया (झेरोक्षकोपी) ही उपलब्ध हुई है, अतः पत्र का माप एवं प्रत की स्थिति के विषय में कहने के लिये अक्षम है। इस प्रत का ३०वां पत्र नहीं है अतः ४९ से ६७ तक अठारह गाथा अप्राप्य है। दुर्दैव से इसकी दूसरी प्राचीन हस्तप्रत उपलब्ध नहीं है। प्रवर्तक श्री कांतिवि.म. ने इसी हस्तप्रत की प्रतिलिपि करवाई है अतः उस में भी विच्छिन्न पाठ नहीं है। (इसका क्रमांक २०५६ है) इस प्रत में पत्र २६/२७ का कुछ भाग अवाच्य हो गया है। कर्ता ने टिप्पणी भी की है परंतु वह भी अवाच्य है।

मनःस्थिरीकरण प्रकरण की ७४/७५ वी गाथा में ग्रंथकार ने प्रज्ञापना सूत्र के तेईसवें पद के तीसरे उद्देश से संकलित एकेन्द्रियादि के १५८ प्रकृतिबन्ध की विचारणा प्रस्तुत की है वह स्वतंत्र कृति जैसी है अतः उसका समावेश परिशिष्ट ७ में किया है।

मेरे परम उपकारी **परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी महाराजा, पितृगुरुदेव परम पूज्य मुनिप्रवरश्री संवेगरति विजयजी म.सा.**की पावन कृपा, **बंधुमुनिवरश्री प्रशमरतिविजयजी म.**का स्नेहभाव एवं **परम पूज्य साध्वीजी श्रीहर्षरेखाश्रीजी म.की शिष्या साध्वीजी श्रीजिनरत्नाश्रीजीम.**का निरपेक्ष सहायकभाव मेरी प्रत्येक प्रवृत्ति की आधारशिला है। आपके उपकारों से उऋण होना संभव नहीं है।

संपादन के इस कार्य में मुझे **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय मुनिचंद्रसू. म.** के मार्गदर्शन, प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त होती रही है। आपकी उदारचित्तता को शत शत नमन। संपादन कार्य में श्रुतभवन संशोधन केन्द्र के सभी संशोधन सहकर्मी ने भक्ति से सहकार्य किया है अतः वे साधुवादार्ह है।

यद्यपि कर्मग्रंथ मेरा विषय नहीं है फिर भी अन्यान्य ग्रंथों की सहायता से मनःस्थिरीकरण प्रकरण का शुद्ध संपादन करने का प्रयास किया है। प्रमादवश कुछ अशुद्धियाँ रह गई हो तो विद्वान पाठकगण सम्पादक के प्रमाद को और भूल को क्षमा प्रदान करेंगे ऐसी विनम्र प्रार्थना है।

– वैराग्यरतिविजय

श्रुतभवन, पुणे
२७.१२.१२

परिचय

जैन दर्शन निरीश्वरवादी है। विश्व की व्यवस्था में ईश्वरवादी दर्शनों ने जो स्थान ईश्वर को दिया है वह स्थान जैन दर्शन ने कर्म को दिया है। वैदिक ईश्वरवादी दर्शनों ने ईश्वर के विषय में जितना विचार किया है उससे अधिक जैन दर्शन ने कर्म का विचार किया है। समग्र जैन साहित्य में आगम के बाद सबसे विस्तृत कर्म-साहित्य ही है। **मनःस्थिरीकरण प्रकरण** नामक प्रस्तुत कृति का समावेश कर्मसाहित्य में होता है।

मनःस्थिरीकरण प्रकरण इस नाम के कारण यह ग्रंथ योगप्रधान प्रतीत होता है, किंतु ग्रंथ का प्रधान वाच्य कर्मग्रंथ में वर्णित विषय ही है अतः यह ग्रंथ कर्मसाहित्य से संबद्ध है। द्रव्यानुयोग की तरह गणितानुयोग से भी ध्यान के द्वारा मन की स्थिरता प्राप्त होती है इसलिये इस ग्रंथ की विषयवस्तु मनःस्थिरता का परम साधन होने से ग्रंथकार ने प्रस्तुत प्रकरण का **मनःस्थिरीकरण प्रकरण** ऐसा सान्वर्थ नामाभिधान किया है।

ग्रंथकार

भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा है संत संस्कृति। जो संतों की साधना-आराधना से ही अंकुरित पल्लवित, पुष्पित और फलित हुई है। वस्तुतः संतों की महिमाशालिनी चर्या और वाणी का इतिहास ही भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का इतिहास है। अतीत के अगणित संत महात्माओं की जीवनी आज भी प्रेरणा का अजस्र प्रखर स्रोत है। ऐसे ही थे श्रमण संस्कृति की गौरवमयी अंचलगच्छ की परम्परा के महान संत आचार्य श्री महेन्द्रसिंहसूरीश्वरजी महाराज। ये प्रखर चिंतक, प्रौढ वक्ता एवं कुशल साहित्यकार थे।

इनका जन्म मरुदेशान्तर्गत सरानगर में श्रीमाल ज्ञातीय देवप्रसाद की पत्नी क्षीरदेवी के उदर से सं. १२२८ में हुआ। जन्म नाम महेन्द्रकुमार था। दीक्षा के पश्चात् ये महेन्द्रसिंहसूरि के नाम से विख्यात हुए। श्री मेरुतुंगसूरि की पट्टावली में ये औदिच्य ब्राह्मण पण्डित देवप्रसाद के पुत्र थे। कहा जाता है कि आचार्य धर्मघोषसूरि ने नागड गोत्रीय रुणा श्रेष्ठी के आग्रह से सरानगर में चातुर्मास किया। पण्डित देवप्रसाद उन दिनों मुनियों को व्याकरण पढा रहे थे। महेन्द्रकुमार की बालसुलभ क्रीडा से आचार्य श्री धर्मघोषसूरि बडे प्रभावित थे। यदा कदा वह आचार्यश्री की गोद में बैठ जाता और अपनी मधुर एवं आनन्दप्रद वाणी से आचार्य एवं अन्य मुनियों का मनोरंजन करता। बालक की प्रतिभा एवं उसके उज्ज्वल भविष्य को देखकर आचार्यश्री ने पण्डित देवप्रसाद से बालक की याचना की। पण्डित देवप्रसाद ने प्रसन्नतापूर्वक बालक को आचार्यश्री के चरणों में रख दिया। पं. देवप्रसाद का एवं पत्नी क्षीरदेवी का संघ ने खूब सन्मान किया।

अंचलगच्छदिग्दर्शन के अनुसार महेन्द्रकुमार ब्राह्मणपुत्र नहीं किन्तु श्रेष्ठीपुत्र था। बालक जब नौ वर्ष का हुआ तब वि.सं. १२३७ में खम्भात में बडे उत्सवपूर्वक आचार्य धर्मघोषसूरि ने उसे दीक्षा दी। अल्पकाल में ही ये संस्कृत-प्राकृत भाषा के प्रखर विद्वान् बने। उनकी प्रतिभा से प्रभावित हो उन्हें वि.सं. १२५७ में उपाध्याय के पद से विभूषित किया। सं.१२६३ में इन्हें आचार्य पद प्रदान किया। ये वाङ्मिता के अनन्यतम धनी थे। उनकी वाणी में श्रोताओं को उद्वेलित कर देने वाली चुम्बकीय शक्ति थी। गहरे पैठ जानेवाली उपदेशात्मक प्रवृत्तियों से अभिप्रेरित हो कर उन्होंने अज्ञानियों, अशिक्षितों, भूले-भटकों, संशयग्रस्तों के मन में सच्चरित्रता और निष्ठा का अखण्ड दीपक प्रदीप्त किया। कच्छ, गुजरात एवं राजस्थान के अधिकांश जनपदों का विहार करके जनता जनार्दन में आध्यात्मिक चेतना जागृत की। आपके उपदेश से अनेक श्रेष्ठियों ने लाखों

रूपया खर्च कर जिनमन्दिरों का निर्माण किया, अनेक जिनमन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ। बडे उत्सवपूर्वक प्रतिष्ठाएँ हुई। दुष्काल पीडित लाखों को सहायता मिली। अनेक महातीर्थों के संघ निकाले गये। इन्होंने अपने जीवनकाल में राजे महाराजे, ठाकुर, जागीरदारों, साहूकारों को उपदेश दे कर उन्हें जैनधर्म का अनुरागी बनाया। एवं कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं सामाजिक विरोध को दूर करने का प्रयत्न किया।

शिष्य परिवार

कहा जाता है कि इनके १६ प्रधान एवं विद्वान् शिष्य थे। उनमें प्रसिद्ध साहित्यकार एवं प्रखर मंत्रशास्त्री आचार्य भुवनतुंगसूरि भी थे। इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना कर साहित्यश्री की समृद्धि की थी। अन्य शिष्यों में चन्द्रप्रभसूरि भी एक विद्वान् शिष्य थे। जिन्होंने चन्द्रप्रभस्वामिचरित्र की रचना की थी। कवि धर्ममुनि ने सं.१२६६ में जम्बूस्वामिचरित्र की रचना की। इस प्रकार महेन्द्रसिंहसूरि के कई प्रखर अध्ययनशील विद्वान् शिष्य हो गये जिन्होंने साहित्य जगत की अपूर्व सेवा की।

महान साहित्यकार

संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य के विकास में जिन विद्वानों ने अपनी महत्वपूर्ण कृतियों से असाधारण योगदान किया है उनमें आचार्य श्रीमहेन्द्रसूरिजी नाम सविशेष है। इन्होंने कई महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखकर साहित्य की अनुपम सेवा की है। अपने गुरु विद्वान् धर्माचार्य श्रीधर्मघोषसूरि के सान्निध्य में रहकर इन्होंने उच्चकोटि की विद्वत्ता प्राप्त की। आपके द्वारा रचित कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ ये हैं–

(१) **शतपदी प्रश्नोत्तरपद्धति**– आचार्यश्रीधर्मघोषसूरिजी द्वारा रचित शतपदी में कुछ विशेष प्रश्नों को मिलाकर कुछ क्रमपद्धति में परिवर्तन कर वि.सं. १२९४ में सुश्लिष्ट संस्कृत में शतपदी प्रश्नोत्तरपद्धति की रचना की। अंचलगच्छ की समाचारी को जानने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

(२) **अष्टोत्तरी तीर्थमाला**– आपने अपने जीवन काल में अनेक तीर्थों की यात्रा की। अपनी यात्रा के अनुभव के निचोड के रूप में अष्टोत्तरी तीर्थमाला नामक १११ श्लोक प्रमाण प्राकृत में ऐतिहासिक ग्रंथ की रचना की। यह तीर्थमाला अष्टोत्तरीस्तव के नाम से प्रकाशित भी हुआ है। इसी ग्रंथ पर आचार्य श्रीमहेन्द्रसिंहसूरि ने प्राकृत में ३००० श्लोकप्रमाण वृत्ति की भी रचना की।

(३–४)**आतुरप्रत्याख्यान तथा चतुःशरण प्रकीर्णक अवचूरि–** आचार्य श्रीमहेन्द्रसिंहसूरि ने आतुरप्रत्याख्यान तथा चतुःशरण पयन्ना पर अवचूरि की भी रचना की।

(५) **मनःस्थिरीकरण प्रकरण**– आचार्य श्रीमहेन्द्रसिंहसूरि ने मनःस्थिरीकरण प्रकरण नामक ग्रन्थ की रचना १२८४ में की। यह मूलग्रंथ १७० प्राकृत गाथा में रचा गया है। उस पर आपने २३०० श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना की। यह ग्रंथ पाठकों के हाथ में है।

(६) **विचारसप्ततिका**– इस ग्रंथ में बारह विचारों पर चर्चा की है। इस ग्रंथ की ८१ गाथा है। इस पर तपागच्छीय आ.श्रीदेवसूरिजी के शिष्य मुनि श्री विमलकुशल ने वृत्ति की रचना की है (वि.सं. १६५२)।

(७) **आयुःसारसंग्रह**– आचार्य श्रीमहेन्द्रसिंहसूरिजी ने वि.सं. १२८४ में प्राकृत में आयुःसारसंग्रह नामक ग्रंथ की रचना की है। यह लघुकृति ८२ गाथा प्रमाण है। इस में सभी जीवस्थानों में जघन्य आदि आयुष्यकर्म का विचार प्रस्तुत है। संभवतः यह कृति मनःस्थिरीकरण प्रकरण की पूरक कृति है। इसके अतिरिक्त

गुरुगुणषट्त्रिंशिका जैसे सुन्दर स्तोत्र साहित्य की भी आपने रचना की। आपने अन्य भी अनेक छोटे बडे ग्रन्थ की रचना कर साहित्य जगत की अपूर्व सेवा की।

स्वर्गवास

दीर्घकालीन संयम जीवन में आपने धार्मिक सामाजिक एवं साहित्य क्षेत्र में जो प्रदान किया है वह अमूल्य है। इस प्रकार आप विहार करते हुए अपने अंतिम चातुर्मास के लिए खंभात में विराजमान थे। वि.सं. १३०९ में पर्यूषण पर्व में कल्पसूत्र का वाचन करते करते पाट पर बैठे बैठे ही आप समाधिपूर्वक स्वर्गवासी हो गये[१]।

मनःस्थिरीकरणप्रकरण सार

प्रथम ग्रन्थकार मंगलाचरण करते हुए श्रीवर्द्धमान (महावीर भगवान) की वन्दना करते हैं[२]। पश्चात् कहते है कि यह मन हाथी के कान की तरह, उच्च शिखर स्थित ध्वज की तरह अत्यंत चंचल है। इस चंचल मन को स्थिर करने के लिए ही मैं इस ग्रन्थ की रचना करता हूँ। मनुष्य जन्म अत्यंत दुर्लभ है। दुर्लभ मानव भव में जिन धर्म को प्राप्त कर कर्म का नाश करने का उपाय करना चाहिए। कर्मनाश करने के आवश्यक स्वाध्याय, ध्यान, धर्म देशना आदि अनेक साधन हैं किन्तु कर्म को नाश करने का एक मात्र साधन ध्यानयोग ही है[३]।

ध्यान–

साधना के क्षेत्र में ध्यान का महत्व बहुत उँचा है। ध्यान की महिमा अपरंपार है। तीनों लोक में ऐसा कोई भी कार्य नही जो ध्यान के द्वारा साध्य न हो। ध्यान के प्रताप से ध्याता संसार के ताप, संताप, परिताप एवं समस्त पाप से मुक्ति पाता है। कहा भी है–

जह चिरसंचियमिंधणमणलो पवनसहिओ हुयं डहइ। तह कम्मिंधणममियं, खणेण झाणानलो डहइ ।।
जह वा घणसंघाया, खणेण पवणाहया विलिज्जंति। ज्झाणपवणावधूया, तह कम्मघणा विलिज्जंति ।।[४]

(ध्यानशतक १०१/१०२)

'जैसे लम्बे समय से संग्रहीत सूखी लकडी के ढेर को पवन सहित अग्नि जलाकर नष्ट कर देती है वैसे ही ध्यान रूपी अग्नि चिरकाल से संचित कर्म को नष्ट कर देती हैं। जैसे बादलों का समूह पवन से नष्ट हो जाता है वैसे ही ध्यान रूपी पवन से कर्म रूपी बादल नष्ट हो जाते हैं।'

ध्यान एक पाप रहित साधना है। इस साधना में जरा सा भी पाप का अंश नहीं होता। पाप क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि– ध्यान के काल में चित्तवृत्ति शान्त रहती है, अतः नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता। ध्यान करते समय किसी का भी अनिष्ट चिन्तन नहीं किया जाता, प्रत्युत सब जीवों के श्रेय के लिए विश्व कल्याण की भावना भाई जाती है, फलतः आत्मस्वभाव में रमण करते करते साधक अध्यात्म विकास की उच्च श्रेणियों पर चढता हुआ आत्मनिरीक्षण करने लग जाता है, तथा अशुद्ध व्यवहार, अशुद्ध उच्चार, अशुद्ध विचार के प्रति पश्चाताप करता है उनका त्याग करता है, अठारह पापों से अलग हो कर आत्म जागृति

१ संदर्भ – अंचलगच्छना इतिहासनी झलक पृ. ५६, २ संदर्भ–गाथा – १,
३ संदर्भ–गाथा – १, वृत्ति, ४ संदर्भ–गाथा – २, वृत्ति

के क्षेत्र में पवित्र ध्यान के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है। ध्यान से विशुद्ध हुआ आत्मा ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का सर्वथा नाश कर लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञान को प्राप्त कर अनन्त सुख शांति को प्राप्त करता है।

ध्यान की साधना के लिए प्रथम आवश्यक है- भावशुद्धि। भावशुद्धि से अभिप्राय है मन, वचन और शरीर की शुद्धि अर्थात् इनकी एकाग्रता। जब तक साधक मन, वचन और काया को एकाग्र नहीं करता तब तक वह ध्यान की प्रक्रिया में उत्क्रान्ति नहीं ला सकता। मन की गति बडी विचित्र है। एक प्रकार से जीवन का सारा भार ही मन के ऊपर पडा हुआ है। महाभारतकार कहते हैं-

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'।

'मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है।' वास्तव में यह बात है भी ठीक। मन का काम विचार करना है, फलतः आकर्षण-विकर्षण, कार्याकार्य, स्थितिस्थापकता आदि सब कुछ विचार शक्ति पर ही निर्भर है। और तो क्या? हमारा सारा जीवन ही विचार है। विचार ही हमारा जन्म है, मृत्यु है, उत्थान है, पतन है, स्वर्ग है, नरक है, सब कुछ है। विचारों का वेग अन्य सब वेगों की अपेक्षा अधिक तीव्र गतिमान होता है। आज-कल के विज्ञान का मत है कि प्रकाश का वेग एक सेकण्ड में १८००० मील है। विद्युत का वेग २८८००० मील है, जब की विचारों का वेग २२६५१२० मील है। उक्त कथन में अनुमान लगाया जा सकता है कि मनोजन्य विचारों का प्रवाह कितना तेज है।

विचारशक्ति के मुख्यतया दो भेद है। एक कल्पनाशक्ति और दूसरी तर्कशक्ति। कल्पनाशक्ति का उपयोग करने से मन में अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प उठने लगते हैं। मन चंचल और वेगवान हो जाता है किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं रहती। इन्द्रियों पर जिनका राजा मन है, जिन पर वह शासन करता है, स्वयं अपना नियंत्रण कायम नहीं रख सकता। जब मन चंचल हो उठता है, तो कर्मों का प्रवाह चारों ओर से अन्तरात्मा की ओर उमड पडता है। फलस्वरूप आत्मा दीर्घकाल तक कर्मफल से आबद्ध हो जाता है। मन की दूसरी शक्ति तर्कशक्ति है, जिसका उपयोग करने से कल्पनाशक्ति पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है। विचारों को व्यवस्थित बनाकर असत्संकल्पों का मार्ग छोडा जाता है, एवं सत्संकल्पों का मार्ग अपनाया जाता है। तर्कशक्ति के द्वारा पवित्र हुई मनोभूमि में ज्ञान एवं क्रियारूपी अमृत जल से सिंचन पाता हुआ समभाव रूपी कल्पवृक्ष बहुत ही शीघ्र फलशाली हो जाता है। राग, द्वेष, भय, शोक, मोह, माया आदि का अन्धकार कल्पना का अन्धकार है, और वह शुभ तर्कशक्ति का सूर्यउदय होते ही तथा अहिंसा, दया, सत्य, संयम, शील, संतोष आदि की किरणें प्रस्फुरित होते ही अपने आप ध्वस्त-विध्वस्त हो जाता है।

प्रश्न यह है कि- मन को नियन्त्रित कैसे किया जाय? मन का नियन्त्रण दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो उसकी गति का मार्ग परिवर्तन करने से और दूसरे उसे गतिहीन कर देने से। योग दर्शन में मन को गतिहीन बनाने का विधान है किन्तु मनस्थिरीकरण के लेखक आचार्य ऐसा नहीं मानते, उनका विश्वास मार्ग परिवर्तन पर ही है। उनका कहना है कि मन जब तक मन रूप में है, गतिशील ही रहेगा। उसे गतिहीन करना सम्भव नहीं है। वह कुछ न कुछ करता ही रहता है। अतः मन को वश में रखने का यही एक उपाय है कि- उसको दुर्ध्यान से हटाकर सद्ध्यान, सच्चिंतन की ओर लगा दिया जाय[1]।

---

१ कपिवच्च बहिर्विषयव्यापारं विना कदाचिदपि स्थिरं न भवति । ततः तज्जिनोपदेशरज्जुभिः सम्यग् नियम्य शुभध्यानारामे रमयितव्यमिति श्रुतोपदेशः ।

ध्यान का सामान्य अर्थ विचार है[1]। चित्त के द्वारा किसी विशेष शुद्ध रूप के चिन्तन करने को ध्यान कहते है। ध्यान में मुख्य तीन वस्तुएँ होती है- ध्याता, ध्येय और ध्यान। ध्यान करनेवाला 'ध्याता' होता है। ध्यान के लिए जिसका अवलम्बन किया जाता है वह 'ध्येय' होता है। और जो कुछ भी चिन्तन होता है, वह 'ध्यान' कहलाता है। ध्याता और ध्यान का मुख्य आधार ध्येय ही होता है अतः ध्येय का विचार किया जाता है।

ध्येय के चार प्रकार हैं- पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत[2]।

पिण्डस्थ- शान्त, कान्त एवं एकान्त स्थान में सिद्धासन आदि किसी श्रेष्ठ आसन से बैठकर पिण्डस्थ ध्यान ध्याया जाता है। पिण्ड यानी शरीर में विराजमान आत्मा रूप ध्येय का ध्यान पिण्डस्थ ध्यान होता है।

पदस्थ- दूसरा पदस्थ ध्यान है। यह पदों के द्वारा किया जाता है। अतः इसे पदस्थ कहते हैं। इसका कोई एक प्रकार नहीं है। साधक अपनी इच्छानुसार इसका संकल्प बना सकता है।

रूपस्थ- रूपस्थ की प्रक्रिया में महापुरुष तीर्थंकरों के भिन्न भिन्न संकल्पचित्र विचारे जाते हैं। महापुरुषों के संकल्प से आत्मा में दृढ साहस, पौरुष एवं आध्यात्मिक शक्ति का संचार होता है।

रूपातीत- रूपातीत का अर्थ है रूप से अतीत अर्थात् रूप रंग से सर्वथा रहित। यह अन्तिम प्रकार है। इसमें कर्ममल से रहित अशरीरी अजर, अमर, सिद्ध, भगवान के रूप में अपनी आत्मा का दृश्य विचारा जाता है। यहाँ पहुँचकर संकल्प करना चाहिए कि मैं देह नहीं हूँ क्यों कि देह दृश्यमान होता है, मैं दृष्टा हूँ। मैं इन्द्रिय भी नहीं हूँ, क्यों कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं, मैं अभौतिक हूँ। मैं प्राण नहीं हूँ क्यों कि प्राण अनेक है, मैं पूर्ण स्थिर हूँ। इस प्रकार विचार करते करते अपने आप को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्विकार, आनन्दरूप, ज्योतिर्मय विचारना चाहिए। यह रूपातीत ध्यान है।

आगम साहित्य में चार ध्यानों का भी उल्लेख आता है- आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यान[3]। आर्त और रौद्रध्यान नरकादि अनन्त संसार में परिभ्रमण का कारण होने से इसका साधक को त्याग करना चाहिए। जब तक साधक के मन पर आर्त और रौद्र ध्यान के दुःसंकल्प नहीं हटतें तब तक वह आत्म के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः साधक इन दुर्ध्यान से आत्मा को सदैव बचाकर रखें।

आत्मा को सर्वोच्च स्थिति पर पहुँचानेवाला ध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान है। धर्मध्यान के चार प्रकार है- आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

आज्ञा विचय- भगवान की आज्ञा क्या है? उसका हमारे जीवन से क्या सम्बन्ध है? भगवान की आज्ञाओं का आराधन कर हम अपने जीवन को पवित्र बना सकते हैं? दूसरे मत-प्रवर्तकों की वाणी की अपेक्षा जिनवाणी की क्या विशेषता है? आदि विचारों का तलस्पर्शी अध्ययन करना चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

अपायविचय- अपने में क्या क्या दोष रहे हुए है? क्रोध, मान, माया और लोभ का वेग कितना कम हुआ है कितना बाकी है? कर्म बन्धन क्यों होता है? इससे कैसे छुटकारा हो सकता है? दूसरे जीवों को भी पाप मार्ग से कैसे बचा सकता हूँ? यह विचार धारा अपायविचय है।

---

१ आवश्यक चूर्णि ४ अ./योगशास्त्र७.१/ज्ञानार्णव४.५, २ योगशास्त्र७.५.१, ३ स्थानांग ४.१.६

विपाकविचय- जीव सुखी किस कर्म से होता है और दुःखी किस कर्म से होता है? किस कर्म का क्या फल होता है? या फल तीव्र या मन्द क्यों कर हो सकता है? आदि गम्भीर विचार विपाकविचय कहलाता है।

संस्थानविचय- लोक का क्या स्वरूप है? नरक और स्वर्ग का क्या स्वरूप है? मुक्ति का क्या संस्थान है? जड और चेतन में क्या भेद है? पुद्गल शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ कैसे बदल जाता है? आदि विचार संस्थानविचय कहा जाता है।

चेतना की निरुपाधिक परिणति शुक्लध्यान है। उसके भी चार प्रकार है[१]-

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार, (२) एकत्व-वितर्क-अविचार,

(३) सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति, (४) समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार : एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायों का पृथक् पृथक् रूप के विस्तारपूर्वक पूर्वगत श्रुत के अनुसार द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयों से चिन्तन करना पृथक्त्ववितर्कसविचार है। यह ध्यान विचार सहित होता है। विचार का स्वरूप है अर्थ, व्यञ्जन(शब्द) एवं योगों में संक्रमण। अर्थात् इस ध्यान में अर्थ से शब्द में और शब्द से अर्थ में और शब्द से शब्द में, अर्थ में एवं योग से दूसरे योग में संक्रमण होता है। पूर्वगत श्रुत के अनुसार विविध नयों से पदार्थों के पर्यायों का भिन्न भिन्न रूप से चिन्तन रूप यह शुक्ल ध्यान पूर्वधर को होता है और मरुदेवी माता की तरह जो पूर्वधर नहीं है, उन्हें अर्थ, व्यञ्जन एवं योगों में परस्पर संक्रमण रूप यह शुक्लध्यान होता है।

(२) एकत्व-वितर्क-अविचार : जब एक द्रव्य के किसी भी पर्याय का अभेद दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्वश्रुत का आलम्बन लिया जाता है वह एकत्व वितर्क है। इस ध्यान में अर्थ, व्यञ्जन एवं योगों का संक्रमण नहीं होता । निर्वात गृह में रहे हुए दीपक की तरह इस ध्यान में चित्त विक्षेप रहित अर्थात् स्थिर रहता है।

(३) सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति : निर्वाण गमन के पूर्व केवली भगवान मन, वचन, योगों का निरोध कर लेते है और अर्द्ध काय योग का भी निरोध कर लेते हैं। उस समय केवली के कायिकी उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। परिणामों के विशेष बढे चढे रहने से यहाँ से केवली पीछे नहीं हटते। यह तीसरा सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान है।

(४) समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति : शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली सभी योगों का निरोध कर लेता है। योगों के निरोध से सभी क्रियाएँ नष्ट हो जाती है। यह ध्यान सदा बना रहता है इसलिए इसें समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान कहते हैं। प्रथम ध्यान सभी योगों में रहता है। द्वितीय ध्यान किसी एक ही योग में होता है। तृतीय ध्यान केवल काययोग में होता है। चौथा ध्यान अयोगी को ही होता है।

छद्मस्थ के मन को निश्चल करना ध्यान कहलाता है। शुक्ल ध्यान पूर्वधर एवं विशिष्ट संहनन वाले ही कर सकते है। अतः यहाँ धर्मध्यान का ही विचार करना चाहिए। ध्यान के लिए निम्नलिखित बातें उपयोगी हो सकती है।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र - ९.४.१, ध्यानशतक - ७७/७८

स्थान शुद्धि : सर्वप्रथम तो जहाँ ध्यान करना हो वह स्थान पवित्र वातावरण से शुद्ध होना चाहिए। जहाँ बालक कोलाहल करते रहते हो; स्त्री, पुरुष, पशु आदि से युक्त हो; मक्खी, मच्छर, सर्प आदि से युक्त हो वह स्थान ध्यान के लिए अयोग्य माना गया है। ध्यान के लिए एकान्त-शान्त स्थान होना चाहिए।

समय : यद्यपि कोई समय निश्चित नहीं है फिर भी ध्यान के लिए प्रभात का समय सुन्दर माना गया है। यदि प्रभातकाल में न हो सके तो सायंकाल में या मध्यरात्रि के समय शान्त वातावरण में ध्यान करने से चित्त की प्रसन्नता बढती है।

आसन : योग के अंगों में से आसन तीसरा अंग माना गया है। दृढ आसन का मन पर बडा प्रभाव होता है। आसन की अस्थिरता से मन भी अस्थिर रहता है। अतः ध्यान के लिए सिद्धासन, पद्मासन या पर्यंकासन सब से श्रेष्ठ माना गया है। पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुखकर के काष्ठ पट्टिका या शुभ पवित्र आसन पर पद्मासन या पर्यंकासन से ध्यान करना चाहिए[१]।

ध्यान का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्राचीन आचार्यों ने ध्यान के अनेक प्रकार हमारे सामने रखे है जिनके द्वारा हम अपने चंचल मन को वश में कर सकतें हैं। विचारों के एकीकरण तथा पवित्रीकरण का सर्वश्रेष्ठ साथ ही सरल साधन है धर्मतत्त्व का चिन्तन। तत्त्वों के चिन्तन से मन की स्थिरता, चित्त की शुद्धि एवं ज्ञान की वृद्धि होती है। ग्रन्थकर्ता ध्याता को क्या चिन्तन करना चाहिए उसे विस्तृत रूप से बतातें हैं। प्रथम ध्याता तत्त्व का चिन्तन करें[२]।

तत्त्व की परिभाषा

प्रश्न होता है, जिसे हम 'तत्त्व' शब्द से पुकारते हैं वह तत्त्व क्या है? 'तस्य भावस्तत्त्वम्'। 'तत्' शब्द सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थ का बोधक है। अतः इसके अनुसार वस्तु को तत्त्व कहा जाता है। अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप में विद्यमान है उसका उस रूप में होना यही तत्त्व शब्द का अर्थ है। शब्द शास्त्र के अनुसार प्रत्येक सद्भूत वस्तु को तत्त्व शब्द से सम्बोधित किया जाता है। जैनाचार्यों ने शब्द शास्त्र की अपेक्षा से तत्त्व शब्द की अधिक व्याख्या करते हुए कहा है-

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्[३]।

तत्त्व का लक्षण सत् है अथवा सत् ही तत्त्व है। इसलिए वह स्वभाव से सिद्ध है। किसी भाव यानी सत् का कभी नाश नहीं होता है और असत् की उत्पत्ति नहीं होती है। इसीलिए आकाशकुसुम की तरह जो सर्वथा असत् है वह तत्त्व नहीं हो सकता। स्वयं भगवतीसूत्रकार कहते है-'**सद्दव्वं वा**'। अर्थात् द्रव्य(तत्त्व) का लक्षण सत् है। यह सत् स्वतः सिद्ध है और नवीन अवस्थाओं की उत्पत्ति एवं पुरानी अवस्थाओं का विनाश होते रहने पर भी अपने स्वभाव का कभी परित्याग नहीं करते है। वाचक मुख्य उमास्वाति ने सत् की व्याख्या करते हुए कहा है-**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**[४]।

यानी जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात् तदात्मक है, उसे सत् कहते हैं। भगवान महावीर की वाणी में सत् के स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार की है-

---

१ संदर्भ-गाथा - ३ वृत्ति । २ संदर्भ-गाथा - २ । ३ तत्त्वार्थसूत्र वृत्ति
४ तत्त्वार्थसूत्र - ५.२९

उप्पन्ने ई वा निगमे ई वा धुवे ई वा[1]।

उत्पन्न होने वाले, नष्ट होने वाले और ध्रुव रहने वाले को सत् कहते हैं। इसीलिए सत् की न तो आदि है और न अन्त है। उसका न तो कभी नाश होता है और न कभी नया उत्पन्न होता है। वह सदैव तीनों कालों में विद्यमान रहता है। यही तत्त्व है।

तत्त्वों की संरचना

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ तत्त्व हैं। नौ तत्त्वों में सब से पहला तत्त्व जीव है । उसके २५ स्थान है । वे ये हैं- (१) जीवस्थानक (२) गुणस्थानक (३) योग (४) उपयोग (५) तनु (६) लेश्या (७) दृष्टि (८) पर्याप्ति (९) प्राणः (१०) आयुष्क (११) आगति (१२) गति (१३) कुलकोडि (१४) योनिलक्ष (१५) वेद (१६) कार्यस्थिति (१७) संहनन (१८) संस्थान (१९) अवगाहना (२०) मूलप्रकृतिबन्ध (२१) उत्तरप्रकृतिबन्ध (२२) समुद्घात (२३) कर्मबन्ध मूलहेतु (२४) उत्तरहेतु (२५) कषाय। इन जीवतत्त्व के २५ स्थानों का ध्यान करना चाहिए।

	स्थान	प्रकार	नाम
१	जीवस्थानक	१४	जीव और उसके भेद
२	गुणस्थानक	१४	मिथ्यात्व गुणस्थानादि
३	योग	१५	मन, वचन, काया आदि
४	उपयोग	१२	साकार, अनाकार उपयोगादि
५	शरीर	५	औदारिकादि
६	लेश्या	६	कृष्ण, नीलादि
७	दृष्टि	३	सम्यग्, मिथ्या, मिश्रादि
८	पर्याप्ति	६	आहार, शरीरादि
९	प्राण	१०	श्रोत्रादि
१०	आयु	३	जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टादि
११	आगति	४	देव, नारक, मनुष्यादि
१२	गति	५	देव, नारकादि
१३	कुल कोडि		
१४	योनि		८४ लक्ष
१५	वेद	३	स्त्री, पुरुष, नपुंसक
१६	कायस्थिति	३	जघन्य, उत्कृष्टादि
१७	संहनन	६	वज्रऋषभनाराचादि

१ आवश्यकनिर्युक्तिमलयगिरिटीका

१८	संस्थान	६	समचतुरस्रादि
१९	अवगाहना	३	जघन्य, उत्कृष्टादि
२०	मूलप्रकृति	८	ज्ञानावरणादि
२१	उत्तरप्रकृति	१२०	मतिज्ञानावरणादि
२२	समुद्धात	७	वेदनादि
२३	कर्मबन्ध के मूल हेतु	४	मिथ्यात्वादि
२४	कर्मबन्ध के हेतु उत्तरभेद	५७	आभिग्रहिक मिथ्यात्वादि
२५	कषाय	४	क्रोधादि

(१) **जीवस्थान** : प्रथम जीव का विचार करें। जो चार प्राणों (इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास) से जीता है उसे जीव कहते हैं। सत्त्व, भूत, प्राणी, आत्मा आदि भी जीव के एकार्थवाची- पर्यायवाची दूसरे नाम है। लेकिन इन सब का सारांश यही है कि जिसमें ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोग है वह जीव है। जीवके १४ प्रकार ये हैं-सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय। इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चौदह भेद होते हैं। पृथ्वीकाय आदि जिन जीवों को सूक्ष्म नाम कर्म का उदय होता है वे सूक्ष्म कहलाते हैं। ये सूक्ष्म जीव आखों से दिखाई नहीं देते। जो जीव हमें दृष्टिगोचर हो सकते हैं वे बादर कहलाते है। बादर एकेन्द्रिय जीव तो संसार के किसी किसी भाग में ही होते है लेकिन सूक्ष्म जीवों से तो यह समस्त लोक काजल की डिबियां में भरे हुए सुरमे की तरह खचाखच भरा हुआ है।

एकेन्द्रिय जीवों को सिर्फ एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है। एकेन्द्रिय जीवों के पांच प्रकार है- पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा वनस्पति। इनके सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त ये चार भेद है। एकेन्द्रिय जीव अपने हिताहित के लिए प्रवृत्ति- निवृत्ति के निमित्त हलन-चलन करनें में समर्थ नहीं है अतः उन्हें स्थावर कहते हैं। ये जीव असंज्ञी (मनरहित) होते हैं। द्वीन्द्रिय जीवों को स्पर्शन और रसन यह दो इन्द्रियाँ होती हैं। त्रीन्द्रिय जीवों को स्पर्शन, रसन, और घ्राण यह तीन इन्द्रियाँ होती हैं। चतुरिन्द्रिय जीवों को स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ होती है। देव, मनुष्य, नारक एवं पशु, पक्षी आदि गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय हैं , तथा समनस्क है। शेष अमनस्क है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय के जलचर, स्थलचर और खेचर आदि भी भेद पाये जाते हैं। इस प्रकार ध्याता जीव के भेद-प्रभेद का चिन्तन कर जीवों के १४ गुणस्थानों का विचार करें।

(२) गुणस्थान : गुणों(आत्मशक्तियों) के स्थानों अर्थात् क्रमिक विकास की अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। इसके १४ प्रकार हैं-

१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान : मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जिस अवस्था में जीव की दृष्टि (श्रद्धा या ज्ञान) मिथ्या(उल्टी) होती है उसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं। जैसे धतूरे के बीज को खानेवाले अथवा **पीलिया** रोगवाले को सफेद चीज भी पीली दिखाई देती है अथवा पित्त के प्रकोपवाले रोगी को मिसरी भी कडवी लगती है। इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव कुदेव में देवबुद्धि, कुगुरु में गुरुबुद्धि और कुधर्म में धर्मबुद्धि रखता है। जीव की इस अवस्था को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न- मिथ्यात्वी जीव के स्वरूपविशेष को गुणस्थान कैसे कह सकते हैं? क्यों कि उसकी दृष्टि मिथ्या (अयथार्थ) है। तब उसका स्वरूप-विशेष भी विकृत अर्थात् दोषात्मक हो जाता है।

उत्तर- यद्यपि मिथ्यात्वी की दृष्टि सर्वथा यथार्थ नहीं होती फिर भी वह किसी अंश में यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूप से जानता तथा मानता है। इसीलिए उसके स्वरूपविशेष को गुणस्थान कहा जाता है। जिस प्रकार सघन बादलों का आवरण होने पर भी सूर्य की प्रभा सर्वथा नहीं छिपती किन्तु कुछ न कुछ खुली रहती है जिससे कि दिनरात का विभाग किया जा सके। इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होने पर भी जीव का दृष्टि गुण सर्वथा आवृत्त नहीं होता। अत एव किसी न किसी अंश में मिथ्यात्वी की दृष्टि भी यथार्थ होती है।

प्रश्न- जब मिथ्यात्वी की दृष्टि किसी भी अंश में यथार्थ हो सकती है, तब उसे सम्यग् दृष्टि कहने या मानने में क्या दोष है ?

उत्तर- एक अंश मात्र की यथार्थ प्रतीति होने मात्र से जीव सम्यग् दृष्टि नहीं कहा जाता, क्यों कि शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि- जो जीव सर्वज्ञ के कहे हुए बारह अंगों पर श्रद्धा रखता हैं परन्तु उन अंगों के किसी एक अक्षर पर विश्वास नहीं करता, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है, जैसे जमालि। मिथ्यावादी की अपेक्षा सम्यक्त्वी जीव में यह विशेषता है कि सर्वज्ञ के कथन पर सम्यक्त्वी का विश्वास अखंडित रहता है, किन्तु मिथ्यात्वी का नहीं रहता।

२) सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान : जो जीव औपशमिक सम्यक्त्ववाला है परन्तु अनन्तानुबन्धि कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोडकर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, वह जीव जब तक मिथ्यात्व प्राप्त नहीं करता तब तक सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। इसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छ आवलिका है। इस गुणस्थान में यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है तथापि जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करनेवाले मनुष्य को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव में आता है इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व की ओर झुके हुए जीव को भी कुछ काल के लिए सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव में आता है। अत एव इस गुण स्थान को सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व- अनन्तानुबन्धि चार कषाय और दर्शन मोहनीय के उपशम से प्रकट होनेवाला तत्त्वरुचिरूप आत्मपरिणाम औपशमिक सम्यक्त्व है। इसके दो भेद है- ग्रन्थिभेद जन्य और उपशमश्रेणी भावी। ग्रन्थि भेदजन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीवों को होता है। इसके प्राप्त होने की प्रक्रिया इस प्रकार है।

जीव अनादिकाल से संसार मे घूम रहा है और तरह तरह के दुःख उठा रहा है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी में पडा हुआ पत्थर लुढकते लुढकते इधर उधर टक्कर खाता हुआ गोल और चिकना बन जाता है। इसी प्रकार जीव भी अनन्तकाल से दुःख सहते सहते कोमल और शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम शुद्धि के कारण जीव आयुकर्म से अतिरिक्त शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्योपम की असंख्यातवां भाग कम एक कोडा कोडी सागरोपम जितनी कर देता है। इसी परिणाम को शास्त्र में यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरणवाला जीव राग-द्वेष की मजबूत गाँठ के पास तक पहुँच जाता है किन्तु उसे भेद नहीं सकता। इसी को ग्रन्थिदेश प्राप्ति कहते है। कर्म और राग-द्वेष की यह गाँठ क्रमशः दृढ और गूढ रेशमी गाँठ के समान दुर्भेद है। यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीवों को भी हो सकता है। वे कर्मों की स्थिति को कोडाकोडी सागरोपम

के अन्दर करके ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उसे भेद नहीं सकते। भव्य जीव जिस परिणाम से राग–द्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को तोडकर लांघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र में अपूर्वकरण कहते हैं। इस प्रकार का परिणाम जीव को बार बार नहीं आता, कदाचित् ही आता है इसीलिए इसे अपूर्वकरण कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण तो अभव्यों को भी अनन्त बार आता है किन्तु अपूर्वकरण तो भव्य जीवों को भी अधिक बार नहीं आता।

अपूर्वकरण द्वारा राग–द्वेष की गांठ टूटने पर जीव के परिणाम अधिक शुद्ध हो जाते हैं, उस समय अनिवृत्तिकरण होता है। इस परिणाम को प्राप्त करने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना नहीं लौटता। इसीलिए इसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। उस समय जीव की शक्ति और बढ जाती है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसका एक भाग शेष रहने पर अन्तरकरण की क्रिया शुद्ध होती है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में मिथ्यात्व मोहनीय के कर्म दलिकों को आगे पीछे कर दिया जाता है कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आनेवाले कर्म दलिकों के साथ कर दिया जाता है। और कुछ के अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद उदय में आनेवाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक मुहूर्त प्रमाण काल ऐसा हो जाता है कि जिसमें मिथ्यात्व मोहनीय का कोई कर्मदलिक नहीं रहता। अत एव जिसका अबाधाकाल पूरा हो चूका है ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो भाग हो जाते हैं। एक विभाग वह जो अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उदय में रहता है और दूसरा वह जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक मुहूर्त बीतने पर उदय में आता है। इनमें से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथमस्थिति और दूसरे को मिथ्यात्व की द्वितीया स्थिति कहते हैं। अन्तरकरण क्रिया के प्रारम्भ होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है पीछे नहीं रहता। अनिवृत्तिकरण बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को स्पष्ट या असंदिग्ध प्रतीति होने लगती है, जैसे जन्मान्ध पुरुष को नेत्र मिलने पर मिथ्यात्व रूप महान रोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है जैसा किसी पुराने और भयंकर रोगी को स्वस्थ हो जाने पर होता है। उस समय तत्त्वों पर श्रद्धा दृढ हो जाती है।

औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, क्योंकि इसके बाद मिथ्यात्व मोहनीय के वे पुद्गल जिन्हें अन्तरकरण के समय अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय होनेवाले बताया है, वे उदय में आ जाते हैं या क्षयोपशम रूप में परिणत कर दिये जाते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा कहते है। अर्थात् उपशान्ताद्धा के पूर्वसमय में जीव विशुद्धपरिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है जो औपशमिक सम्यक्त्व के बाद उदय में आनेवाला होता है। वह पहला भाग शुद्ध, दूसरा भाग अर्द्धशुद्ध और तीसरा अशुद्ध रह जाता है। इसी द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्व मोहनीय के तीन पुञ्जों में से एक पुंज इतना शुद्ध हो जाता है कि उस में सम्यक्त्वघातक रस नहीं रहता। जिस प्रकार कोद्रव धान्य को औषधियों से साफ करने से वह इतना शुद्ध हो जाता है कि खानेवाले को बिलकुल नशा नहीं आता। दूसरा पुंज आधा शुद्ध और तीसरा अशुद्ध ही रह जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार उक्त तीन पुंजो में से कोई एक उदय में आता है। शुद्ध पुंज के उदय से सम्यक्त्व का घात नहीं होता अतः उस समय प्रकट होनेवालों सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जीव के परिणाम अर्द्धविशुद्ध रहने पर दूसरे पुंज का उदय होता है और जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध पुंज का उदय होता है और उस समय जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा में जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द हो जाता है। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छ आवलिकाएँ बाकी रहने पर किसी किसी औपशमिक सम्यक्त्ववाले जीव के चढते परिणामों में विघ्न पड जाता है अर्थात् उसकी शान्ति भंग हो जाती है। उस समय अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से जीव सम्यक्त्व परिणाम को छोडकर मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छ आवलिकाओं तक सास्वादन भाव का अनुभव करता है। उस समय जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहा जाता हैं। औपशमिक सम्यक्त्ववाला जीव ही सास्वादन सम्यग्दृष्टि हो सकता है दूसरा नहीं।

३) सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान-मिश्रमोहनीय के उदय से जब जीव की दृष्टि कुछ सम्यग्(शुद्ध) और कुछ मिथ्या (अशुद्ध) रहती है उसे सम्यग्-मिथ्यादृष्टि कहा जाता है और जीव की इस अवस्था को सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न रहने से आत्मा में शुद्धता एवं मिथ्यात्व मोहनीय का उदय रहने से अशुद्धता रहती है। जैसे गुड मिले हुए दही का स्वाद कुछ मीठा ओर कुछ खट्टा रहता है। इसी प्रकार इस अवस्था में जीव की श्रद्धा कुछ सच्ची तथा कुछ मिथ्या होती है। उस समय जीव किसी बात पर दृढ होकर विश्वास नहीं करता। इस गुणस्थान के समय बुद्धि में दुर्बलता सी आ जाती है। इस कारण से जीव सर्वज्ञ के द्वारा कहे गये तत्त्वों पर न तो एकान्त रुचि रखता है और न एकान्त अरुचि। जिस प्रकार नारिकेल द्वीप निवासी पुरुष ओदन(भात) के विषय में न रुचि रखते हैं न अरुचि, जिस द्वीप में प्रधानतया नारियल पैदा होते हैं, वहाँ के निवासियों ने चावल आदि अन्न न तो देखा है और न सुना है। इससे पहले बिना देखे और बिना सुने अन्न को देखकर वे न तो रुचि करते हैं और न अरुचि। किन्तु समभाव रखते हैं इसी प्रकार सम्यग्-मिथ्यादृष्टि जीव भी सर्वज्ञ कथित मार्ग पर प्रीति या अप्रीति कुछ न कर के समभाव रखता है। इस प्रकार की स्थिति अन्तमुहूर्त की रहती है। इसके बाद सम्यक्त्व या मिथ्यात्व इन दोनों में से कोई प्रबल हो जाता है, अत एव तीसरे गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मानी गई है।

४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान- सावद्य व्यापारों को छोड देना अर्थात् पापजन्य व्यापारों से अलग हो जाना विरति है। चारित्र और व्रत विरति का नाम है। जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टि है और उसका स्वरूप विशेष अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव व्रत नियमादि को यथावत् जानते हुए भी स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते क्यों कि उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय चारित्र के ग्रहण तथा पालन को रोकता है। अविरत सम्यग्दृष्टि कोई जीव औपशमिक सम्यक्त्व वाले होते हैं और कोई क्षायिक सम्यक्त्व वाले होते हैं।

५) देशविरति गुणस्थान- प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो जीव पापजनक क्रियाओं से सर्वथा निवृत्त न हो कर एकदेश से निवृत्त होते हैं वे देशविरत या श्रावक कहलाते हैं। ऐसे जीवों के स्वरूप को देशविरत गुणस्थान कहते हैं।

६) प्रमत्त संयत गुणस्थान- जो जीव पापजनक व्यापारों से सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं वे संयत(मुनि) है। संयत भी जब तक प्रमाद को सेवन करते हैं तब तक प्रमत्त संयत कहलाते हैं। और उनका स्वरूप विशेष प्रमत्त संयत गुणस्थान है। संयती को सावद्य व्यापार का सर्वथा त्याग होता है। वे संवासानुमति का भी सेवन

नहीं करते। छठे गुणस्थान से लेकर आगे किसी गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता इसीलिए यहाँ सर्वसावद्य व्यापार का सर्वथा त्याग होता है।

७) अप्रमत्त संयत गुणस्थान- जो मुनि निद्रा, विषय, कषाय, विकथा आदि प्रमादों का सेवन नहीं करते वे अप्रमत्त संयत है और उनका स्वरूप विशेष अप्रमत्त संयत गुणस्थान है। प्रमाद सेवन से ही आत्मा उत्तरोत्तर शुद्ध होने लगता है। सातवें गुणस्थान से लेकर आगे सभी गुणस्थानों में वर्तमान मुनि प्रमाद का सेवन नहीं करते। वे अपने स्वरूप में सदा जागृत रहते हैं।

८) निवृत्ति बादर गुणस्थान- जिस जीव के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये चारों कषाय निवृत्त हो गये हैं उसके स्वरूप विशेष को निवृत्ति (नियट्टी) बादर गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं- उपशमश्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणीवाला जीव मोहनीय की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता हैं और क्षपक श्रेणीवाला जीव दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थान में जाकर अप्रतिपाती हो जाता है।

जो जीव आठवें गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं, जो प्राप्त कर रहे हैं और जो प्राप्त करेंगे उन सभी जीवों के अध्यवसाय स्थानों (परिणाम भेदों) की संख्या असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के तुल्य है। इस प्रकार दूसरे तीसरे आदि प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी गणना में असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर ही हैं।

यद्यपि आठवें गुणस्थान में रहनेवाले तीनों कालों के जीव अनन्त है तथापि उनके अध्यवसाय असंख्यात ही होते हैं। आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच अपूर्व वस्तुओं का विधान करता है। जैसे- स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण और अपूर्व स्थितिबन्ध। स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस आठवें गुणस्थान का दूसरा नाम अपूर्वकरण गुणस्थान भी प्रसिद्ध है।

९) अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान- संज्वलन क्रोध, मान और माया कषाय से जहाँ निवृत्ति न हुई हो ऐसी अवस्था विशेष को अनिवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। नवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव दो प्रकार के होते हैं- एक उपशमक और दूसरा क्षपक। जो चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करते हैं वे उपशमक कहलाते हैं। जो चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय करते हैं वे क्षपक कहलाते हैं।

१०) सूक्ष्म संपराय गुणस्थान- इस गुणस्थान में सम्पराय अर्थात् लोभ कषाय से सूक्ष्म खण्डों का ही उदय रहता है। इस गुणस्थान के जीव भी उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार के होते हैं। संज्वलन लोभकषाय के सिवाय बाकी कषायों का उपशम या क्षय तो पहले ही हो जाता है। इसलिए दसवें गुणस्थान में जीव संज्वलन लोभ का उपशम या क्षय करता है। उपशम करनेवाला जीव उपशमक तथा क्षय करनेवाला जीव क्षपक कहलाता है।

११) उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान- जिनके कषाय उपशान्त हुए हैं, जिन को राग अर्थात् माया और लोभ का भी बिलकुल उदय नहीं है और जिनको छद्म आवरण भूत घातीकर्म लगे हुए हैं वे जीव उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ कहलाते है और उनके स्वरूप को उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी गई है।

क्षपक श्रेणी के बिना कोई जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। ग्यारहवें गुणस्थान में उपशम श्रेणीवाला ही जाता है इसलिए वह अवश्य गिरता है। एक जन्म में दो बार से अधिक उपशम श्रेणी नहीं की जा सकती। क्षपक श्रेणी तो एक ही बार होती है। जिसने एक बार उपशम श्रेणी की है वह उसी जन्म में क्षपक श्रेणी द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है परन्तु जो दो बार उपशम श्रेणी कर चुका है वह फिर उसी जन्म में एक ही श्रेणी कर सकता है। अत एव जिसने एक बार उपशम श्रेणी की है वह फिर उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता।

उपशम श्रेणी के आरम्भ का क्रम इस प्रकार है- चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले चार अनन्तानुबन्धी कषायों का उपशम करता है। इसके बाद अन्तर्मुहूर्त में एक साथ दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियों का उपशम करता है। इसके बाद वह जीव छठे तथा सातवें गुणस्थान में होकर नवें गुणस्थान को प्राप्त करता है और नवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का उपशम शुरु करता है। सब से पहले वह नपुंसक वेद का उपशम करता है। इसके बाद स्त्रीवेद का उपशम करता है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया इन सब प्रकृतियों का उपशम नवें गुणस्थान के अन्त तक करता है। संज्वलन लोभ को दसवें गुणस्थान में उपशान्त करता है।

१२- क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान- जिस जीव ने मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया है किन्तु शेष छद्म(घाती कर्म) अभी विद्यमान हैं उसे क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं और उसके स्वरूप को क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है। इसे क्षपक श्रेणीवाले जीव ही प्राप्त करते हैं।

क्षपक श्रेणी का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है- जो जीव क्षपक श्रेणी करनेवाला होता है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक के किसी भी गुणस्थान में सब से पहले अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का एक साथ क्षय करता है। इसके बाद अनन्तानुबन्धी कषाय के अवशिष्ट अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व में डाल कर दोनों का एक साथ क्षय करता है। इसके बाद मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय का क्षय करता है। आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के क्षय का प्रारंभ करता है। इन आठ प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से पहले ही नवें गुणस्थान को प्रारंभ कर देता है और उसी समय नीचे लिखी १६ प्रकृतियों का क्षय करता है। (१) निद्रानिद्रा (२) प्रचलाप्रचला (३) स्त्यानगृद्धि (४) नरकगति (५) नरकानुपूर्वी (६) तिर्यंचगति (७) तिर्यंचानुपूर्वी (८) एकेन्द्रियजाति नामकर्म (९) द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म (१०) त्रीन्द्रियजाति नामकर्म (११) चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म (१२) आतप (१३) उद्योत (१४) स्थावर (१५) सूक्ष्म (१६) साधारण । इनके बाद अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के बाकी बचे हुए भाग का क्षय करता है। तदनन्तर क्रम से नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य आदि छ, पुरुषवेद, संज्वलन लोभ का दसवें गुणस्थान में क्षय करता है।

१३) सयोगी केवली गुणस्थान- जिन्होनें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय चार घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है उनको सयोगी केवली कहते हैं और उनके स्वरूप विशेष को सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं।

योग का अर्थ है- आत्मा की प्रवृत्ति या व्यापार। इसके तीन भेद हैं- मनोयोग, वचनयोग और काययोग। किसी को मन से उत्तर देने में केवली भगवान को मन का उपयोग करना पडता है। जिस समय कोई

मनःपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव भगवान को शब्द द्वारा न पूछकर मन से ही पूछता है उस समय केवली भगवान भी उस प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करनेवाला मनःपर्यायज्ञानी भगवान द्वारा मन में सोचे हुए उत्तर को प्रत्यक्ष जान लेता है और अवधिज्ञानी उस रूप में परिणत हुए मनोवर्गणा के परमाणुओं को देखकर मालूम कर लेता है। उपदेश देने के लिए केवली भगवान वचन का उपयोग करते हैं। हलन चलन आदि क्रियाओं में काययोग का उपयोग करते हैं।

१४) अयोगी केवली गुणस्थान– जो केवली भगवान योगों से रहित हैं वे अयोगी कहे जाते हैं। उनके स्वरूप विशेष को अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं।

तीनों प्रकार के योग का निरोध करने से अयोगी अवस्था प्राप्त होती है। केवली भगवान सयोगी अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड पूर्व तक रहते हैं। इसके बाद जिस केवली के आयुकर्म की स्थिति और प्रदेश कम रह जाते हैं तथा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति और प्रदेश आयुकर्म की अपेक्षा अधिक बच जाते हैं वे केवलीसमुद्घात करते हैं। केवलीसमुद्घात के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति आयु के बराबर कर लेते हैं। जिन केवलियों के वेदनीय आदि उक्त तीन कर्म की स्थिति तथा परमाणुओं में आयुकर्म के बराबर होते हैं वे समुद्घात नहीं करते।

सभी केवलज्ञानी सयोगी अवस्था के अन्त में एक ऐसे ध्यान के लिए योगों का निरोध करते हैं जो परम निर्जरा का कारण, लेश्या से रहित तथा अत्यन्त स्थिरता रूप होता है। योग के निरोध का क्रम इस प्रकार है– पहले बादर काययोग से बादर मनोयोग तथा बादर वचनयोग को रोकते हैं। इसके बाद सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोकते हैं और फिर उसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग तथा सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। अन्त में केवली भगवान सूक्ष्मक्रियाअनिवृत्ति शुक्लध्यान के बल से सूक्ष्म काययोग को भी रोकते हैं। इस प्रकार सब योगों का निरोध हो जाने से केवलज्ञानी भगवान अयोगी बन जाते हैं। और सूक्ष्मक्रियाअनिवृत्ति शुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर की पोले भाग को अर्थात् मुख, उदर आदि को आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। इसके बाद अयोगी केवली भगवान समुच्छिन्नक्रियाअप्रतिपाती शुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं और मध्यम रीति से पाँच ह्रस्व स्वर अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय का शैलेशीकरण करते हैं। सुमेरु पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व संवर रूप योगनिरोध अवस्था को शैलेशी कहते हैं। शैलेशी अवस्था में वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म की गुणश्रेणी से और आयुकर्म की यथास्थित श्रेणी से निर्जरा करना शैलेशीकरण है। शैलेशीकरण को प्राप्त करके अयोगी केवलज्ञानी उसके अन्तिम समय में वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार भवोपग्राही (जीव को संसार में बान्ध कर रखनेवाले) कर्मों को सर्वथा क्षय करके देते हैं। उस समय उनके आत्म प्रदेश इतने संकुचित हो जाते हैं कि वे उनके शरीर के २/३ भाग में समा जाते हैं। उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एक समय में ऋजु गति से ऊपर की ओर सिद्धिक्षेत्र में चले जाते हैं।

सिद्धिक्षेत्र लोक के अग्रभाग पर स्थित है। इसके आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती। इसका कारण यह है कि आत्मा को या पुद्गल को गति करनें में धर्मास्तिकाय की अपेक्षा होती है और लोक के आगे इसका अभाव है। कर्ममल के हट जाने से शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्वगति इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि मिट्टी के लोपों से युक्त तुम्बा लेपों के हट जाने से जल पर चला जाता है[१]।

---

१ संदर्भ–गाथा – १५ वृत्ति

बादर एकेन्द्रिय, असंज्ञि पंचेन्द्रिय और तीन विकलेन्द्रिय इन पाँच अपर्याप्त जीवस्थानों में दो गुणस्थान कहे गये है। पर इस विषय में यह जानना चाहिये कि दूसरा गुणस्थान करण-अपर्याप्त में होता है, लब्धि-अपर्याप्त में नहीं, क्यों कि सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव लब्धि अपर्याप्त रूप से पैदा होता ही नही। इसलिए करण-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि उक्त पाँच जीव स्थानों में दो गुणस्थान और लब्धि अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि पाँचों में पहला ही गुणस्थान है यह मान्यता कर्मग्रंथ की है। सिद्धान्त में एकेन्द्रिय को पहला ही गुणस्थान माना है[1] । इसके पश्चात् साधक १५ योगों का चिन्तन करें।

(३) योग-(१५) मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या उपशम से मन-वचन और कायवर्गणा के पुद्गलों का आलम्बन लेकर आत्म प्रदेशों में होनेवाले परिस्पंद, कंपन या हलन-चलन को भी योग कहते हैं। आलम्बन के भेद से इनके तीन प्रकार है- मन, वचन और काया। इन में मन के चार वचन के चार और काया के सात इस प्रकार कुल पंद्रह भेद हो जाते हैं। प्रज्ञापना सूत्र में योग के स्थान पर प्रयोग शब्द है। इन्हीं को प्रयोगगति भी कहा जाता है।

१) सत्य मनोयोग- मन का जो व्यापार सत् अर्थात् सज्जन पुरुष या साधु पुरुषों के लिए हितकारी हो, उन्हें मोक्ष की ओर ले जानेवाला हो उसे सत्य मनोयोग कहते हैं। अथवा जीवादि पदार्थों के अनेकान्तरूप यथार्थ विचार को सत्यमनोयोग कहते हैं।

२) असत्य मनोयोग- सत्य से विपरीत अर्थात् संसार की ओर ले जाने वाले मन के व्यापार को असत्य मनोयोग कहते हैं। अथवा जीवादि पदार्थ नहीं है, एकान्त सत् हैं इत्यादि एकान्त रूप मिथ्याविचार असत्य मनोयोग है।

३) सत्यमृषा मनोयोग- व्यवहार नय से ठीक होने पर भी निश्चयनय से जो विचार पूर्ण सत्य न हो,- जैसे किसी उपवन में धव, खैर, पलाश आदि के कुछ पेड होने पर भी अशोकवृक्ष अधिक होने से अशोकवन कहना- सत्यमृषा मनोयोग है। वन में अशोक वृक्ष होने से यह बात सत्य है और धव आदि के वृक्ष होने से मृषा (असत्य) भी है।

४) असत्यामृषा मनोयोग- जो विचार सत्य नहीं हैं उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं। किसी प्रकार का विवाद खडा होने पर वीतराग सर्वज्ञ के बताए हुए सिद्धान्त के अनुसार विचार करनेवाला आराधक कहा जाता है उसका विचार सत्य है। जो व्यक्ति सर्वज्ञ के सिद्धान्त से विपरीत विचरता है, जीवादि पदार्थों को एकान्त नित्य आदि बताता है वह विरोधक है। उसका विचार असत्य है। जहाँ वस्तु को सत्य या असत्य किसी प्रकार सिद्ध करने की इच्छा न हो केवल वस्तु का स्वरूप-मात्र दिखाया जाय, जैसे- देवदत्त! घडा लाओ इत्यादि चिन्तन में वहाँ सत्य असत्य कुछ नहीं होता। आराधक विराधक की कल्पना भी वहाँ नहीं होती। इस प्रकार के विचार को असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं। यह भी व्यवहार नय की अपेक्षा है। निश्चय नय से तो इसका सत्य या असत्य में समावेश हो जाता है।

वचनयोग के भी चार प्रकार है- (१) सत्य वचनयोग (२) असत्य वचनयोग (३) सत्यमृषा वचनयोग (४) असत्यामृषा वचनयोग।

सत्यवचन के दस प्रकार है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताना सत्य वचन है। एक जगह एक

---

१ संदर्भ-गाथा - १६

शब्द किसी अर्थ को बताता है और दूसरी जगह दूसरे अर्थ को। ऐसी हालत में अगर वक्ता की विवक्षा ठीक है तो दोनों ही अर्थों में वह शब्द सत्य है। इस प्रकार विवक्षाओं के भेद से सत्य वचन दस प्रकार का है।

१) जनपद सत्य- जिस देश में जिस वस्तु का जो नाम है, उस देश में वह नाम सत्य है। दूसरे किसी देश में उस शब्द का दूसरा अर्थ होने पर भी किसी भी विवक्षा में वह असत्य नहीं है- जैसे- कोंकण देश में पानी को पिच्छ कहते हैं। किसी देश में पिता को भाई, सासु को आई इत्यादि कहते हैं। भाई और आई का दूसरा अर्थ होने पर भी उस देश में सत्य ही है।

२) सम्मत सत्य- प्राचीन आचार्यों अथवा विद्वानों ने जिस शब्द का जो अर्थ मान लिया है उस अर्थ में वह शब्द सम्मत सत्य है। जैसे पंकज का यौगिक अर्थ है कीचड से पैदा हुआ पदार्थ। कीचड में मेंढक, शैवाल, कमल आदि बहुत सी वस्तुएँ उत्पन्न होती है फिर भी शब्दशास्त्र के विद्वानों ने पंकज शब्द का अर्थ सिर्फ कमल मान लिया है। इसलिए पंकज शब्द से कमल ही लिया जाता है, मेंढक आदि नहीं। यह सम्मत सत्य है।

३) स्थापना सत्य- सदृश या विसदृश आकारवाली वस्तु में किसी की स्थापना करके उसे उस नाम से कहना स्थापना सत्य है। जैसे शतरंज के मोहरों को हाथी, घोडा आदि कहना। अथवा 'क' इस आकार विशेष को 'क' कहना। वास्तव में क आदि वर्ण ध्वनि रूप है। पुस्तक के अक्षरों से उस ध्वनि की स्थापना की जाती है, अथवा आचारांग आदि श्रुतज्ञान रूप है, लिखे हुए शास्त्रों में उनकी स्थापना की जाती है। जम्बूद्वीप के नक्शे को जम्बूद्वीप कहना सदृश आकार वाले में स्थापना है।

४) नाम सत्य- गुण न होने पर भी व्यक्ति विशेष का या वस्तु विशेष का वैसा नाम रखकर उस नाम से पुकारना नाम सत्य है। जैसे- अमरावती देवों की नगरी का नाम है। वैसी बातें न होने पर भी किसी गांव को अमरावती कहना नाम सत्य है।

५) रूपसत्य- वास्तविकता न होने पर भी रूप विशेष को धारण करने से किसी व्यक्ति या वस्तु को उस नाम से पुकारना। जैसे- साधु के गुण न होने पर भी साधुवेष वाले पुरुष को साधु कहना।

६) प्रतीत्य सत्य- किसी अपेक्षा से दूसरी वस्तु को छोटी बडी आदि कहना अपेक्षा सत्य या प्रतीत्य सत्य है। जैसे- मध्यमा अँगुली की अपेक्षा अनामिका को छोटी कहना।

७) व्यवहार सत्य- जो बात व्यवहार में बोली जाती है। जैसे- पर्वत पर पडी हुई लकडियों के जलने पर भी पर्वत जलता है, यह कहना व्यवहार सत्य है।

८) भाव सत्य- निश्चय की अपेक्षा कई बाते होने पर भी किसी एक की अपेक्षा से उस में वहीं बताना। जैसे- तोते में कई रंग होने पर भी उसे हरा कहना भाव सत्य है।

९) योग सत्य- किसी चीज के सम्बन्ध से व्यक्ति विशेष को उस नाम से पुकारना। जैसे- लकडी ढोनेवालो को लकडी के नाम से पुकारना योग्य होता है।

१०) उपमा सत्य- किसी बात के समान होने पर एक वस्तु की दूसरी से तुलना करना ओर उसे उस नाम से पुकारना उपमा सत्य है। जैसे किसी के चहेरे को चन्द्र कहना ।

सत्यामृषा (मिश्र) भाषा के भी दस प्रकार है- जिस भाषा में कुछ अंश सत्य तथा कुछ असत्य हो उसे सत्यामृषा(मिश्र) भाषा कहते हैं। इसके दस भेद हैं इस प्रकार है।

१) उत्पन्न मिश्रिता- संख्या पूरी करने के लिए नहीं उत्पन्न हुओं के साथ उत्पन्न हुओं को मिला देना। जैसे- किसी गांव में कम या अधिक बालक उत्पन्न होने पर भी 'दस बालक उत्पन्न हुए' यह कहना।

२) विगत मिश्रिता- इसी प्रकार मरण के विषय में कहना।

३) उत्पन्नविगत मिश्रिता- जन्म और मृत्यु दोनों के विषय में अयथार्थ कथन।

४) जीवमिश्रिता- जीवित तथा मरे हुए बहुत शंख आदि के ढेर को देखकर यह कहना- 'अहो! यह कितना बडा जीवों का ढेर है'। जीवितों को लेकर सत्य तथा मरे हुओं को लेने से असत्य होने से यह भाषा जीवमिश्रिता सत्यामृषा है।

५) अजीव मिश्रिता- उसी राशि को अजीवों का ढेर बताना।

६) जीवाजीव मिश्रिता- उस राशि में अयथार्थ रूप से यह बताना कि इतने जीव हैं और इतने अजीव।

७) अनन्त मिश्रिता- अनन्तकायिक तथा प्रत्येक शरीरी वनस्पति काय के ढेर को देखकर कहना कि- 'यह अनन्तकाय का ढेर है'।

८) प्रत्येक मिश्रिता- उसी ढेर को कहना कि यह प्रत्येक वनस्पति काय का ढेर है।

९) अद्धा मिश्रिता- दिन या रात वगैरह काल के विषय में मिश्रित वाक्य बोलना। जैसे- जल्दि के कारण कोई दिन रहते कहे- उठो रात हो गई। अथवा रात रहते कहे- सूरज निकल आया।

१०) अद्धाद्धा मिश्रिता- दिन या रात के एक भाग को अद्धाद्धा कहते हैं। उन दोनों के लिए मिश्रित वचन बोलना अद्धाद्धा मिश्रित है, जैसे- जल्दी करने वाला कोई मनुष्य दिन के पहले पहर में भी कहे- दोपहर हो गई।

असत्य वचन को मृषावाद कहते हैं। इसके दस प्रकार है-

१) क्रोध निःसृत- जो असत्यवचन क्रोध में बोला जाय। जैसे क्रोध में कोई दूसरें को दास न होने पर भी दास कह देता है।

२) मान निःसृत- मान अर्थात् घमण्ड में बोला हुआ वचन। जैसे- घमण्ड में आकर कोई गरीब भी अपने को धनवान कहने लगता है।

३) माया निःसृत- कपट से अर्थात् दूसरे को धोका देने के लिए बोला हुआ झूठ।

४) लोभ निःसृत- लोभ में आकर बोला हुआ वचन। जैसे कोई दुकानदार थोडी कीमत में खरीदी हुई वस्तु को अधिक मूल्य की बता देता है।

५) प्रेम निःसृत- अत्यन्त प्रेम में निकला हुआ वचन। जैसे- प्रेम में आकर कोई कहता है- मैं तो आपका दास हूँ।

६) द्वेष निःसृत- द्वेष से निकला हुआ वचन। जैसे- द्वेष में आकर किसी को भी निर्गुणी कह देना।

७) हास निःसृत- हंसी में झूठ बोलना।

८) भय निःसृत- चोर वगैरह से डरकर असत्य वचन बोलना।

९) आख्यायिका निःसृत- कहानी वगैरह कहते समय उस में गप्प लगाना।

१०) उपघात निःसृत- प्राणियों की हिंसा के लिए बोला गया असत्य वचन। जैसे- भले आदमी को भी चोर कह देना।

काययोग के सात भेद हैं।

१) औदारिक शरीर काययोग- काय का अर्थ है समूह। औदारिक शरीर पुद्गल स्कन्धों का समूह है, इसलिये काय है। इस में होनेवाले व्यापार को औदारिक शरीर काययोग कहते हैं। यह योग पर्याप्त तिर्यंच और मनुष्यों को होता है।

२) औदारिक मिश्र शरीर काय योग- वैक्रिय आहारक और कार्मण के साथ मिले हुए औदारिक को औदारिक मिश्र कहते हैं। औदारिक मिश्र के व्यापार को औदारिक मिश्र शरीर काययोग कहते हैं।

३) वैक्रिय शरीर काययोग- वैक्रिय शरीर पर्याप्ति के कारण पर्याप्त जीवों के होनेवाला वैक्रिय शरीर का व्यापार वैक्रिय शरीर काययोग है।

४) वैक्रिय मिश्र शरीर काययोग- देव और नारकी जीवों के अपर्याप्त अवस्था में होनेवाला काय योग वैक्रिय मिश्र शरीर काय योग है। यहाँ वैक्रिय और कार्मण की अपेक्षा मिश्र योग होता है।

५) आहारक शरीर काययोग- आहारक शरीर के द्वारा पर्याप्त जीवों को आहारक शरीर काय योग होता है।

६) आहारक मिश्र शरीर काययोग- जिस समय आहारक शरीर अपना कार्य करके वापिस आकर औदारिक शरीर में प्रवेश करता है उस समय आहारक मिश्र शरीर काय योग होता है।

७) तैजस कार्मण शरीर योग- विग्रह गति में तथा सयोगी केवलि को समुद्घात के तीसरे चौथे और पाँचवें समय में तैजस कार्मण शरीर योग होता है। तैजस और कार्मण सदा एक साथ रहते हैं, इसलिए उनके व्यापार रूप काय योग को भी एक ही माना है।

व्यवहार भाषा- असत्यामृषा के अन्य बारह भेद भी पाये जाते हैं।

१) आमंत्रणी- आमन्त्रण करना। जैसे- हे देवदत्त ! इत्यादि।

२) आज्ञापनी- दूसरे को किसी कार्य में प्रेरित करनेवाली भाषा आज्ञापनी कहलाती है। जैसे- 'जाओ अमुक कार्य करो' इत्यादि।

३) याचनी- याचना करने के लिए कही जाने वाली भाषा याचनी है।

४) पृच्छनी- अज्ञात तथा संदिग्ध पदार्थों को जानने के लिए प्रयुक्त भाषा पृच्छनी कहलाती है।

५) प्रज्ञापनी- विनीत शिष्य को उपदेश देने रूप भाषा प्रज्ञापनी है। जैसे- 'प्राणियों की हिंसा से निवृत्त पुरुष भवान्तर में दीर्घायु और निरोग होता है'।

६) प्रत्याख्यानी- निषेधात्मक भाषा।

७) इच्छानुलोमा- दूसरे को इच्छा का अनुसरण करना। जैसे- किसी के द्वारा पूछे जाने पर उत्तर देना कि- जो तुम करते हो वह मुझे भी अभीष्ट है।

८) अनभिगृहीता- प्रतिनियत(निश्चित) अर्थ का ज्ञान न होने पर उसके लिए पूछना।

९) अभिगृहीता- प्रतिनियत अर्थ का बोध करानेवाली भाषा अभिगृहीता है।

१०) संशयकरणी- अनेक अर्थों के वाचक शब्दों का जहाँ पर प्रयोग किया गया हो और जिसे सुनकर श्रोता संशय में पड जाय वह भाषा संशयकरणी है। जैसे- सैंधव शब्द सुनकर श्रोता संशय में पड जाता है कि- नमक लाया जाय या घोडा?

११) व्याकृता- स्पष्ट अर्थवाली भाषा व्याकृता कहलाती है।

१२) अव्याकृता- अतिगम्भीर अर्थवाली अथवा अस्पष्ट उच्चारणवाली भाषा अव्याकृता कहलाती है[१]

अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त विकलत्रिक और अपर्याप्त असंज्ञि पंचेन्द्रिय, इन छह प्रकार के जीवों में कार्मण, औदारिक ये दो ही योग होते है। अपर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रिय में कार्मण, औदारिक मिश्र और वैक्रिय मिश्र ये तीन योग पाये जाते हैं।

पर्याप्त संज्ञी में सब योग पाये जाते हैं। पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय में औदारिक काययोग ही होता है। पर्याप्त विकलेन्द्रिय-त्रिक और पर्याप्त असंज्ञि पंचेन्द्रिय इन चार जीव स्थानों में औदारिक और असत्यामृषा वचन, ये दो योग होते हैं। पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय में औदारिक, वैक्रिय तथा वैक्रिय मिश्र ये तीन काय योग होते हैं[२] ।

(४) उपयोग १२- जिसके द्वारा सामान्य या विशेष रूप से वस्तु का ज्ञान किया जाय उसे उपयोग कहते हैं। उपयोग दो प्रकार का है- एक साकारोपयोग और दूसरा निराकारोपयोग(अनाकारोपयोग)। जिसके द्वारा पदार्थों के विशेष धर्मों का अर्थात् जाति, गुण, क्रिया आदि का ज्ञान हो वह साकारोपयोग है। अर्थात् सचेतन और अचेतन पदार्थों को पर्याय सहित जानना साकारोपयोग है। इसे ज्ञानोपयोग भी कहते हैं। जिसके द्वारा पदार्थों के सामान्य धर्म- सत्ता आदि का ज्ञान किया जाय उसे निराकारोपयोग कहते हैं। इसे दर्शनोपयोग भी कहा जाता है।

छद्मस्थों की अपेक्षा साकारोपयोग का समय अन्तर्मुहूर्त है और केवली की अपेक्षा एक समय है। अनाकारोपयोग का समय छद्मस्थों की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त है किन्तु साकारोपयोग का समय इससे संख्यात गुणा अधिक है क्योंकि आकार (पर्याय) सहित वस्तु का ज्ञान करने में बहुत समय लगता है। केवली की अपेक्षा अनाकारोपयोग का समय एक समय मात्र है। साकारोपयोग के आठ भेद है-

१) आभिनिबोधिक-साकारोपयोग- इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य स्थान में रहे हुए पदार्थों को स्पष्टरूप से विषय करनेवाला आभिनिबोधिक(मतिज्ञान) साकारोपयोग है।

२) श्रुतज्ञान साकारोपयोग- वाच्यवाचकभाव सम्बन्धपूर्वक शब्द के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ का ग्रहण करनेवाले श्रुतज्ञान कहलाता है। जैसे- कम्बुग्रीवादि आकारवाली, जलधारणादि क्रिया में समर्थ वस्तु घट शब्द वाच्य है अर्थात् घट शब्द से कही जाती है। श्रुतज्ञान भी इन्द्रियमनोनिमित्तिक होता है और इन्द्रिय तथा मन की सहायता से ही पदार्थों का विषय करता है। अतः यह श्रुतज्ञान साकारोपयोग है।

३) अवधिज्ञान साकारोपयोग- मर्यादा पूर्वक रूपी द्रव्यों को विषय करनेवाला अवधिज्ञान साकारोपयोग कहलाता है। यह ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही रूपी पदार्थों को विषय करता है।

४) मनःपर्यवज्ञान साकारोपयोग- ढाई द्वीप और समुद्रों में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत

---

१ संदर्भ-गाथा - १७ वृत्ति

२ संदर्भ-गाथा - १८/१९

भावों को जानने वाला मनःपर्यवज्ञान साकारोपयोग कहलाता है। इसे मनःपर्याय और मनःपर्यय भी कहते हैं।

५) केवलज्ञान साकारोपयोग- मति आदि ज्ञानों के सहायता के बिना भूत, भविष्य और वर्तमान तथा तीनों लोगवर्ती समस्त पदार्थों को विषय करनेवाला केवलज्ञान साकारोपयोग है। इसका विषय अनन्त है।

६) ७) ८) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जब मिथ्यात्व मोहनीय से संयुक्त हो जाते हैं उस अवस्था में वे अनुक्रम से अज्ञान बन जाते हैं। अतः ये मति अज्ञान साकारोपयोग, श्रुत अज्ञान साकारोपयोग और विभंग ज्ञान साकारोपयोग कहलाते हैं। अनाकारोपयोग के चार भेद हैं।

१) चक्षुदर्शन अनाकारोपयोग- आँख द्वारा पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है उसे चक्षुदर्शन अनाकारोपयोग कहते हैं।

२) अचक्षुदर्शन अनाकारोपयोग- चक्षु इन्द्रिय को छोडकर शेष चारों इन्द्रियों और मन के द्वारा होनेवाला पदार्थों का सामान्य ज्ञान अचक्षुदर्शन अनाकारोपयोग है।

३) अवधिदर्शन अनाकारोपयोग- मर्यादित क्षेत्र में रूपी द्रव्यों का सामान्य ज्ञान अवधिदर्शन अनकारोपयोग है।

४) केवलदर्शन अनाकारोपयोग- दूसरे ज्ञान की अपेक्षा बिना सम्पूर्ण संसार के पदार्थों का सामान्य ज्ञान रूप दर्शन अनाकार उपयोग कहलाता है।

पर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रिय में सभी उपयोग पाये जाते हैं। पर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा पर्याप्त असंज्ञि पंचेन्द्रिय में चक्षु-अचक्षु दो दर्शन और मति, श्रुत दो अज्ञान कुल चार उपयोग होते हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय ये चारों पर्याप्त तथा अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा अपर्याप्त असंज्ञि पंचेन्द्रिय इन दस प्रकार के जीवों में मति, अज्ञान, श्रुत अज्ञान और अचक्षुदर्शन ये तीन उपयोग होते है। अपर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रियों में मनःपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन, केवलदर्शन, केवलज्ञान इन चार को छोडकर शेष आठ- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि दर्शन, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग ज्ञान और अचक्षु दर्शन- उपयोग होते हैं[१]।

इसके पश्चात् ध्याता शरीर का चिन्तन करें-

(५) शरीर- ५ जो उत्पत्ति समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता रहता है तथा शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होता है वह शरीर है। इसके पाँच प्रकार हैं (१) औदारिक शरीर, (२) वैक्रिय शरीर (३) आहारक शरीर (४) तैजस शरीर (५) कार्मण शरीर।

१) औदारिक- उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक है। तीर्थंकर, गणधरादि का शरीर प्रधान पुद्गलों से बनता है और सर्वसाधारण का शरीर स्थूल और असार पुद्गलों से बना हुआ होता है। अथवा- अन्य शरीरों की अपेक्षा अवस्थित रूप से विशाल अर्थात् बडे परिमाण वाला होने से यह औदारिक शरीर कहा जाता है। वनस्पति काय की अपेक्षा औदारिक शरीर की एक सहस्र योजन की अवस्थित अवगाहना इससे कम है। वैक्रिय शरीर की उत्तरवैक्रिय की अपेक्षा अनवस्थित अवगाहना लाख योजन की है। परन्तु भवधारणीय वैक्रिय शरीर की अवगाहना तो पाँच सौ धनुष से अधिक नहीं है। अथवा- अन्य शरीरों की अपेक्षा अल्पप्रदेश वाला तथा परिणाम में बडा होने से यह औदारिक शरीर कहलाता है। अथवा- मांस, रुधिर, अस्थि आदि धातुओं से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। औदारिक शरीर मनुष्य

---

१ संदर्भ-गाथा - २२

और तिर्यंच को होता है।

२) वैक्रिय शरीर- जिस शरीर से विविध अथवा विशिष्ट प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। वह वैक्रिय शरीर कहलाता है। जैसे एक रूप होकर अनेक रूप धारण करना, अनेक रूप होकर एक रूप धारण करना, छोटे शरीर से बडा शरीर बनाना और बडे से छोटा बनाना, पृथ्वी और आकाश पर चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य, अदृश्य रूप बनाना आदि।

वैक्रिय शरीर दो प्रकार का है- औपपातिक वैक्रिय शरीर और दूसरा लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर। जन्म से ही जो वैक्रिय शरीर मिलता है वह औपपातिक वैक्रिय शरीर है। देवता और नारकी के शरीर जन्म से ही वैक्रिय शरीरधारी होते हैं। तप आदि द्वारा प्राप्त लब्धि विशेष से प्राप्त होनेवाला वैक्रिय शरीर लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर है। मनुष्य और तिर्यंच में लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है।

३) आहारक शरीर- प्राणिदया, तीर्थंकर भगवान की ऋद्धि का दर्शन तथा संशय निवारण आदि प्रयोजनों से चौदह पूर्वधारी मुनिराज, अन्य क्षेत्र- महाविदेह क्षेत्र में विराजमान तीर्थंकर भगवान के समीप भेजने के लिए, लब्धि विशेष से अतिविशुद्ध स्फटिक के सदृश एक हाथ का जो शरीर निकालते है वह आहारक शरीर कहलाता है। उक्त प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने पर वे मुनिराज उस शरीर को छोड देते हैं।

४) तेजस शरीर-तेज पुद्गलों से बना हुआ शरीर तेजस् कहलाता है। प्राणियों के शरीर में विद्यमान उष्णता से इस शरीर का अस्तित्व सिद्ध होता है। यह शरीर आहार का पाचन करता है। तपोविशेष से प्राप्त तेजस लब्धि का कारण भी यही शरीर है।

५) कार्मण शरीर- कर्मों से बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है अथवा जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्मपुद्गलों को कार्मण शरीर कहते हैं। यह शरीर ही सब शरीरों का बीज है। इन पाँचों शरीर आगे आगे के पिछले की अपेक्षा प्रदेश बहुल अधिक प्रदेश वाले हैं एवं परिमाण मे सूक्ष्मतर हैं। तैजस और कार्मण शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं। इन दोनों शरीरों के साथ ही जीव मरण देश को छोडकर उत्पत्ति स्थान को जाता है[१]।

इन पाँचों शरीरों का कारण, प्रदेश, स्वामि, विषय, प्रयोजन, प्रमाण, स्थिति, अल्पबहुत्व एवं अन्तर अल्पबहुत्व का विचार किया जाता है-

कारण- सब से सूक्ष्म पुद्गल कार्मण शरीर के है, उसकी अपेक्षा तेजस शरीर के पुद्गल बादर है, उसकी अपेक्षा आहारक शरीर के पुद्गल बादर है, उसकी अपेक्षा वैक्रिय शरीर के पुद्गल बादर है, उसकी अपेक्षा औदारिक शरीर के पुद्गल बादर है। सब से बादर पुद्गल औदारिक शरीर के, उसके अपेक्षा वैक्रिय शरीर के सूक्ष्म, उसकी अपेक्षा आहारक शरीर के सूक्ष्म, उसकी अपेक्षा तेजस के सूक्ष्म और उसकी अपेक्षा कार्मण शरीर के सूक्ष्म है।

प्रदेश- प्रदेश की अपेक्षा से आहारक शरीर सब से थोडे है, उससे वैक्रिय शरीर प्रदेश की अपेक्षा असंख्यात गुणा, उससे औदारिक शरीर प्रदेश की अपेक्षा असंख्यात गुणा, उससे तैजस शरीर प्रदेश की अपेक्षा अनन्त गुणा, उससे कार्मण शरीर प्रदेश की अपेक्षा अनन्त गुणा होता है।

---

१ संदर्भ-गाथा - २५

स्वामी– औदारिक शरीर के स्वामी मनुष्य और तिर्यंच है। नैरयिक और देव वैक्रिय शरीर के स्वामी है। चौदह पूर्वधारी लब्धि मुनिराज आहारक शरीर के स्वामी होते है। तैजस और कार्मण शरीर के स्वामी चारों ही गति के जीव होते हैं।

संस्थान– औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर में छहों संस्थान पाते हैं। वैक्रिय में समचतुरस्र और हुंडक ये दो संस्थान पाये जाते हैं।

अवगाहना– औदारिक शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट एक हजार योजन से कुछ अधिक,पद्मद्रहस्थित बृहत् कमल की अपेक्षा। वैक्रिय शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग; उत्कृष्ट एक लाख योजन से कुछ अधिक, उत्तर वैक्रिय की अपेक्षा। आहारक शरीर की अवगाहना जघन्य- कुछ कम एक हाथ (मुंड हाथ) की, उत्कृष्ट एक हाथ की। तेजस-कार्मण शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट लोकान्त तक अर्थात् सम्पूर्ण लोक प्रमाण।

विषय– औदारिक शरीर का विषय रुचक द्वीप तक, वैक्रिय शरीर का विषय असंख्यात द्वीप समुद्र तक, आहारक शरीर का विषय ढाई द्वीप तक, तथा तैजस कार्मण का विषय(केवली समुद्घात की अपेक्षा) चौदह राजलोक प्रमाण है।

औदारिक शरीर में वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर की भजना होती है अर्थात् औदारिक शरीर में वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर कभी होता है और कभी नहीं होता। तथा औदारिक शरीर के साथ आहारक शरीर भी कभी होता है और कभी नहीं होता। औदारिक शरीर के साथ तैजस-कार्मण शरीर नियमपूर्वक होते हैं। वैक्रिय के साथ आहारक शरीर नहीं होता, किन्तु तैजस और कार्मण नियमपूर्वक होता ही है। आहारक के साथ वैक्रिय शरीर नहीं होता। तैजस के साथ कार्मण निश्चित होता है। किन्तु इनके साथ औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर कभी होता है और कभी नहीं भी होता है।

स्थिति– औदारिक शरीर की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट तीन पल्योपम की(युगलिक मनुष्य की अपेक्षा)। वैक्रिय शरीर की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की। आहारक की जघन्य एवं उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की। तैजस कार्मण शरीर की स्थिति के दो भंग है- अनादि अपर्यवसित और अनादि सपर्यवसित (अनादि सान्त)।

अल्पबहुत्व– सबसे थोडे आहारक शरीर; द्रव्यार्थ की अपेक्षा, उससे वैक्रिय शरीर असंख्यात गुणा, उससे औदारिक शरीर अनन्त गुणा, उससे वैक्रिय शरीर; प्रदेश की अपेक्षा असंख्यात गुणा, उससे औदारिक शरीर; प्रदेश की अपेक्षा असंख्यात गुणा, उससे तैजस-कार्मण शरीर अनन्त गुणा द्रव्यार्थ की अपेक्षा से तुल्य। उससे तैजस शरीर प्रदेश की अपेक्षा अनन्त गुणा, उससे कार्मण शरीर प्रदेश की अपेक्षा अनन्त गुणा।

प्रयोजन– औदारिक शरीर का प्रयोजन- तीर्थंकर, गणधर के शरीर की अपेक्षा औदारिक शरीर प्रधान कहा गया है। तीर्थंकर, गणधर के शरीर की अपेक्षा दूसरे शरीर अनन्तगुण हीन होते हैं। इस औदारिक से तीर्थंकर, गणधर एवं अन्य चरम शरीरी की आठ कर्म का क्षय कर सिद्धि प्राप्त करते हैं। वैक्रिय शरीर का प्रयोजन अच्छे बूरे रूप बनाना है। विशिष्ट पदार्थ के बोध, संशय निवारण आदि प्रयोजन से विशिष्ट आहारक लब्धिधारी चौदह पूर्वधर मुनि केवली भगवान के पास भेजने के लिए आहारक शरीर बनाते हैं जो एक हाथ प्रमाण होता है। भगवान के पास भेजा हुआ आहारक शरीर जहाँ केवली भगवान विराजतें हैं वहाँ जाता है और केवली भगवान की समीप प्रयोजन सिद्ध कर वापस आता है और मुनिराज के शरीर में प्रवेश करता है।

आहारक शरीर के द्वारा मुनिराज अपना समाधान प्राप्त कर लेते हैं। तैजस शरीर का प्रयोजन- आहार पचाना है। तैजसलब्धि का प्रयोग भी तैजस शरीर के द्वारा ही होता है। कार्मण शरीर आठ कर्मों का खजाना है। यह शरीर जीव को चारों गतियों में परिभ्रमण करवाता है।

अन्तर- औदारिक शरीर का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम। वैक्रिय का जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अनन्त काल का। आहारक शरीर का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्त का। तैजस कार्मण शरीर का अन्तर नहीं होता। दोनों शरीर संसारी जीव के सदा साथ में रहते हैं ।

इस के बाद साधक लेश्या का विचार करें।

(६) लेश्या- लेश्या के द्रव्य और भाव इस प्रकार दो भेद है। द्रव्य लेश्या, पुद्गल विशेषात्मक है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में मुख्यतया तीन मत है[१]। (१) कर्म वर्गणा निष्पन्न, (२) कर्मनिष्यन्द और (३)योग परिणाम। प्रथम मत के अनुसार लेश्या द्रव्य, कर्म-वर्गणा से बने हुएँ है, फिर भी वे आठ कर्म से भिन्न है, जैसे कि कार्मण शरीर। दूसरे मत के अनुसार लेश्या द्रव्य, कर्मनिष्यन्द रूप(बध्यमान कर्म प्रवाह रूप) है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म के होने पर भी उसका निष्यन्द न होने से लेश्या के अभाव की उपपत्ति हो जाती है। प्रज्ञापना के टीकाकार आ. श्री मलयगिरि सू. लेश्या-द्रव्य को योगवर्गणा- अन्तर्गत स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं[२]।

भावलेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है। संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होने से वस्तुतः भावलेश्या असंख्य प्रकार की है। फिर भी संक्षेप में उसके छह विभाग किये हैं- कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल। इन छह भेदों का स्वरूप समझने के लिए शास्त्र में इस प्रकार का दृष्टान्त हैं-

१ कृष्ण लेश्यी- कोई छह पुरुष जम्बूफल (ज़ामुन) खाने की इच्छा करते हुए चले जा रहे थे। इतने में जम्बू वृक्ष को देख उन में से एक पुरुष बोला- 'लीजिए वृक्ष तो आ गया। अब फलों के लिए ऊपर चढने की अपेक्षा फलों से लदी हुई बडी बडी शाखावाले इस वृक्ष को काट गिराना ही अच्छा है'।

२- नील लेश्यी यह सुनकर दूसरे ने कहा- 'वृक्ष काटने से क्या लाभ ? केवल शाखा काट दो'।

३- कापोत लेश्यी तीसरे पुरुष ने कहा- यह भी ठीक नहीं, छोटी छोटी शाखाओं के काट लेने से भी तो काम निकाला जा सकता है'।

४- तेजो लेश्यी चौथे ने कहा- 'शाखाएँ भी क्यों काटना ? फलों के गुच्छों को तोड लीजिए'।

५- पद्म लेश्यी पांचवाँ बोला- 'गुच्छों से क्या प्रयोजन ? उनमें से कुछ फलों को ही ले लेना अच्छा है'।

६- शुक्ल लेश्यी अन्त में छठे पुरुष ने कहा- 'ये सब विचार निरर्थक हैं। क्यों कि हम लोग जिन्हें चाहते हैं वे फल तो नीचे भी गिरे हुएँ हैं। क्या इन्हीं से हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ?'। इस दृष्टान्त से लेश्या का वास्तविक स्वरूप समझ में आता है। इस दृष्टान्त में पूर्व पूर्व के पुरुष के परिणामों की अपेक्षा

---

१ लेश्याकोश ।

२ प्रज्ञापनासूत्र लेश्यापद टीका ।

उत्तर उत्तर पुरुष के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम पाये जाते हैं। उत्तर उत्तर पुरुष के परिणामों में संक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता पाई जाती है।

संज्ञि द्विक में अपर्याप्त तथा पर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रिय में छहों लेश्याएँ होती है। अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय में कृष्ण आदि पहली चार लेश्याएँ पाई जाती है। शेष ग्यारह जीव स्थानों में- अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त त्रीन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त चतुरिन्द्रिय में और अपर्याप्त-पर्याप्त असंज्ञि पंचेन्द्रियों में कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएँ होती है। अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय में तेजोलेश्या भी पाई जाती है। प्रथम और द्वितीय नरक में कापोत लेश्या, तृतीय नरक में कपोत और नील, चौथी नरक में नील, पांचवी में कृष्ण और नील, छठी नरक में कृष्ण, सातवी में महाकृष्ण लेश्या पाई जाती है। भवनपति और वाणव्यंतर में कृष्ण, नील, कापोत और तेजो लेश्या। ज्योतिषी एवं प्रथम द्वितीय देवलोक में पद्म लेश्या;तीसरे,चौथे और पांचवें देवलोक में पद्म लेश्या; छठे देवलोक से नौ ग्रेवेयक तक में एक शुक्ल लेश्या एवं पाँच अनुत्तर में परमशुक्ल लेश्या होती है[1]।

तत्पश्चात् दृष्टियों पर विचार करें।

(७) दृष्टि-३ दृष्टियाँ तीन हैं- सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्र दृष्टि। सात नारकी के नैरयिक, दस भवनपति, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक इन सोलह दण्डक में तीनों दृष्टियाँ पाई जाती है। पांच स्थावर मिथ्यादृष्टि होते हैं। तीन विकलेन्द्रिय और नव ग्रैवेयक सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि होते हैं। पांच अनुत्तर विमान और सिद्ध भगवान सम्यग्दृष्टि होते हैं[2]।

(८) पर्याप्तियाँ- ६ जिस कर्म के उदय से जीव अपनी अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते हैं वह पर्याप्ति नाम कर्म है। जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उनको आहार, शरीर आदि के रूप में बदल देने का कार्य होता है, अर्थात् पुद्गलों के उपचय से जीव की पुद्गलों के ग्रहण करने की तथा परिणमन की शक्ति को पर्याप्ति कहते है। विषय भेद से पर्याप्ति के छ भेद है- आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, उच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति।

मृत्यु के बाद जीव, उत्पत्ति-स्थान में पहुँचकर कार्मण-शरीर के द्वारा जिन पुद्गलों को प्रथम समय में ग्रहण करता है उनके छह विभाग होते हैं और उनके द्वारा एक साथ, छहों पर्याप्तियों का बनना शुरु हो जाता है परन्तु उनकी पूर्णता क्रमशः होती है। जो औदारिक शरीरधारी जीव हैं उनकी आहार-पर्याप्ति एक समय में पूर्ण होती है, और अन्य पाँच पर्याप्तियाँ अन्तर्मुहूर्त में क्रमशः पूर्ण होती है । वैक्रिय शरीरधारी जीवों की शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण होने में अन्तर्मुहूर्त समय लगता है और अन्य पांच पर्याप्तियों के पूर्ण होने में एक एक समय लगता है।

१) जिस शक्ति के द्वारा जीव बाह्य आहार को ग्रहण कर उसे खल और रस के रूप में बदल देता है उसे आहार पर्याप्ति कहते हैं।

२) जिस शक्ति द्वारा जीव रस के रूप में बदल दिये हुए आहार को सात धातु के रूप में बदल देता

---

१ संदर्भ गाथा - २७

२ संदर्भ गाथा - २८

है उसे शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

३) जिस शक्ति के द्वारा जीव धातुओं के रूप में परिणत आहार को इन्द्रियों के रूप में परिणत करता है उसे इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

४) जिस शक्ति के द्वारा जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उनको श्वासोच्छ्वास के रूप में बदल कर तथा अवलम्बन कर देता है उसे श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।

५) जिस शक्ति के द्वारा जीव भाषायोग्य पुद्गलों को लेकर उनको भाषा के रूप में बदल देता है उसे भाषा पर्याप्ति कहते है।

६) जिस शक्ति के द्वारा जीव मनोयोग्य पुद्गलों को लेकर उनको मन के रूप में बदल देता है उसे मनःपर्याप्ति कहते हैं।

इन छः पर्याप्तियों में से प्रथम चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीव को, पाँच पर्याप्तियां विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञि- पंचेन्द्रिय को, और छह पर्याप्तियाँ संज्ञि पंचेन्द्रिय को होती है।

पर्याप्त जीवों के दो भेद हैं-१- लब्धिपर्याप्त और २- करणपर्याप्त।

१) जो जीव अपनी अपनी पर्याप्तियों के पूर्ण कर के मरते हैं, पहले नहीं वे लब्धि पर्याप्त है।

२) करण का अर्थ है इन्द्रिय। जिन जीवों ने इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण कर ली है- अर्थात् आहार, शरीर और इन्द्रिय तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली है वे करण पर्याप्त है, क्यों कि आहार पर्याप्ति और शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये बिना इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण नहीं हो सकती इसलिए तीनों पर्याप्तियाँ ली गई है[१]।

(९) प्राण- १० जिन से प्राणी जीवित रहें उन्हें प्राण कहते हैं। वे दस है- (१) स्पर्शनेन्द्रियबल प्राण (२) रसनेन्द्रियबल प्राण (३) घ्राणेन्द्रियबल प्राण (४) चक्षुरिन्द्रियबल प्राण (५) श्रोत्रेन्द्रियबल प्राण (६) कायबल प्राण (७) वचनबल प्राण (८) मनबल प्राण (९) श्वासोच्छ्वासबल प्राण (१०) आयुष्यबल प्राण। एकेन्द्रिय जीवों में चार प्राण होते हैं। स्पर्शनेन्द्रियबल प्राण, कायबल प्राण, श्वासोच्छ्वासबल प्राण और आयुष्यबल प्राण। द्वि इन्द्रिय में छ प्राण होते हैं। चार पूर्वोक्त तथा रसनेन्द्रिय और वचनबल प्राण। त्रि इन्द्रिय में सात प्राण होते हैं। छः पूर्वोक्त और घ्राणेन्द्रियबल प्राण। चतुरिन्द्रिय में आठ प्राण होते हैं- पूर्वोक्त सात और चक्षुरिन्द्रियबल प्राण। असंज्ञी पंचेन्द्रिय में नौ प्राण होते हैं- पूर्वोक्त आठ और श्रोत्रेन्द्रियबल प्राण। संज्ञी पंचेन्द्रिय में दस प्राण होते हैं। पूर्वोक्त नौ और मनबल प्राण[२]।

(१०) आयु- ४ जिस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीता है और क्षय से मरता है, उसे आयु कहते हैं। इसके चार प्रकार है- मनुष्यायु, तिर्यंचायु, देवायु तथा नरकायु। आयु मुख्यतः दो प्रकार की है- अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय।

बाह्य निमित्त से जो आयु कम हो जाती है उसको अपवर्तनीय या अपवर्त्य आयु कहते हैं। जैसे जल, शस्त्र चोट, विष प्रयोग आदि बाह्य निमित्त व्यक्ति मरता है वह अपवर्त्य आयु है। जो आयु किसी भी कारण से कम न हो सके अर्थात् जितने काल की आयु बान्धी गई है उतने काल तक भोगी जावे, उस आयु को अनपवर्त्य आयु कहते हैं। इन आयु को हम जघन्य और उत्कृष्ट ऐसे दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं।

---

१ संदर्भ गाथा-३०

२ संदर्भ गाथा-३२/३३

आयुष्य बन्ध- नारकी के नैरयिक, भवनपति, व्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक देव अपनी अपनी आयु के छह माह शेष रहने परभव की आयु बांधते हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा वनस्पति काय, तीन विकलेन्द्रिय के जीव की सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकार की आयु होती है। इन में जो निरुपक्रम आयुवाले होते हैं वे अपनी अपनी आयु का तिसरा भाग शेष रहने पर परभव की आयु बांधते हैं। सोपक्रम आयु वाले कभी अपने आयु का तीसरा भाग शेष रहने पर, कभी अपनी आयु के तीसरे भाग का तीसरा भाग याने नवाँ भाग शेष रहने पर और कभी अपनी आयु के तीसरे भाग के तीसरे भाग का तीसरा भाग यानी सत्ताईसवाँ भाग शेष रहने पर परभव की आयु बाँधते है। कभी अपनी आयु के सत्ताईसवें भाग का तीसरा भाग यानी इक्यासीवाँ भाग शेष रहने पर, कभी इक्यासीवें भाग का तीसरा भाग यानी २४३ वाँ भाग शेष रहने पर यावत् अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर परभव की आयु बांधते है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य संख्यात वर्ष की आयु वाले और असंख्यात वर्ण की आयुवाले होते हैं। असंख्यात वर्ष की आयुवाले तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य निरुपक्रम आयुवाले होते हैं। वे अपने आयु के छह मास शेष रहने पर परभव की आयु बांधते है। संख्यात वर्ष की आयुवाले तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य निरुपक्रम और सोपक्रम दोनों प्रकार की आयु वाले होते हैं। पृथ्वीकाय की भवस्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त एवं उत्कृष्ट २२ हजार वर्ष की। अप्काय की उत्कृष्ट स्थिति सात हजार वर्ष की। अग्नि की उत्कृष्ट स्थिति तीन अहोरात्र। वायु काय की तीन हजार वर्ष की। वनस्पति काय की दस हजार वर्ष की। द्वीन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति बारह वर्ष की। त्रीन्द्रिय की ४९ दिवस, चतुरिन्द्रिय की छह मास, नारकी जघन्य स्थिति १०,००० वर्ष, उत्कृष्ट ३३ सागरोपम, तिर्यंच पंचेन्द्रिय पल्योपम, मनुष्य ३ पल्योपम, देवता उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम एवं जघन्य १०,००० वर्ष। देव और नारकी को छोड शेष जीवों की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त इत्यादि[१]।

११- आगति- ४ नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप से आगतियाँ चार प्रकार की है। उनका ग्रन्थ के अनुसार चिन्तन किया जाय[२]।

१२- गति- ४ नारक, देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं मोक्ष गति ये पाँच गतियाँ है। उनका ग्रन्थानुसारेण चिन्तन करें[३]।

१३- कुल- जीवों के उत्पत्ति स्थान को योनि कहते है। वर्णादि के भेद एक ही योनि में उत्पन्न वाले विविध जीवों के समूह को कुल कहते हैं। इसकी संख्या एक कोटाकोटि सत्तानवें लाख पचास हजार है। पृथ्वीकाय की बारह लाख कुलकोटि। अप्काय की सात लाख कुलकोटि। तेउकाय की तीन लाख कुलकोटि । वायुकाय की सात लाख कुलकोटि। द्वीन्द्रिय की सात लाख कुलकोटि। त्रीन्द्रिय की आठ लाक कुलकोटि। चतुरिन्द्रिय की नौ लाख कुलकोटि। वनस्पति की अट्ठावीस लाख कुलकोटि। जलचर की साढे बारह लाख कुलकोटि। पक्षियों की बारह लाख कुलकोटि। चतुष्पदों की दस लाख कुलकोटि। उरःपरिसर्पों की नौ लाख कुलकोटि। भुजपरिसर्पों की नौ लाख कुलकोटि। देवों की २६ लाख कुलकोटि। नारकों की पच्चीस लाख कुलकोटि। मनुष्यों की बारह लाख कुलकोटि[४] होती है।

(१४) योनि- पूर्वभव समाप्त होने पर संसारी जीव नया भव धारण करते है। इसके लिए उन्हें जन्म

---

१ संदर्भ गाथा-३४/३५,
२ संदर्भ गाथा-३६
३ संदर्भ गाथा-३६/३७
४ संदर्भ गाथा-४३/४४/४५/४६

लेना पडता है पर जन्म सबका एक सा नहीं होता। पूर्वभव का स्थूल शरीर छोडने के बाद अन्तराल गति से केवल तेजस-कार्मण शरीर के साथ आकर नवीन भव के योग्य स्थूल शरीर के लिए पहले पहले योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना जन्म है।

जन्म के तीन प्रकार हैं- संमूर्छन, गर्भ और उपपात। माता- पिता के सम्बन्ध के बिना ही उत्पत्तिस्थान में स्थित औदारिक पुद्गलों को पहले पहले शरीर रूप परिणत करना संमूर्च्छन जन्म है। उत्पत्ति स्थान में स्थित शुक्र और शोणित के पुद्गलों को पहले पहले शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भ जन्म है। उत्पत्ति स्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले पहले शरीर रूप में परिणत करना उपपात जन्म है।

योनि के प्रकार- जन्म के लिए स्थान आवश्यक है। जिस स्थान में पहले पहले स्थूल शरीर के लिए ग्रहण किये गए पुद्गल कार्मण शरीर के साथ गरम लोहे में पानी की तरह मिल जाते हैं उसी को योनि कहते हैं।

योनि नौ प्रकार की है। सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत-विवृत। **सचित्त-** जो जीव प्रदेशों से अधिष्ठित हो। **अचित्त-** जो जीव प्रदेशों से अधिष्ठित न हो। **मिश्र-**जो कुछ भाग में जीव प्रदेशों से अधिष्ठित हो कुछ भाग में न हो। **शीत-** जिस उत्पत्ति स्थान में शीत स्पर्श हो। **उष्ण-** जिसमें उष्ण स्पर्श हो। **मिश्र-** जिसके कुछ भाग में शीत तथा कुछ भाग में उष्ण स्पर्श हो। **संवृत-** जो उत्पत्ति स्थान ढका या दबा हो। **विवृत-** जो ढका न हो खुला हो। **मिश्र-** जो ढका तथा कुछ खुला हो।

किस स्थान में कौन कौन से जीव उत्पन्न होते हैं सो बताते हैं-

नारक और देव, गर्भज मनुष्य और तिर्यंच की अचित्त और मिश्र योनि (= सचित्ताचित्त) होती है, शेष सब जीव अर्थात् पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य की त्रिविध = सचित्त, अचित्त तथा मिश्र (सचित्ताचित्त) योनि होती है। गर्भज मनुष्य और तिर्यंच तथा देव की मिश्र (शीतोष्ण) योनि होती है। तेजःकायिक(अग्नि) उष्ण, शेष सब अर्थात्- चार स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय अगर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य तथा नारक की त्रिविध योनि- शीत, उष्ण और मिश्र (शीतोष्ण) योनि होती है। नारक, देव और एकेन्द्रिय की संवृत योनि होती है। गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य की मिश्र (संवृत विवृत) योनि होती है। शेष सब की अर्थात् तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच की विवृत योनि होती है[१]।

प्रश्न- योनि और जन्म में क्या अन्तर है?

उत्तर- योनि आधार है और जन्म आधेय। अर्थात् स्थूल शरीर के लिए योग्य पुद्गलों का प्राथमिक ग्रहण जन्म है। और ग्रहण जिस जगह हो वह योनि है।

योनियाँ- पृथ्वीकाय ७ लाख, अप्काय ७ लाख, तेजस्काय ७ लाख, वायुकाय ७ लाख, प्रत्येक वनस्पति काय १० लाख, साधारण वनस्पति काय १४ लाख, प्रत्येक विकलेन्द्रियों की दो-दो लाख, देवता, नरक, तिर्यंच पंचेन्द्रिय की चार चार लाख, १४ लाख मनुष्य। इस प्रकार कुल योनियाँ ८४ लाख[२] है।

---

१ संदर्भ गाथा - ४२/४३/४४, २ संदर्भ गाथा - ४७/४८

प्रश्न.- योनियाँ तो चौरासी लाख मानी जाती हैं फिर यहाँ नौ ही क्यों बताई गई है?

उत्तर.- चौरासी लाख योनियों का कथन विस्तार की अपेक्षा से किया गया है। पृथ्वीकाय आदि जिस जिस निकाय के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के तरतम भाव वाले जितने जितने उत्पत्तिस्थान है उस उस निकाय की उतनी ही योनियाँ चौरासी लाख योनि में गिनी गई है। यहां उन्हीं चौरासी लाख योनि के सचित्तादि संक्षिप्त रूप है।

योनि के अन्य प्रकार से भी तीन भेद है- १- कूर्मोन्नत योनि (कछुए के पीठ की तरह उन्नत योनि) २- शंखावर्त योनि (शंख की तरह आवर्तवाली योनि) ३- वंशीपत्र योनि (मिले हुए बाँस के दो पत्र के आकारवाली योनि)। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव इन ५४ उत्तम पुरुषों की माता की कूर्मोन्नत योनि होती है। चक्रवर्ती की स्त्रीरत्न की शंखावर्त योनि होती है। शंखावर्त योनि में जीव आते हैं गर्भ रूप से उत्पन्न होते हैं, संचित होते है किन्तु उत्पन्न नहीं होते। वंशीपत्र योनि सामान्य पुरुषों की माता की होती है।

(१५) **वेद-** वेद के तीन भेद है- स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

१) स्त्रीवेद- जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ भोग करने की इच्छा होती है वह स्त्रीवेद है। इस की कामाभिलाषा करीषाग्नि की तरह होती है। करीष सूखे गोबर को कहते हैं उसकी अग्नि जैसी जैसी जलाई जाय वैसी वैसी ही बढती जाती है, उसी प्रकार पुरुष के करस्पर्शादि व्यापार से स्त्री की अभिलाषा बढती है।

२) पुरुषवेद- जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ भोग करने इच्छा होती है वह पुरुषवेद है। इसकी कामाभिलाषा तृणाग्नि की तरह है। तृण की अग्नि शीघ्र ही जलती है और शीघ्र ही बुझती है, उसी प्रकार पुरुष को अभिलाषा शीघ्र होती है और स्त्रीसेवन के बाद शीघ्र ही शान्त होती है।

३) नपुंसकवेद- जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह नपुंसकवेद है। इस की कामाभिलाषा नगर के दाह के समान है। शहर में आग लगे तो बहुत दिनों तक नगर को जलाती है और उस आग को बुझाने में भी बहुत दिन लगते हैं। उसी प्रकार नपुंसकवेद के उदय से उत्पन्न हुई अभिलाषा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती और विषय सेवन से तृप्ति भी नहीं होती।

नारक और सम्मूर्च्छिम जीवों को नपुंसकवेद होता है। देवों को नपुंसकवेद नहीं होता, शेष दो होते हैं। शेष सब अर्थात् गर्भज मनुष्यों तथा तिर्यंचों के तीनों वेद होते हैं।

ये तीनों वेद द्रव्य और भाव रूप से दो-दो प्रकार के है द्रव्य वेद अर्थात् उपर का चिह्न, और भाववेद अर्थात् अभिलाषा विशेष[१] । किन जीवों के कितने वेद है उनका ग्रन्थानुसारेण चिन्तन करें।

(१६) कायस्थिति- काय का अर्थ पर्याय है। पर्याय सामान्य- विशेष के भेद से दो प्रकार का है। जीव का जीवत्व रूप पर्याय सामान्य है और नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप पर्याय विशेष पर्याय है। सामान्य अथवा विशेष पर्याय की अपेक्षा जीव का निरन्तर होना कायस्थिति है। यह स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट रूप से दो प्रकार की है। अथवा पृथ्वी आदि एक ही विवक्षित काय में एक ही जीव की मर मर कर निरन्तर पुनः पुनः उसी काय में उत्पत्ति कायस्थिति है। किन जीवों की कितनी कायस्थिति है उनका ग्रन्थानुसारेण चिन्तन करें[२]।

---

१ संदर्भ गाथा - ४९/५०, २ संदर्भ गाथा - ५२/५३/५४/५५/५६

(१७) संहनन- ६ हाडों का आपस में जुड जाना संहनन है। उसके छः प्रकार है- (१) वज्रऋषभनाराच संहनन (२) ऋषभनाराच संहनन (३) नाराच संहनन (४) अर्द्धनाराच संहनन (५) कीलिका संहनन (६) एवं सेवार्त या छेदवृत्त संहनन।

१) वज्र का अर्थ है खीला, ऋषभ का अर्थ है वेष्टन, और नाराच का अर्थ है दोनों तरफ मर्कट बन्ध। मर्कट बन्ध से बन्धी हुई दो हड्डियों के ऊपर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो, और तीन को भेदने वाला हड्डी का खीला जिस संहनन में पाया जाय उसे वज्रऋषभनाराच संहनन कहते हैं।

२) दोनों तरफ हाडों का मर्कट बन्ध हो, तीसरे हाड का वेष्टन भी हो, लेकिन तीनों को भेदने वाला हाड का खीला न हो तो ऋषभनाराच संहनन है।

३) जिस रचना से दोनों तरफ मर्कटबन्ध हो लेकिन वेष्टन और खीला न हो उसे नाराच संहनन कहते है।

४) अर्धनाराच संहनन- जिस रचना में एक तरफ मर्कट बन्ध हो और दूसरी तरफ खीला हो उसे नाराच संहनन कहते हैं।

५) कीलिका संहनन- जिस रचना में मर्कट बन्ध और वेष्टन न हो किन्तु खीले से हड्डियाँ आपस में जुडी हुई हो वह कीलिका संहनन है।

६) सेवार्त संहनन- जिस रचना में मर्कट, बन्धन, वेष्टन, खीला न होकर यों ही हड्डियाँ आपस में जुडी हो वह सेवार्त संहनन है। देव और नारक असंहननी होते हैं। इत्यादि जिन जीवों में जो जो संहनन पाये जाते हैं उनका शास्त्रानुसारेण चिन्तन करें[१]।

(१८) संस्थान- ६ शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। इसके छह भेद है-

१) समचतुरस्र संस्थान- सम का अर्थ है कोण अर्थात् पलथी मारकर बैठने से जिस शरीर के चार कोण समान हो, अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओं का अन्तर, दक्षिण स्कन्ध और वामजानु का अन्तर तथा वाम स्कन्ध और दक्षिण जानु का अन्तर समान हो तो वह समचतुरस्र संस्थान है।

२) न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान- बड के वृक्ष को न्यग्रोध कहते है। उस के समान जिस शरीर में नाभि से उपर के अवयव पूर्ण हो किन्तु नाभि से नीचे अवयव हीन हो तो वह न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान है।

३) सादि संस्थान- जिस शरीर में नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण और नाभि से ऊपर के अवयव हीन होते हैं उसे सादि संस्थान कहते हैं।

४) कुब्ज संस्थान- जिस शरीर के हाथ, पैर, सिर, गर्दन आदि अवयव ठीक हों किन्तु छाती, पीठ, पेट हीन हो उसे कुब्ज संस्थान कहते हैं।

५) वामन संस्थान- जिस शरीर में हाथ, पैर आदि अवयव हीन, छोटे हो और छाती पेट आदि पूर्ण हो उसे वामन संस्थान कहते है।

६) हुण्ड संस्थान- जिसके समस्त अवयव बेढंग हो- प्रमाण शून्य हो, उसे हुण्ड संस्थान कहते है।

गर्भज पंचेन्द्रिय, तिर्यंच और मनुष्य उपरोक्त छहों संस्थान वाले होते हैं। देव समचतुरस्र संस्थान वाले

---

१ संदर्भ गाथा - ५७/५८/५९/६०/६१, २ संदर्भ गाथा - ६२/६३/५४

होते हैं। शेष जीव- एकेन्द्रिय, नारक, विकलेन्द्रिय ये सभी हुण्डक संस्थान वाले होते है। पृथ्वीकाय का संस्थान मसूर जैसा है। पानी सिबुकाकार है। अग्निकाय सूई के आकार की होती है। वायुकाय पताकाकार है। एवं वनस्पतियों विविध आकार वाली होती है[२]।

(१९) अवगाहना- ३ । शरीरप्रमाण को अवगाहना कहते हैं। यह अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से पर्याय की अपेक्षा से दो प्रकार की है। तथा विषय के भेद से यह तीन प्रकार की है- जैसे औदारिक शरीर विषयक, भवधारिवैक्रियशरीर विषयक एवं उत्तरवैक्रियशरीर विषयक। जिन जीवों की जितनी अवगाहना होती है उनका ग्रन्थानुसारेण चिन्तन करें[१]।

(२०) कर्मों की मूल प्रकृति बन्ध- आठ कर्मों की मूल प्रकृतियाँ आठ है। कौन सा जीव किस समय आठ कर्मों की प्रकृतियों का बन्ध करता है उस का चिन्तन करें[२]।

(२१) कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ- कर्मों की १२० उत्तर प्रकृतियों का चिन्तन करें[३]।

(२२) समुद्घात- ७ । वेदना आदि के साथ एकीभाव यानी तद्रूप हो कर प्रबलता के साथ अशाता वेदनीय आदि कर्मों को नाश करना समुद्घात है। यह समुद्घात सात प्रकार का है- (१) वेदना (२) कषाय (३) मारणान्तिक (४) वैक्रिय (५) तैजस (६) आहारक (७) केवली। प्रथम छह समुद्घात छद्मस्थ जीवों के होते हैं। सातवाँ समुद्घात केवली का होता है।

नारकी में प्रथम चार समुद्घात पाये जाते है। देवता के १३ दण्डक में प्रथम के पाँच समुद्घात पाये जाते है। वायु में चार समुद्घात पाये जाते है। चार स्थावर एवं तीन विकलेन्द्रियों में प्रथम के तीन समुद्घात पाये जाते है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय में प्रथम पाँच समुद्घात पाये जाते है। एवं मनुष्य में सातों समुद्घात होते हैं।

केवली समुद्घात- किसी केवली भगवान के आयु कर्म की स्थिति थोडी रहती है और शेष तीन- वेदनीय नाम, गोत्र कर्मों की स्थिति अधिक होती है उस विषम स्थिति को आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिए केवली भगवान केवली समुद्घात करते हैं। जो केवली भगवान केवली समुद्घात करते है वे पहले आवर्जीकरण करते है। उसके बाद ही समुद्घात की प्रक्रिया करते है। आवर्जीकरण का काल असंख्यात समय प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का है। आवर्जीकरण का अर्थ है आत्मा को मोक्ष की और अभिमुख करना।

केवली समुद्घात में आठ समय लगते हैं। पहले समय में केवली भगवान ऊपर और नीचे लोक पर्यन्त चौडाई में अपने शरीर प्रमाण दण्ड करते हैं। दूसरे समय में कपाट, तीसरे समय में मन्थान करते हैं और चौथे समय में सारा लोक भर देते हैं। पाँचवें समय में लोक का संहरण करते है, छठे समय में मन्थान का सातवें समय में कपाट का और आठ वें समय में दण्ड का संहरण कर केवली भगवान शरीरस्थ हो जाते हैं। केवली समुद्घात में केवल काययोग की ही प्रवृत्ति होती है। काययोग में भी औदारिक, औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग इन तीन की ही प्रवृत्ति होती है, शेष चार काययोग की नहीं। पहले और आठवें समय में औदारिक काययोग प्रवर्तता है; दूसरे, छठे, सातवें समय में औदारिकमिश्र काययोग प्रवर्तता है और तीसरे चौथे व पाँचवें समय में कार्मण काययोग प्रवर्तता है। केवली; समुद्घात अवस्था में मुक्त नहीं होते। समुद्घात की समाप्ति के बाद ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं[४]।

---

१ संदर्भ गाथा - ६५/६६/६७/६८/६९/७०, २ संदर्भ गाथा - ७१ से ९९ तक
३ संदर्भ गाथा - १०० से १२१ तक तथा १२९ से १५२ तक, ४ संदर्भ गाथा - १२२/१२३/१२४
५ संदर्भ गाथा - १२५/१२६/१२७/१२८

(२४) कर्म बन्ध के मूल हेतु- ४ । कर्म बन्ध के मूल हेतु चार है- (१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कषाय (४) और योग[1]।

(२५) बन्ध हेतुओं के उत्तर भेद- ५७ । मिथ्यात्व- विपरीत श्रद्धानरूप जीव के परिणाम को मिथ्यात्व कहते है इसके पाँच भेद है- (१) आभिग्रहिक (२) अनाभिग्रहिक (३) आभिनिवेशिक (४) सांशयिक (५) अनाभोगिक।

१) तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही पक्षपात पूर्वक एक सिद्धान्त का आग्रह करना और अन्य पक्ष का खण्डन करना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

२) गुण दोष की परीक्षा किये बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

३) अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी उसकी स्थापना के लिए दुरभिनिवेश करना आभिनिवेशिक है।

४) इस स्वरूपवाला देव होगा या अन्य स्वरूप का? इसी तरह गुरु और धर्म के विषय में संदेहशील बने रहा सांशयिक मिथ्यात्व है।

५) विचार शून्य एकेन्द्रियादि तथा विशेष ज्ञान विकल जीवों को जो मिथ्यात्व होता है वह अनाभोगिक है।

अविरति के बारह भेद होते है। कषाय के नौ और सोलह, कुल पच्चीस भेद है। योग के पन्द्रह भेद। इस प्रकार सब मिलाकर बन्ध हेतुओं के उत्तर भेद सत्तावन होते हैं।

अशाता वेदनीय का बन्ध मिथ्यात्व आदि चारों कारणों से होता है। नरक त्रिक आदि सोलह प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्वमात्र से होता है। तिर्यंच-त्रिक आदि पैतीस प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व और अविरति से होता है। तीर्थंकर और आहारक द्विक को छोडकर शेष सब ज्ञानावरणादि पैंसठ प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति और कषाय इन तीन हेतुओं से होता है[1]। इत्यादि ग्रन्थानुसोरण चिन्तन करें ।

(२३) कषाय- कष का अर्थ है जन्म-मरण रूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो, उसे कषाय कहते हैं। अथवा कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ रूप आत्मा के परिणाम विशेष जो सम्यक्त्व, देशस्थिति, सर्वविरति और यथाख्यात चारित्र का घात करते हैं, वे कषाय कहलाते हैं। इसके चार भेद हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। प्रत्येक कषाय के चार भेद है-

(१) अनन्तानुबन्धी (२) अप्रत्याख्यानावरण (३) प्रत्याख्यानावरण (४) संज्वलन।

१) अनन्तानुबन्धी- जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है उस कषाय को अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। यह कषाय सम्यक्त्व का घात करता है एवं जीवन पर्यन्त रहता है। इस कषाय से जीव नरक गति योग्य कर्मों का बन्ध करता है।

२) अप्रत्याखानावरण- जिस कषाय के उदय से देशविरति रूप अल्प सा भी प्रत्याख्यान नहीं होता उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। इस कषाय के श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती यह कषाय एक वर्ष तक रहता है। और इससे तिर्यंचगति योग्य कर्मों का बन्ध करता है।

---

१ संदर्भ गाथा - १२९ से १५२ तक

३) प्रत्याख्यानावरण– जिस कषाय के उदय से सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यान रुक जाता है अर्थात् साधुधर्म की प्राप्ति नहीं होती वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है। यह कषाय चार मास तक बना रहता है। इस के उदय से मनुष्य गति योग्य कर्मों का बन्ध होता है।

४) संज्वलन– जो कषाय परिषह तथा उपसर्ग के आ जाने पर यतियों को भी थोडा सा जलाता है। अर्थात् उन पर भी थोडा सा असर दिखाता है उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। यह कषाय सर्वविरति रूप साधुधर्म में बाधा नहीं पहुँचाता किन्तु सब से उँचे यथाख्यात चारित्र में बाधा पहुँचाता है। यह कषाय एक पक्ष तक बना रहता है और इससे देवगति योग्य कर्मों का बन्ध होता है। ऊपर जो कषायों की स्थिति एवं नारकादि गति दी गई है। वह बाहुल्यता की अपेक्षा से है। क्यों कि बाहुबलि मुनि को संज्वलन कषाय एक वर्ष तक रहा था और प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का अनन्तानुबन्धी कषाय अन्तर्मुहूर्त तक रहा था। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय के रहते हुए मिथ्यादृष्टियों का नव ग्रैवेयक तक में उत्पन्न होना शास्त्र में वर्णित है।

क्रोध के चार प्रकार और उनकी उपमाएँ–

(१) अनन्तानुबन्धी क्रोध (२) अप्रत्याख्यान क्रोध (३) प्रत्याख्यान क्रोध (४) और संज्वलन क्रोध। इस प्रकार इसके चार भेद है।

१) अनन्तानुबन्धी क्रोध– पर्वत के फटने पर जो दरार होती है उसका पुनः जुडना कठिन है। उसी प्रकार जो क्रोध किसी उपाय से भी शान्त नहीं होता, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

२) अप्रत्याख्यान क्रोध– सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने पर दरार हो जाती है। जब वर्षा होती है तब वह फिर मिल जाती है। उसी प्रकार जो क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है वह अप्रत्याख्यान क्रोध है।

३) प्रत्याख्यान क्रोध– बालू में लकीर खींचने पर कुछ समय में हवा से वह लकीर वापिस भर जाती है। उसी प्रकार जो क्रोध उपाय से शान्त हो वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध है।

४) संज्वलन क्रोध– पानी में खींची हुई लकीर जैसे खींचने के साथ ही मिट जाती है। उसी प्रकार किसी कारण से उदय में आया हुआ जो क्रोध, शीघ्र ही शान्त हो जावे, उसे संज्वलन क्रोध कहते हैं।

मान के चार प्रकार–

(१) अनन्तानुबन्धी मान (२) अप्रत्याख्यान मान (३) प्रत्याख्यानावरण मान (४) संज्वलन मान ।

१) अनन्तानुबन्धी मान– जैसे पत्थर का खम्भा अनेक उपाय करने पर भी नहीं नमता। उसी प्रकार जो मान किसी भी उपाय से दूर न किया जा सके वह अनन्तानुबन्धी मान है।

२) अप्रत्याख्यान मान– जैसे हड्डी अनेक उपायों से नमती है। उसी प्रकार जो मान अनेक उपायों और अति परिश्रम से दूर किया जा सके वह अप्रत्याख्यान मान है।

३) प्रत्याख्यान मान– जैसे काष्ठ, तैल वगैरह की मालिश से नम जाता है। उसी प्रकार जो मान थोडे उपायों से नमाया जा सके वह प्रत्याख्यानावरण मान है।

४) संज्वलन मान– जैसे लता या तिनका बिना मेहनत के सहज ही नम जाता है। उसी प्रकार जो मान सहज ही छूट जाता है वह संज्वलन मान है।

माया के चार प्रकार

(१) अनन्तानुबन्धी माया (२) अप्रत्याख्यान माया (३) प्रत्याख्यान माया एवं (४) संज्वलन माया।

१) अनन्तानुबन्धी माया- जैसे बांस की कठिन जड का टेढापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार जो माया किसी भी प्रकार दूर न हो, अर्थात् सरलता रूप में परिणत न हो वह अनन्तानुबन्धी माया है।

२) अप्रत्याख्यान माया- जैसे मेंढें का टेढा सींग अनेक उपाय करने पर भी बडी मुश्किल से सीधा होता है। उसी प्रकार जो माया अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके वह अप्रत्याख्यान माया है।

३) प्रत्याख्यान माया- जैसे चलते हुए बैल से मूत्र की टेढी लकीर सूख जाने पर पवनादि से मिट जाती है उसी प्रकार जो माया सरलता पूर्वक दूर हो सके वह प्रत्याख्यान माया है।

४) संज्वलन माया- छीले जाते हुए बांस के छिलके का टेढापन बिना प्रयत्न के सहज ही मिट जाता है। उसी प्रकार जो माया बिना परिश्रम के शीघ्र ही अपने आप दूर हो जाय वह संज्वलन माया है।

लोभ के चार प्रकार- (१) अनन्तानुबन्धी लोभ (२) अप्रत्याख्यान लोभ (३) प्रत्याख्यान लोभ एवं (४) संज्वलन लोभ।

१) अनन्तानुबन्धी लोभ- जैसे किरमची का रंग किसी भी उपाय से नही छूटता। उसी प्रकार जो लोभ किसी भी उपाय से दूर न हो वह अनन्तानुबन्धी लोभ है।

२) अप्रत्याख्यान लोभ- जैसे गाडी के पहिए का कीटा (खंजन) परिश्रम करने पर अति कष्टपूर्वक छूटता है। उसी प्रकार जो लोभ अति परिश्रम से कष्टपूर्वक दूर किया जा सके वह अप्रत्याख्यान लोभ है।

३) प्रत्याख्यान लोभ- जैसे काजल का रंग अल्प परिश्रम से छूटता है। उसी तरह जो लोभ अल्प परिश्रम से दूर किया जा सके वह प्रत्याख्यान लोभ है।

४) संज्वलन लोभ- जैसे हल्दि का रंग सहज ही छूट जाता है। उसी प्रकार जो लोभ आसानी से स्वयं दूर हो जाय वह संज्वलन लोभ है।

(१) आभोग निवर्तित (२) अनाभोगनिवर्तित (३) एवं उपशान्त तथा (४) अनुपशान्त रूप से भी क्रोध चार प्रकार का कहा गया है।

१) आभोग निवर्तित- पुष्ट कारण होने पर यह सोच कर कि- ऐसा किये बिना इसे शिक्षा नहीं मिलेगी ऐसा क्रोध किया है वह आभोग निवर्तित क्रोध है। अथवा क्रोध का दुष्परिणाम जानता हुआ भी क्रोध करता है वह आभोग निवर्तित है।

२) अनाभोग निवर्तित- गुण-दोष का विचार किये बिना ही क्रोध करता है उसे अनाभोग निवर्तित कहते है।

३) उपशान्त- जो क्रोध सत्ता में हो लेकिन उदयावस्था में न हो वह उपशान्त क्रोध है।

४) अनुपशान्त- उदयावस्था में रहा हुआ क्रोध अनुपशान्त है।

---

१ संदर्भ गाथा - १५३ से १६५ तक

इसी प्रकार मान, माया और लोभ के चार चार प्रकार हैं[१]। इस द्वार में गुणस्थान के आधार पर कषाय के बंध, उदय और सत्ता के विषय में विचार किया है।

इस प्रकार संसारी जीव के विषय में २५ द्वारों का वर्णन कर ग्रन्थकार सिद्धों के विषय में २५ द्वारों का वर्णन करते है। सिद्ध जीव के विषय में २५ द्वार में से पांच द्वार ही होते है। सिद्ध को उपयोग द्वार में केवलज्ञान केवलदर्शन रूप दो उपयोग होते हैं । दृष्टि द्वार में क्षायिक-सम्यक्त्वरूप एक ही दृष्टि होते है। आगतिद्वार में मनुष्यगति से ही आगति होती है। स्थितिद्वार में सादि अनन्त कालरूप स्थिति होती है। अवगाहद्वार में जघन्य और उत्कृष्ट अवगाह होता है। शेष बीस द्वार सिद्धों को नहीं होते। क्योंकि सिद्धों में मिथ्यात्व आदि की संभावना नही होती[१]।

इस प्रकार ग्रन्थकार जीव के विषय में २५ द्वारों का वर्णन कर ग्रन्थ को समाप्त करते हुए कहते हैं कि-इस प्रकार पृथ्वी आदि पदों के आधार पर जीव,गुणस्थानक आदि द्वारों का चिंतन करने से शुभध्यान सिद्ध होता है। शुभध्यान से कर्म का नाश होता है और संसार का अंत होता है। अतः मलीन आत्मा को शुद्ध ध्यान से विशुद्ध कर जीवन को जन्म, जरा, मरण आदि के दुःखों से मुक्त करें। अंचलगच्छ के युगप्रधान आचार्य श्री आर्यरक्षित सूरिजी की परंपरा में आचार्य श्री जयसिंह सूरिजी हुए। उनके शिष्य आचार्य श्री धर्मघोष सूरिजी के शिष्य आचार्य श्री महेन्द्रसिंहसूरिजी ने वि.सं. १२८४ में स्वपर के कल्याण के लिए यह ग्रन्थ की रचना की है। मूल ग्रंथ १७० गाथा प्रमाण है और टीका २३०० श्लोक प्रमाण है। इस का अध्ययन पठन पाठन श्रवण करनेवाले भव्यात्मा सदा विजय को प्राप्त करें[२]।

– रूपेन्द्रकुमार पगारिया

---

१ संदर्भ गाथा – १६७/१६८

२ संदर्भ गाथा – १६९/१७०

विषयानुक्रम

गाथा	विषय	पत्राङ्क
१	मङ्गलाचरणम्।	१
३	पृथिव्यादित्रयोदशपदानि।	२
	वृत्तिः-ध्यानसम्पादनविधिः।	
४-५-६	पञ्चविंशतिध्येयस्थानानि।	४
७-८-९	ध्येययन्त्रनिर्माणविधिः।	५
१०	प्रथमं द्वारं- चतुर्दश जीवस्थानानि।	६
११-१२-१३	लब्ध्यपर्याप्त-करणापर्याप्तविचारः।	६
१४	पृथिव्यादिपदेषु जीवस्थानानि।	७
१५	द्वितीयं द्वारं- चतुर्दश गुणस्थानकानि।	७
	वृत्तिः- चतुर्दशगुणस्थानकविवरणम्।	
१६	पृथिव्यादिपदेषु चतुर्दशगुणस्थानानि।	१४
१७	तृतीयं द्वारं- पञ्चदश योगाः।	१५
	वृत्तिः- द्विचत्वारिंशद्विधभाषाविचारः।	
१८-१९	पृथिव्यादिपदेषु योगाः।	२२
२०	चतुर्थं- द्वादशविधोपयोगद्वारम्।	२२
२१-२२	पृथिव्यादिपदेषु उपयोगाः।	२२
२३-२४	उपयोगविषये सैद्धान्तिक-कार्मग्रन्थिकमतभेदः।	२३
२५	पञ्चमं पञ्चविधशरीरद्वारम्।	२९
	वृत्तिः- पञ्चानां शरीराणां कारणादिभिरष्टभिः भेदः।	
२६	पृथिव्यादिपदेषु शरीराणि।	२९
२६	षष्ठं षड्विधलेश्याद्वारम्।	२९
२७	पृथिव्यादिपदेषु लेश्याः।	३०
२८	सप्तमं त्रिविधदृष्टिद्वारम्।	३०
२८-२९	पृथिव्यादिपदेषु दृष्टयः।	३०
३०	अष्टमं षड्विधपर्याप्तिद्वारम्।	३२
३०-३१	पृथिव्यादिपदेषु पर्याप्तयः।	३२
३२	नवमं दशविधप्राणद्वारम्।	३४

३२-३३	पृथिव्यादिपदेषु प्राणाः।	३४
३४	दशमं द्विविधायुर्द्वारम्।	३५
३४-३५	पृथिव्यादिपदेषु जघन्योत्कृष्टायुः एकादशं गतिद्वारं च।	३५
३६	द्वादशम् आगतिद्वारम्।	३६
	गति-आगति व्याख्या।	
३७-३८	पृथिव्यादिपदानाम् गत्यागती।	३६
३९	त्रयोदशं कुलद्वारम्।	३८
४०-४१-४२	योनि-कुलस्वरूपवर्णनम्।	३८
४३	कुलानां सङ्ख्या।	४०
४४-४५-४६	पृथिव्यादिपदेषु कुलानि।	४०
४७-४८	चतुर्दशं योनिद्वारम्।	४१
	पृथिव्यादिपदेषु योनयः।	
४९-५०	पञ्चदशं त्रिविधवेदद्वारम्।	४२
	वेदव्याख्या।	
५१	पृथिव्यादिपदेषु वेदाः।	४२
५२	षोडशं कायस्थितिद्वारम्।	४२
५२-५३	पृथिव्यादिपदेषु जघन्योत्कृष्टा कायस्थितिः।	४२
५४	असङ्ख्यातानन्तसङ्ख्ययोः प्रमाणम्।	४३
५५-५६	पृथिव्यादिपदेषु कायस्थितिः।	४४
५७-५८-५९	सप्तदशं षड्विधसंहननद्वारम्।	४४
६०-६१	पृथिव्यादिषु संहननानि।	४५
६२-६३	अष्टादशं षड्विधसंस्थानद्वारम्।	४७
६४	पृथिव्यादिपदेषु संस्थानम्।	४८
६५	एकोनविंशतितमं द्विविध-अवगाहनाद्वारम्।	४९
६६-६७	पृथिव्यादिपदेषु अवगाहना।	४९
६८-६९-७०	भवधारि-उत्तरवैक्रियतनुमानम्।	५०
७१	विंशतितमं कर्मणां मूलप्रकृतिबन्धद्वारम्।	५१
७२-७३	पृथिव्यादिपदेषु मूलप्रकृतिबन्धः।	५१
७४-७५	ज्ञानदर्शनावरणान्तरायकर्मणां एकेन्द्रिये बन्धस्थितिः।	५१
७६	वृत्तिः- मूलोत्तरप्रकृत्योः जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धविचारः।	५९
७७-७८-७९	वेदनीय कर्मणः बन्धस्थितिः।	६१
८०-८१	मोहनीय कर्मणः बन्धस्थितिः।	६१
८२-८३-८४-८५-८६	नामगोत्रकर्मणोः बन्धस्थितिः।	६१

८७-८८	अबाधाकालोदयकालसहितायुःकर्मणः बन्धस्थितिः।	६२
८९-९०-९१-९२-९३	लघुमध्यगुरु-अबाधात्रय-लघुमध्यगुरु-आयुबन्धत्रयाभ्यां नवभङ्गिका।	६३
९४	आयुर्बन्धगतविशेषः।	६५
९५-९६	पृथिव्यादिपदेषु आयुर्बन्धस्थितिः।	६५
९७-९८	स्थितिविषयम्, अबाधाविषयम्, उदयविषयं कालप्रमाणम्।	६६
९९	एकविंशतितमं विंशत्युत्तरशतविधोत्तरप्रकृतिबन्धसङ्ख्याद्वारम्।	६७
१००-१०१-१०२	पञ्चविंशतिनां, षोडशानां च प्रकृतीनां निरूपणम्।	६७
१०३-१०४	सिद्धान्ताभिप्रायेण कर्मग्रन्थाभिप्रायेण च आद्यगुणस्थानकद्वये उत्तरप्रकृतिबन्धसङ्ख्या।	६८
१०५-१०६-१०७	तेजो-वायु-द्वीन्द्रियादिपदानां प्रकृतिबन्धसङ्ख्या।	६८
१०८-१०९	तिरश्चां प्रकृतिबन्धसङ्ख्या।	६९
११०-१११-११२-११३- ११४-११५-११६-११७-	मनुष्याणां प्रकृतिबन्धसङ्ख्या।	६९
११८-११९-१२०-१२१	गुणस्थानकान्याश्रित्य सुराणां नारकाणां च प्रकृतिबन्धसङ्ख्या।	७१
१२२-१२३	द्वाविंशतिमम् सप्तविधसमुद्घातद्वारम्। पृथिव्यादिपदेषु समुद्घाताः।	७१
१२४	केवलिसमुद्घातकर्तुः विचारः।	७४
१२५	कर्मबन्धे चतुर्विधमूलहेतुद्वारम्।	७४
१२६-१२७-१२८	गुणस्थानकान्याश्रित्य पृथिव्यादिपदेषु मूलहेतवः।	७४
१२९-१३०	कर्मबन्धे सप्तपञ्चाशद्विधोत्तरहेतुद्वारम्।	७५
१३१-१३२	सिद्धान्ताभिप्रायेण पृथिव्यादिपदेषु उत्तरहेतवः।	७५
१३३	कार्मग्रन्थिकमतेन पृथिव्यादिपदेषु उत्तरहेतवः।	७५
१३४-१३५	एकेन्द्रियाणां हासाद्युदयसम्बन्धिनी शङ्का तत्समाधानं च	७५
१३६-१३७-१३८	द्वीन्द्रियादिषु उत्तरहेतवः।	७६
१३८-१३९-१४०	विकलामनस्केषु सास्वादनगुणस्थानके औदारिक-कायेन्द्रिययोः निषेधविषये शङ्का तत्समाधानञ्च।	७७
१४१-१४२-१४३	गुणस्थानकान्याश्रित्य सञ्ज्ञितिर्यक्षु उत्तरहेतवः।	७७
१४४	गुणस्थानकान्याश्रित्य नरेषु उत्तरहेतवः।	७७
१४५-१४६-१४७- १४८-१४९-१५०-१५१	षष्ठादिगुणस्थानकान्याश्रित्य नरेषु उत्तरहेतवः।	७७
१५१(वृत्ति)	शतक-तद्वृत्त्यनुसारेण बन्धजनका विशेषहेतवः।	७८
१५३-१५४-१५५ १५६-१५७-१५८	पृथिव्यादिपदेषु कषायाणां गुणस्थानकमाश्रित्य बन्धोदयसत्ताविचारः।	८२

१५९-१६०	क्षपकाश्रितकषायसत्ताविचारः।	८४
१६१-१६२-१६३-१६४	उपशमकाश्रितकषायसत्ताविचारः।	८४
१६५-१६६-१६७	सिद्धानां जीवस्थानकादिविचारः।	८५
१६८	प्रकरणोपसंहारः।	८५
१६९	प्रकरणकर्तृपरिचयः रचनाकालश्च।	८६
१७०	अन्तिमोपदेशः।	८७

परिशिष्टानि

१.	मनःस्थिरीकरणप्रकरणं मूलमात्रम्।	८९
२.	मनःस्थिरीकरणप्रकरणस्य श्लोकार्द्धानुक्रमः।	९५
३.	उद्धरणस्थलसङ्केतः।	१००
४.	मनःस्थिरीकरणयन्त्रकाणि।	१११
५.	मनःस्थिरीकरणविचारः। (आ.श्री सोमसुन्दरसूरिः)	१२१
६.	प्रकृतिबन्धविचारः (आ.श्री महेन्द्रसिंहसूरिः)	१३७
७.	आयुःसारसङ्ग्रहः (आ.श्री महेन्द्रसिंहसूरिः)	१३९
८.	सम्पादनोपयुक्तग्रन्थसूचिः।	१४२

अञ्चलगच्छीय आचार्यश्रीमहेन्द्रसूरिकृतं

स्वोपज्ञवृत्तियुतं

।। मन:स्थिरीकरणप्रकरणम्।।

।।श्री।। नम: श्रीमद्देवगुरुपदपङ्कजेभ्य:।।

प्रणिपत्य जिनं वीरं मन:स्थिरीकरणदुर्गमपदानाम्। पर्यायमात्रलिखनं विदधे स्वपरोपकाराय।।

इह मन:स्थिरीकरणप्रकरणप्रारम्भे शिष्टसमयपरिपालनार्थं मङ्गलाभिधेयप्रयोजनसम्बन्धप्रतिपादिकां तावदादाविमां गाथामाह–

[मूल] नमिऊण वद्धुमाणं, चलस्स चित्तस्स किंचि थिरकरणं ।
सपरोवयारहेउं, गुरूवएसेण वोच्छामि ।।१।।

[व्याख्या] **नमिऊणत्ति**। नत्वा श्रीवर्धमानं = श्रीसिद्धार्थभूपालनन्दनं चतुर्विंशतितमजिनम्। **चलेत्यादि**। इह हि समदकरिकर्णाघात इव, निजरङ्गरङ्गत्तुङ्गतुरङ्गवालधिरिव महाकल्लोलिनीहृदयदयितकल्लोलमालेव, प्रासादोच्चैस्तरशिखरशिरोऽग्रभागप्रतिष्ठितध्वजदण्डाग्रावस्थिताखण्डवैजयन्तीपटप्रान्त इव प्रायेण सर्वस्यापि चञ्चलस्वभावं चेत:। कपिवच्च बहिर्विषयव्यापारं विना कदाचिदपि स्थिरं न भवति। ततः तज्जिनोपदेशरज्जुभि: सम्यग् नियम्य शुभध्यानारामे रमयितव्यमिति श्रुतोपदेशः। ततोऽत्रापि तस्यैव सदैव चञ्चलस्वभावस्य विषयव्यापरणशीलस्य चेतस:, किञ्चिदिति अल्पाल्पं न पुनर्विस्तरेण स्थिरीकरणमिति स्थैर्यहेतुं उपदेशं स्वपरोपकारहेतवे गुरूपदेशेन वक्ष्यामीति सम्बन्ध:। यस्माच्च मन:स्थिरतया सद्ध्यानवृद्धिस्तया च क्रमेण दुष्टाष्टकर्मक्षयः तस्माच्च नित्यानन्दमयमहानन्दपदप्राप्तिरित्यतो भवति मन:स्थिरीकरणप्रकरणं स्वपरोपकारकारणमिति।

अत्र च प्रथमपादेन विघ्नव्रातविघातनिमित्तेनेष्टदेवतास्तवनेन मङ्गलमुक्तम्। द्वितीयेन प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यर्थमभिधेयमभ्यधायि। तृतीयेन तु प्रयोजनम्, तच्च द्विधा–कर्तृगतं श्रोतृगतं च। द्विविधमपि अनन्तरपरम्परभेदात् पुनर्द्विधा। तत्र कर्तुरनन्तरप्रयोजनं सत्त्वानुग्रह:। श्रोतुश्च मन:स्थिरीकरणप्रकरणार्थाधिगम:। परम्परन्तु द्वयोरपि मन:स्थिरताहेतूनां प्रकाशनपरिज्ञानाभ्यां परमपदप्राप्तिरिति। चतुर्थांशेन पुनरागमानुसारिण: प्रति गुरुपर्वक्रमलक्षण: सम्बन्ध: साक्षादाख्यातः, तर्कानुसारिण: प्रति तु प्रकरणप्रयोजनयोरुपायोपेयलक्षण: प्रकरणाभिधेययोश्च वाच्यवाचकस्वरूप: स्वत एव भणनीय इति गाथार्थ:।।१।।

इह हि अति गम्भीरापारसंसारपारावारविहारिणा भव्यजन्तुना कथमपि चोल्लकादिभिर्दर्शभिर्दृष्टान्तैरतिनिबिड – शैवलवलयाच्छादितमहाह्रदविवरविनिर्गतग्रीवकच्छपेनेव निरवकरकरनिकरप्रसरविधुरितान्धकारतारतारकनिकर–परिकरितकौमुदीशशाङ्कमण्डलदर्शनमिवावाप्यातिदु:प्रापां जिनधर्मान्वितां मानुषत्वादिकां समग्रसामग्रीं सपदि नित्या–नन्दपरमानन्दपदप्राप्तये कर्मक्षपणाय यतितव्यम्। तस्य च यद्यपि–

जोगे जोगे जिणसासणंमि दुक्खक्खया पउंजंते। एक्केक्कम्मि अणंता वट्टंता केवली जाया ।।

(ओघनिर्युक्ति-२७८)

इति वचनादावश्यकस्वाध्यायध्यानधर्मदेशनाप्रत्युपेक्षणायदिसमितिगुप्तिदानशीलचरणकरणसमाचरणादयो बहवोऽप्युपाया: सन्ति तथापि तेषु सर्वेष्वपि ध्यानरूप एवोपायो विशिष्टतर इत्याह-

[मूल] कम्मस्स खवणहेऊ, परमो झाणं जिणेहिं निद्दिट्ठो ।
झेयं च तत्तनवगं, तत्थवि जियतत्तमाइतओ ।।२।।

[व्याख्या] इह परोपकारैकनिस्तन्द्रैर्जिनेन्द्रचन्द्रैर्दुष्टाष्टकर्मारिवर्गक्षपणाय तीक्ष्णतरशस्त्रसदृशं ध्यानमुक्तम्। तथाहि- **संवरविनिज्जराओ मोक्खस्स पहो तवो पहो तासिं। झाणं च पहाणंगं तवस्स तो मोक्खहेऊ तं।।**

अंबरलोहमहीणं कमसो जह मलकलंकपंकाणं। सोज्झावणयण सो से साहेंति जलानलाइच्चा।।
तह सोज्झाइ समत्था जीवं वरलोहमेइणिगयाणं। झाणजलानलसूरा कम्ममलकलंकपंकाणं।।
तावो सोसो भेओ जोगाणं झाणओ जहा णिययं। तह तावसोसभेया कम्मस्स विज्झाइणो नियमा।।

अत्र तापो दु:खं तत एव शोषो [तत एव] दौर्बल्यं तत एव भेद: = अङ्गोपाङ्गानां पीडनम्।

जह रोगासयसमणं विसोसणविरेयणोसहविहीहिं। तह कम्मामयसमणं झाणाणसणाइजोगेहिं।।

(ध्यानशतकम्-९६-१००)

यथा रोगाशयशमनरोगनिदानं चिकित्सा विशोषणविरेचनौषधिविधिभि: = अभोजनविरेचनौषधप्रकारै-स्तथा कर्मामयशमन = कर्मरोगचिकित्सा ध्यानाऽनशनादिर्भिर्योगैरादिशब्दाद् ध्यानवृद्धिकारकशेषतपोभेदग्रहणमिति गाथार्थ:।

जह चिरसंचियमिंधणमनलो पवणसहिओ दुयं डहइ। तह कम्मिंधणममियं खणेण झाणानलो डहइ।।
जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति। झाणपवणावधूया तह कम्मघणा विलिज्जंति।।

(ध्यानशतकम्-१०१-१०२)

इत्यादि कियदुच्यते? तस्य च ध्यानस्य चतुर्विधत्वेऽप्यार्तरौद्रयोस्तिर्यग्गतिनरकगतिहेतुत्वेन त्याज्यत्वात्, शुक्लध्यानस्य च पूर्वगतश्रुतधरै: प्रशस्तसंहननादिभिश्च ध्येयत्वात् पारिशेष्यादिहाधुना धर्मध्यानमेव विधेयतयावशिष्यते। तस्य च यद्यपि

खिइवलयदीवसागरनिरयविमाणभवणाइसंठाणं। वोमाइपइट्ठाणं नियय लोगट्ठिईविहीणं।।

(ध्यानशतकम्-५४)

इत्यादयो बहवोऽपि ध्येयविशेषा: सन्ति तथापि **झेयं चेत्यादि**। इह क्षितिवलयादिषु बहुष्वपि ध्यातव्येषु प्रथमं तावज्जीवाजीवपुण्यपापाश्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाख्यं तत्त्वनवकमेव ध्येयम्। तत्रापि च तत्त्वनवके जीवतत्त्वमादिभूतं = प्रथमासनिकम्। **तउ त्ति**। ततोऽस्य च तत: शब्दस्योत्तरगाथया सम्बन्ध:।।२।।

सा चेयं-

[मूल] पुढवीजलग्गिमरुतरुबितिचउखदुविहपणिंदितिरिएसुं ।
मणुनिरसुरेसु झायसु, जियगुणठाणाइ जीवगुणे ।।३।।

[व्याख्या] इहातिसङ्क्षिप्ततरे विवरणके गाथानामक्षरार्थ: शब्दव्युत्पत्तिसंस्कारश्च स्वयमेव व्याख्यातृ-

श्रोतभिर्विधेयः। केवलमिह समुदायार्थमात्रमेव कासाञ्चिदेव गाथानां भणिष्यते, न सर्वासाम्। तत्रापि प्राकृतत्वात्सूत्रे सामस्त्येनानिबद्धस्य सूचामात्रेण सूचितस्य विवक्षितार्थस्य क्रियाकारकसम्बन्धेन सम्पूर्णीकृत्य प्रदर्शने प्राकृत-ग्रन्थव्याख्यानलक्षणं हेतुस्तच्चेदम्। नन्वत्र सूत्रे एतदनभिहितमपि अन्यथाभिहितमपि वा कस्मादित्थं व्याख्यायते? इति चेदुच्यते, प्राकृतत्वात्, क्वापि सूचामात्रकृत्त्वात्सूत्रस्य, क्वाप्युपलक्षणव्याख्यानात्, एवं पदैकदेशे पदसमुदायो-पचारात्, विभक्तिव्यत्ययात्, वचनव्यत्ययात्, लिङ्गव्यत्ययात्, विभक्तिलोपात्, क्रियाध्याहारात्, सम्भवच्चशब्दा-द्यध्याहारात्, ह्रस्वानुस्वारद्विर्भावानां यथौचित्येन भावाभावाभ्याम्, बहुवचनप्रयोगेऽपि द्विवचनस्य षष्ठीस्थानेऽपि चतुर्थी व्याख्यानात्, अकारप्रश्लेषात्, एवमन्यान्या **प्राकृतं बहुलमिति** (सिद्धहेम.८.१.२) वचनाल्लब्धेभ्यः पूर्वविद्वज्जनप्रतिपादितेभ्यो विशेषलक्षणेभ्यः सूत्रे साक्षादनभिहितापि विविक्षतार्थसङ्गतिर्विधेयेति। तथा भगवतीवृत्तौ श्रीमदभयदेवसूरिभिरप्युक्तम्-

क्वचित्सौत्र्या शैल्या क्वचिदधिकृतप्राकृतवशात् क्वचिच्चार्थापत्त्या क्वचिदपि समारोपविधिना।
क्वचिच्चाध्याहारं क्वचिदविकलप्रक्रमबलादियं व्याख्या ज्ञेया क्वचिदपि तथाम्नायवशतः।।

(भगवतीवृत्तिः ?)

तथा विभक्त्यन्तपदावसाने केवलयोरेकारौकारयोः क्वापि लघुतापीत्यादि।

अथ प्रस्तुतगाथार्थः प्रतन्यते। यस्मात्तत्त्वनवके जीवतत्त्वमादिभूतं पूर्वमुक्तं ततस्तस्यैव जीवतत्त्वस्येह जीवस्थानकगुणस्थानकादीन् पञ्चविंशतिसङ्ख्यान् जीवगुणान् जीवपर्यायान् ध्याय = मनोवाक्कायान् सम्यगेकाग्री-कृत्य चिन्तयेति सम्बन्धः।

अथ केष्वाधारेषु चिन्तयामीत्याह-**पुढवीत्यादि।** पृथव्युदकाग्निमरुत्तरुद्वित्रिचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यनारकदेवलक्षणेषु त्रयोदशसु स्थानेष्विति गाथाक्षरार्थः।

अथ 'जीवतत्त्वस्वरूपं ध्याय' इत्यनेन धर्मध्यानं विधेयतयोक्तम्। ततः पूर्वमनभ्यस्तध्यानेन तत्प्रथमतया ध्यानाभ्यासं चिकीर्षता स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितः तदुत्थागन्तुकहरितबीजादिकुन्थुपिपीलिकादंशमशकादिजन्तुसङ्घा-तसम्पातरहितो जनसञ्चाराभावात् निराकुलो मनोज्ञेतरशब्दादिपञ्चकध्यानकण्टकसम्पातमुक्तः तथाविधशीतवाता-तपाद्याबाधासम्बन्धपरित्यक्त एकान्तरूपः क्षेत्रविभागः समाश्रयणीयः। तथा कालोऽपि मध्यरात्ररजनीपश्चिमया-मादिर्दिनमध्याह्नरूपो वा अन्यान्यकार्यविधिविधानसन्धानरहितः। किं बहुना? सर्वैरपि व्याक्षेपहेतुभिर्निद्रा-प्रचलाऽऽलस्यादिभी रहितो ध्यानप्रवर्तनहेतुः। तथा देहावस्थायां च ध्याता स्वयं पूर्वाभिमुख उत्तराभिमुखो वा। पर्यङ्कासनस्थो नाभेरधस्तात् परस्पराभिमुखमूर्ध्वाधो भावेन व्यवस्थापितोत्तानीकृतसरलिताङ्गुलिकरकमलयुगलो नासाग्रभागनिवेशितस्थिरतरतार-कनीनिकानुगतलोचनद्वितयो, मनसा प्रस्तुतध्येयं विना अन्यत् किमपि अचिन्तयन्, वचसा च किमप्यजल्पन्, वपुषा चान्यत् किमप्यचेष्टमानः, चक्षुःश्रोत्राद्युपयोगं चान्यमकुर्वाणः, केवलमनोवृत्त्यैव जीवाजीवादितत्त्वगतस्वभावभावनतत्परः स्यादिति। इत्थं च सततविहितध्यानाभ्यासाच्चि-कीर्षानन्तरमेव प्रवर्तमानधर्मध्यानः सन् यत्रापि तत्रापि देशे जनशून्ये वा जनाकीर्णे वा, कालेऽपि यत्र तत्र वा दिवसनिशाविभागे, यदा क्षणिकः (सनिकः) शरीरावस्थायामप्यूर्ध्वस्थितो निषण्णो निर्विण्णो वा निश्चलीकृतयोग-त्रयो धर्मध्यानं विदध्यादिति। उक्तं चात्र-

निच्चं चिय जुवइ पसु नपुंसग कुसील वज्जियं जइणो। ठाणं वियणं भणियं विसेसओ झाणकालंमि।।
थिरकयजोगाणं पुण मुणीण झाणेसु निच्चलमणाणं। गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व न विसेसो।।
तो जत्थ समाहाणं होइ मणोवायकायजोगाण। भूउवरोहरहिओ सो देसो झायमाणस्स।।

कालोवि सुच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ उ। दिवसनिसावेलाइनियमणं झाइणो भणियं।।
जच्चिय देहावत्था जिया न झाणोव्वरोहिणी होइ। झाइज्जा तयवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा।।
सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं कालदेसचिट्ठासु। वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा।।
तो देसकालचिट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि। जोगाण समाहाणं जह होइ तहा पयइअव्वं।।

(ध्यानशतकम्–३५–४१) इत्यादीति गाथार्थ:।।३।।

अथ यदुक्तं– 'जीवगुणस्थानकादीन् जीवतत्त्वगुणान् ध्याय' इति तत्र के ते जीवगुणा: कति सङ्ख्याश्चेति गाथाद्वयेन दर्शयति–

[मूल] जियगुणठाणा जोगोवओग तणु लेस दिट्ठि पज्जत्ति ।
पाणाउ आगइगई, कुल जोणी वेय कायठिई ।।४।।
संघयणं संठाणावगाह मूलियरपयडिबंधदुगं ।
समुघाय दुविहहेऊ, कसाय इइ झेयपणवीसा ।।५।।

[व्याख्या] इह स्थानशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् जीवस्थानक–गुणस्थानक–योग–उपयोग–तनु–लेश्या–दृष्टि–पर्याप्ति–प्राण–आयुष्क–आगति–गति–कुलकोटि–योनिलक्ष–वेद–कायस्थिति–संहनन–संस्थान–अवगाह–मूलप्रकृतिबन्ध–उत्तरप्रकृतिबन्ध–समुद्घात–कर्मबन्धमूलहेतु–उत्तरहेतु–कषाय(या:) इत्येवंरूपा जीवत–त्त्वगुणा: पञ्चविंशतिसङ्ख्या इह ध्यातव्या इति सम्बन्धसूत्र(म्)। जीवस्थानानि सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियादीनि चतुर्दश, गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादीनि चतुर्दश, योगा: सत्यमन:प्रभृतय पञ्चदश, उपयोगा: मतिज्ञानादयो द्वादश, तनव औदारिकाद्या: पञ्च, लेश्या: कृष्णादिका: षट्, दृष्टय: सम्यग्दृष्ट्यादिकास्तिस्रः, पर्याप्तय आहारपर्याप्त्यादिका: षट्, प्राणा: स्पर्शनेन्द्रियादयो दश, आयुर्जघन्यादिकं त्रिविधं, आगतयो नारकागत्याद्याश्चतस्रः, गतयो नरकतिर्य–ङ्नरामरशिवगतिरूपाः पञ्च, कुलानीहैव त्रयोदशमद्वारे वक्ष्यमाणस्वरूपाणि एककोटिकोटि–सप्तनवतिकोटिलक्ष–पञ्चाशत्कोटिसहस्रप्रमाणानि १९७५ शून्यानि–११, योनयोऽपि तत्रैव द्वारे वक्ष्यमाणा चतुरशीतिलक्षसङ्ख्या ८४ शून्यानि–५, वेदा: स्त्रीवेदादयस्त्रय:, कायस्थिति: पृथिव्यादीनां मृत्वा मृत्वा पुन:पुनस्तत्रैव काये जन्मरूपा जघन्यादिका त्रिविधा, संहननानि अस्थिसम्बन्धरचनाविशेषरूपाणि वज्रऋषभ–नाराचादीनि षट्, संस्थानानि शरीराकारविशेषरूपाणि समचतुरस्रादीनि षट्, अवगाहस्तनुप्रमाणं जघन्यादि त्रिविधम्, मूलप्रकृतयो ज्ञानावरणाद्या अष्टौ, उत्तरप्रकृतयो बन्धमाश्रित्य मतिज्ञानावरणादिका विंशत्युत्तरशतसङ्ख्या:, समुद्घाता वेदनादिका: सप्त, कर्मबन्धस्य मूलहेतवो मिथ्यात्वादयश्चत्वार:, उत्तरभेदास्तु आभिग्रहिकमिथ्यात्वादय: सप्तपञ्चाशत्, कषाया अनन्तानुबन्धिक्रोधादय: षोडशेति पञ्चविंशतेरपि द्वाराणां सङ्ग्रहपार्थः, विस्तरार्थस्तु प्रतिद्वारं यथावसरं पुनर्भणिष्यत इति गाथाद्वयार्थ:।।४।।५।।

अथ निर्विशेषतया पञ्चविंशतौ द्वारेषु ध्येयतया उक्तेष्वपि एकादशसु द्वारेषु सार्द्धगाथया विशेषमाह–

[मूल] तत्थ वि गुणउवओगा दिट्ठी मुण सुत्तकम्मगंथेहिं ।
आउठिईकायठिईवगाहकम्माणि लहुगुरुत्तेहिं ।।६।। गीति:[१] ।।
उत्तरपयडि तह दुह हेऊ य कसाय पइगुणं चउरो ।

---

१ आर्याप्रथमदलोक्तं यदि कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः ।
दलयोः कृतयतिशोभां तां गीतिं गीतवान् भुजङ्गेशः ।। वृत्तरत्नाकरः–८।

[व्याख्या] तत्रापि = पञ्चविंशतिद्वाराणां मध्ये गुणस्थानक-उपयोग-दृष्टिलक्षणानि त्रीणि द्वाराणि सूत्राभिप्रायेण कर्मग्रन्थाभिप्रायेण च द्विधा **मुण** = जानीहि। ततस्तथैव ध्यायेति सम्बन्ध:। तथा आयुः स्थितिः कायस्थितिरवगाहः कर्माणीति चत्वारि द्वाराणि गुरुत्वलघुत्वाभ्यां जघन्यत्वोत्कृष्टत्वाभ्यां चिन्तयेति सण्टङ्कः ।।६।।

तथा **उत्तरेत्यादि**। उत्तरप्रकृतयस्तथा द्विधा हेतव इति कर्मबन्धस्य मूलहेतव उत्तरहेतवश्च कषायाश्चेति चत्वारि द्वाराणि प्रतिगुणस्थानमिति। अयमभिप्राय:- इह पृथिव्यादिके गृहत्रयोदशके यत्र यत्र गृहे यावन्ति गुणस्थानानि भवन्ति तत्र तत्र गृहे तावत्सु गुणस्थानकेषु पृथक् पृथग् उत्तरप्रकृत्यादीनि चत्वारि द्वाराणि ध्येयानीति सम्बन्ध:। तथैष मन:स्थिरीकरणार्थ: सूत्रेण सम्यग् भण्यमानोऽपि यदि यन्त्रकालेखनेन अङ्कतोऽपि प्रदर्श्यते तदा विशेषेण श्रोतृणां प्रतीतिमायाति ध्यातृ-व्याख्यातृणां च त्रिविधयोगनिरोधेन सम्पूर्णध्यानविधायी च स्याद्। उक्तं च-

मणसा वावारिंतो कायं वायं च तप्परीणामो। भंगियसुयं गुणंतो वट्टइ तिविहेवि झाणंमि।।

(आवश्यकनिर्युक्ति-१४७८) तथा-

अत्थोहाए तस्सेव माणसं भासणेण पुण वयणं। होइ च्चिय सुनिरूद्धो तल्लिहणाईहिं पुण काओ।।

( ) इति।। ६।।

यन्त्रकलिखनोपाय: सार्द्धगाथया दर्श्यते-

[मूल] चउदस उट्ठाहगिहा, मंगलपुढवीजलाईया ।।७।।
मंगल जियगुणमाई, तिरियं पणतीस जं तिहवगाहो ।
अडमूलपयडिएगं, मूलगिहं सेस तेवीसा ।।८।।

[व्याख्या] भूमिपट्टकादौ तिर्यगायताभि: पञ्चदशभी रेखाभिरूर्ध्वायताभिश्च षडत्रिंषता रेखाभिर्नवत्य-धिकचतु:शतीगृहात्मकं प्रथमायामूर्ध्वाध:पङ्क्तौ मङ्गलपदपृथ्वीजलादिपदयुक्तानि चतुर्दशगृहाणि भवन्ति। अथ तिर्यक्पङ्क्तिगृहसङ्ख्यां सङ्ख्योपायं चाह- **मंगलजियगुणेत्यादि**। तिर्यगायतप्रथमपङ्क्तौ तु मङ्गलपदजीव-स्थानकगुणस्थानकादिपदोपेतानि पञ्चत्रिंशद्गृहाणि भवन्तीति। ननु पञ्चविंशत्या द्वारै: कथं पञ्चत्रिंशद् गृहाणीति ? उच्यते- **जं तिहेत्यादि**। यस्मादवगाहनाद्वारं त्रिधा मूलकर्मप्रकृतिद्वारं चाष्टधा एकं च मौलं मङ्गलपदगृहं त्रयोविंशतिश्च यथावस्थितद्वाराणीति सर्वमीलने पञ्चत्रिंशदिति।।७।।८।।

अथानन्तरं यद्विधेयं तदाह-

[मूल] इय भूमिपट्टगाइसु, जंतं लिहिऊं पडं व ठविऊणं ।
तो गिहअंके दिंतो, चिंततो वा सरसु सुत्तं ।।९।।

[व्याख्या] सुगमा[1]।।९।।

अथ यथोद्देशं तथा निर्देश: इति न्यायात् प्रथमं जीवस्थानद्वारमभिधीयते। तत्र जीवति = प्राणान् धारयतीति जीव:। क इत्थम्भूत ? इति चेदुच्यते- यो मिथ्यात्वादिकलुषितरूपतया सातवेदनीयादिकर्मणाम-

१ चतुर्थं परिशिष्टं द्रष्टव्यम् ।

भिनिवर्तकः तत्फलस्य च विशिष्टसातादेरुपभोक्ता, नरकादिभवेषु च यथाकर्मविपाकोदयं संसर्ता, सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयाभ्यासप्रकर्षवशाच्चाशेषकर्मांशापगमतः परिनिर्वाता स जीव आत्मा। तदुक्तम्–

यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च। संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः।।

(शास्त्रवार्तासम्मुच्चयः स्त.१/९०)

तेषां जीवानां स्थानानि सूक्ष्मापर्याप्त–एकेन्द्रियत्वादयोऽवान्तरविशेषास्तिष्ठन्त्येषु जीवा इति कृत्वा जीवस्थानानि। तेषां स्वरूपं सङ्ख्यां चाह–

[मूल] जियठाणा सुहमेयरइगिंदिबितिचउपणिंदिसन्नियरा ।
पज्जअपज्जा चउदस, अपज्ज दुह लद्धिकरणेहिं ।।१०।।

[व्याख्या] अत्र सूचामात्रकारित्वात् सूत्रस्य गाथायामनुक्तमपि विभक्तिसम्बन्धं पदसम्बन्धं च कृत्वा व्याख्यायते। जीवस्थानानि चतुर्दश भवन्ति। कथमित्याह– **सुहुमेयरइगि त्ति**। सूक्ष्मा इतरे च बादरा एकेन्द्रियाः। **बितिचउ त्ति**। द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रिया इति। **पणिंदि त्ति**। पञ्चेन्द्रियाः सञ्ज्ञिन इतरे च असञ्ज्ञिनः। एतानि सप्तापि पदानि पर्याप्तापर्याप्तभेदाच्चतुर्दश भवन्ति। तत्र सूक्ष्माः सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तिनः पृथिव्यादयः पञ्च सर्वलोकव्यापिनस्ते च बहवोऽपि तथाविधस्वाभाव्यान्न दृश्यन्ते। बादरनामकर्मोदयाद् बादरास्ते च लोके प्रतिनियतदेशवर्तिनः।

नन्विह चक्षुर्ग्राह्यत्वं बादरत्वमिष्टं बादरस्याप्येकैकस्य पृथिव्यादिशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वाभावात्। तस्माज्जीवविपाकित्वेन जीवस्यैव कश्चिद्बादरपरिणामं जनयत्येतन्न शरीरपुद्गलेषु, किन्तु जीवविपाक्यप्ये–तच्छरीरपुद्गलेष्वपि काश्चिदप्यभिव्यक्तिं दर्शयति तेन बादराणां बहुतरसमुदितपृथिव्यादीनां चक्षुषा ग्रहणं भवति, न सूक्ष्माणाम्, जीवविपाकिकर्मणः शरीरे स्वशक्तिप्रकटनमयुक्तमिति **चैत्, नैवम्**, यतो जीवविपाक्यपि, क्रोधो भ्रूभङ्गत्रिवलीतरङ्गितालिकफलीकक्षरत्प्रस्वेदजलकणनेत्राद्याताम्रत्वपरूषवचनवेपथुप्रभृतिविकारं कुपितनरशरीरेऽपि दर्शयति, विचित्रत्वात्कर्मशक्तेरिति। **अपज्जदुह त्ति**। अन्यत्र हि आयुर्विचारादावपर्याप्तशब्देन लब्ध्यपर्याप्ता एव गृह्यन्ते, इह पुनर्जीवस्थानकविचारे लब्धिकरणाभ्यां द्विधाप्यपर्याप्ता गृह्यन्ते।।१०।।

कथमिदमित्याह–

[मूल] जं निरसुरमिहुणेसुं, जियठाणदुगं पए पए भणियं ।
न य ते लद्धिअपज्जा, तो इह अपज्जत्त दुविहावि ।।११।।

[व्याख्या] यतः सिद्धान्ते नारकाणां देवानां असङ्ख्यायुस्तिर्यङ्मनुष्याणां च स्थानस्थानेषु जीवस्थानकद्वयमुक्तम्। न च ते लब्ध्यपर्याप्ताः कथमपि स्युस्तस्मादत्र नारकादिकारणेन द्विधाप्यपर्याप्ता अधिक्रियन्त इति।।११।।

अथ करणापर्याप्तलब्ध्यपर्याप्तयोः पर्याप्तानां च गाथाद्वयेन स्वरूपमाह–

[मूल] नियनियपज्जत्तीणं, अंतं एहिंति न पुण ता पत्ता ।
ते करणे अपज्जत्ता, जे उण नियनियपज्जत्तीणं ।।१२।।
अंतं न जंति अंतरमरंति ते हुंति लद्धिअपज्जत्ता ।
नियनियपज्जत्तिअंतं, जे पत्ता ते उ पज्जत्ता ।।१३।।

[व्याख्या] निजनिजपर्याप्तीनां चतुःपञ्चषट्सङ्ख्यानां क्रमेण ये एकेन्द्रियाः, विकलासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाः,

सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च अन्तमेष्यन्ति न पुनस्तावत्प्राप्ताः किन्तु गच्छन्तः सन्ति ते करणापर्याप्ता उच्यन्त इति। शेषं सुगमम्।।१२।।१३।।

अथ जीवस्थानानि पृथिव्यादिपदेष्वाह–

[मूल] आइमचउएगिंदिसु, नियनियजियट्ठाण दु दुगविगलमणे ।
तिरिनिरयसुरंतदुगं, नरि अंतदुगं तहेक्कारं ।।१४।।

[व्याख्या] सूक्ष्मापर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्तबादरापर्याप्तबादरपर्याप्तैकेन्द्रियरूपम् आदिमं जीवस्थानकचतुष्टयम् एकेन्द्रियेषु पृथिव्यादिषु पञ्चसु गृहेषु। तथा निजं निजं जीवस्थानकद्वयं द्वित्रिचतुरिन्द्रियामनस्तिर्यग्गृहेषु पृथक् पृथग् भवति। तद्यथा– द्वीन्द्रियोऽपर्याप्तः पर्याप्तश्चेति, त्रीन्द्रियोऽपर्याप्तः पर्याप्तश्च[श्चेति, च]तुरिन्द्रियोऽपर्याप्तः पर्याप्तश्चेति, असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽपर्याप्तः पर्याप्तश्चेति। तथा सञ्ज्ञितिर्यङ्नारकसुरगृहेषु– **अंतदुगं ति**। अन्त्यद्विकं सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽपर्याप्तः पर्याप्तश्चेति। तथा **नरि त्ति**। मनुष्यगृहे। **अंतदुगं ति**। तदेव पूर्वोक्तमन्त्यं द्विकं सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तपर्याप्तरूपम्। तथा एकादशमिति असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तलक्षणं तृतीयमपि जीवस्थानकं भवतीति। गतं जीवस्थानकद्वारम्।।१४।।

अथ गुणस्थानकद्वारम्। तानि चतुर्दशेमानि–

[मूल] गुणमिच्छसाणमीसा, अविरयदेसा पमत्तअपमत्ता ।
नियट्टिअनियट्टिसुहमोवसंतखीणा सजोगियरा ।।१५।।

[व्याख्या] इह प्राकृतशैलीवशात् सूचनात् सूत्रमिति न्यायाद्वा पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचाराद्वा एवं व्याख्यायते। **गुण त्ति**। गुणस्थानकानि तानि चामूनि चतुर्दश, तद्यथा– मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, सम्यङ्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, देशविरतगुणस्थानम्, प्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, अपूर्वकरणगुणस्थानम्, अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानम्, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम्, उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम्, क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम्, सयोगिकेवलिगुणस्थानम्। **इयर त्ति**। अयोगिकेवलिगुणस्थानं चेति।

तत्र मिथ्या = विपर्यस्ता दृष्टिः = जीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिः। मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोदयाज्जिनदृष्टयथावस्थिततत्त्वार्थश्रद्धानरहित इत्यर्थः। गुणाः = ज्ञानदर्शनचारित्ररूपाः जीवस्वभावविशेषाः। तिष्ठन्ति गुणा अस्मिन्निति स्थानम्। ज्ञानादिगुणानामेवोपचयापचयकृतः स्वरूपभेदः। गुणानां स्थानं गुणस्थानम्। मिथ्यादृष्टेर्गुणस्थानम्। सास्वादनाद्यपेक्षया ज्ञानादिगुणानामपचयकृतः स्वरूपभेदो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्।

ननु यदि मिथ्यादृष्टिस्ततः कथं तस्य गुणस्थानसम्भवः? गुणा हि ज्ञानदर्शनचारित्ररूपास्तत्कथं ते दृष्टौ विपर्यस्तायां भवेयुरिति? उच्यते, इह यद्यपि तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणात्मगुणसर्वघातिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयविपाकोदयात् जीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ता भवति तथापि काचिन्मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिर्यावन्निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शनमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्तापि भवति। यथातिबहलघनपटलसमाच्छादितायामपि चन्द्रार्कप्रभायां काचित् प्रभा। तथाहि– समुन्नतातिबहलजीमूतपटलेन दिवाकररजनीकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभानाशः सम्पाद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनीविभागाभावप्रसङ्गात्। उक्तं च–

सुट्ठुवि मेहसमुदए, होइ पहा चंदसूराणमिति । (नन्दीसूत्र –७७, कर्मग्रन्थ पृ.६८)

एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदयेऽपि काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानकसम्भवः। **यद्येवं** ततः कथमसौ मिथ्यादृष्टिरेव मनुष्यपञ्चादिप्रतिपत्त्यपेक्षया यावत् निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षया वा सम्यग्दृष्टित्वादपि, **अत्रोच्यते,** नैष दोषो, यतो भगवदर्हत्प्रणीतं सकलमपि द्वादशाङ्गार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तदृतमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते। तस्य भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययनाशात्। तदुक्तम्-

सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः। मिथ्यादृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम्।। **()** इति

किं पुनः शेषो भगवदर्हदभिहितयथावज्जीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिविकलः ? इति। तथैव तस्मिन् मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके सर्वजीवानन्ततमभागेन सिद्धसास्वादनाद्ययोग्यन्तजीवराशिरूपेण रहिताः सर्वेऽपि संसारिणो जीवा वर्तन्ते।

तथा आयम् = औपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणं सादयति = अपनयतीति आसादनम् = अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम्, अत्र पृषोदरादित्वात् 'य'शब्दलोपः। सति हि तस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखफलदो निःश्रेयसतरुबीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयेन उत्कृष्टतः षड्भिरावलिकाभिरपगच्छतीति। ततः सह आसादनेन वर्तत इति सासादनः। सम्यग् = अविपर्यस्ता दृष्टिः = जिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः। सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति सासादनसम्यग्दृष्टिः तस्य गुणस्थानं सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्।

अथवा आ = समन्तात् शातयति = स्फेटयत्यौपशमिकः सम्यक्त्वमिति आशातनम् = अनन्तानुबन्धिकषायवेदनमेव। सहाशातनेन वर्तत इति साशातनः, स चासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति साशातनसम्यग्दृष्टिः, तस्य गुणस्थानम्।

यदि वा सह सम्यक्त्वलक्षणतत्त्वरसास्वादनेन वर्तते, सम्यक्त्वरसं नाद्यापि सर्वथा त्यजतीति कृत्वा सास्वादनः। यथा हि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति तथैषोऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वमन् तद्रसमास्वादयति। ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्।

एतच्चैवं भवति- इह गम्भीरापारसंसारपारावारमध्यपरिवर्त्ती जन्तुः सकलदुःखपादपबीजभूतमिथ्यात्वप्रत्ययमनन्तान् पुद्गलपरावर्तान् अनेकशारीरिकमानसिकदुःखलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेन अनाभोगनिवर्तितेन यथाप्रवृत्तिकरणेन **'करणं परिणामोऽत्र'** (योगबिन्दु-२६४) इति वचनाद्, अध्यवसायविशेषरूपेण ज्ञानावरणादिकर्माणि आयुर्वर्जानि सर्वाण्यपि पृथक् पृथक् पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटीकोटिस्थितिकानि करोति। अत्रान्तरे तथाविधकर्ममलपटलतिरस्कृतवीर्यविशेषाणामसुमतां दुर्भेद्यः कर्कशनिबिडचिरप्ररूढगुपिलग्रन्थिवत् कर्मपरिणामजनितो रागद्वेषपरिणामरूपो अभिन्नपूर्वो{क्त}ग्रन्थिर्भवति। तदुक्तम्-

तिहिअं तीय विय थेवमेत्ते खविएतरंमि जीवस्स। हवइ हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एवं जिणा बिंति।।

(धर्मसङ्ग्रहणी-७५२, श्रावकप्रज्ञप्ति-३२)

तीए विय त्ति।। तस्या अपि पल्योसङ्ख्येयभागोनसागरकोटीकोटै(टिभि)रिति।

गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठिव्व। जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो।।

(विशेषावश्यकभाष्यम्-११९५)

इमं च ग्रन्थिं यावदभव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वा अनन्तश: समागच्छन्त्येव। अत्रावसरे केचन अर्हदादिदर्शनत: श्रुतसामायिकलाभं लभन्ते, व्रतमप्यङ्गीकुर्वन्ति, एकादशाङ्गानि पठन्ति, नवमग्रैवेयकं यावद्यान्ति। एते चाप्रतिपतितैतत्परिणामा ग्रन्थिकसत्त्वा उच्यन्ते। ते च कर्मसप्तकमपि सागरान्त:कोटीकोटि-स्थितिकमेव बध्नन्ति, न पुनरधिकम्। तत: प्रतिपतत्प्रतिपदेतत्परिणामाश्च (प्रतिपतदेतत्परिणामा) अभव्या: सर्वेऽपि; भव्या अपि केचन ग्रन्थिभेदं कर्तुमसमर्था: पुनरपि व्यावृत्य सङ्क्लेशवशात् कर्मस्थितिं वर्द्धयन्ति यावदुत्कृष्टस्थितीनि सप्तापि कर्माणि कुर्वन्ति। य: पुनर्ग्रन्थिभेदं कर्तुं समर्थ: स महात्मा समासन्नपरमनिर्वृत्तिसुख: समुल्लसितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरो निशितकुठारधारयेव अपूर्वकरणसञ्ज्ञितया परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भिदां विधाय मिथ्यात्वमोहनीयकर्मस्थितेरन्तर्मूहुर्तमुदयक्षणादुपर्यतिक्रम्य अनिवृत्तिकरणसञ्ज्ञितेन विशुद्धि-विशेषेणान्तर्मूहुर्तकालप्रमाणं तत्प्रदेशवेद्यमिथ्यात्वदलिकवेदनाभावरूपमन्तरकरणं करोति। अत्र च यथाप्रवृत्त-करणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणानामयं क्रमो वेदितव्यो यथा-

जा गंठी ता पढमं, गंठिं समइच्छओ हवइ बीयं। अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे।।

(विशेषावश्यकभाष्यम्-१२०३)

गंठी समइच्छओ त्ति। ग्रन्थिं समतिक्रामतो = भिन्दानस्येति यावत्। **सम्मत्त पुरक्खड त्ति**। सम्यक्त्वं पुरस्कृतं येन स तथा, तस्मिन्नासन्नसम्यक्त्व एव जीवे अनिवृत्तिकरणं भवतीत्यर्थ:। एतस्मिंश्चान्तरकरणे कृते सति तस्य मिथ्यात्वमोहनीयस्य कर्मण: स्थितिद्वयं भवति। अन्तरकरणादधस्तनी अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा प्रथमा स्थिति:। तस्मादेव चान्तरकरणादुपरितनी अन्तर्मुहूर्तोनान्त:सागरोपमकोटीकोटिप्रमाणा शेषा द्वितीया स्थिति:। स्थापना चेयम्-

अन्तर्मुहूर्तोवान्तः सागरोपमकोटीकोटिः ।

अन्तर्मुहूर्तम् ।

तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिरेव, अन्तर्मुहूर्तेन पुनस्तस्यामधस्तनस्थितावपग-तायाम् अन्तरकरणप्रथमसमय एव मिथ्यात्वदलिकवेदनाभावादौपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्नोति। यथा हि वनदावा-नल: पूर्व दग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति तथा मिथ्यात्ववेदनदवोऽपि अन्तरकरण(णे) विध्यायति। तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभ:। उक्तं च-

ऊसरदेसं दढेल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प। इय मिच्छत्तऽणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो।। इति।

(विशेषावश्यकभाष्यम्-२७३४)

तस्यां चान्तर्मूहुर्तिक्यामुपशमाद्धायां परमनिधिकल्पायां जघन्येन समयमात्रशेषायामुत्कृष्टत: षडावलिका-शेषायां सत्यां कस्यचिन्महाबिभीषिकोत्थानकल्पोऽनन्तानुबन्धिकषायोदयो भवति। तदुदये चासौ सासादनसम्य-ग्दृष्टिगुणस्थानके वर्तते। उपशमश्रेणिप्रतिपतितो वा कश्चित् सासादनत्वं याति। तदुत्तरकालं चावश्यं मिथ्यात्वो-दयादसौ मिथ्यादृष्टिर्भवतीति। एते च सासादनसम्यग्दृष्टय: कदाचिदुत्कृष्टतोऽसङ्ख्येया प्राप्यन्त इति।

तथा सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्यस्य स सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्तस्य गुणस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्। इदमत्र हृदयम्-वर्णितविधिना लब्धेनौपशमिकसम्यक्त्वेनौषधविशेषकल्पेन मदनकोद्रववदशुद्धं दर्शनमोहनीयं कर्म जीव: शोधयित्वा त्रिधा करोति। तद्यथा-शुद्धमर्द्धविशुद्धमशुद्धञ्चेति स्थापना-

त्रयाणां च एतेषां पुञ्जानां मध्ये यदार्द्धविशुद्धः पुञ्ज उदेति तदा तदुदयवशादर्द्धविशुद्धमर्हद्दृष्टतत्त्वश्रद्धानं भवति जीवस्य, तेन तदासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमन्तर्मूहुर्त्तं स्पृशति। तत ऊर्द्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा गच्छतीति। आह च–

मिच्छत्ता संकंती, अविरुद्धा होइ सम्ममीसेसु। मीसाऊ वा दोसुं, सम्मामिच्छं न उण मिस्सं।।

(विशेषावश्यकभाष्यम्–२७३४, बृक.भा.१, गाथा–११४, सार्द्धशतकभाष्यम्–४)

सिद्धान्ताभिप्रायोऽयम्, कर्मग्रन्थाभिप्रायेण मिश्रेऽपि सङ्क्रान्तिर्भवति। अत एव तैः **मिच्छस्स बे छसट्ठी त्ति** ( ) मिश्रान्तरिते द्वे अतरषट्षष्ठी मिथ्यात्वोदयस्य अन्तरमुक्तम्। एतेऽपि मिश्रदृष्टयः कदाचिदुत्कृष्टतोऽस–ङ्ख्येयाः प्राप्यन्त इति।

तथा विर(म)ति स्म सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्म (स्मे)ति विरतः तथाऽविरतो (विरतोऽतथाऽविरतो)। अथवा विरमणं = विरतं = सावद्ययोगप्रत्याख्यानमेव, नास्य विरतमस्तीत्यविरतः, स चासौ सम्यग्दृष्टि–श्चेत्यविरतसम्यग्दृष्टिः। यद्यपि सम्यग्दृष्टित्वेन सावद्ययोगप्रत्याख्यानं जानाति, अज्ञानिनः सम्यक्त्वायोगात् तथापि तदसौ नाभ्युपगच्छति, न च पालयति अप्रत्याख्यानावरणकषायोदयात्। ते ह्यल्पमपि प्रत्याख्यान–मावृण्वन्तीति अप्रत्याख्यानावरणा उच्यन्ते, नञोऽल्पार्थत्वात्। इदमुक्तं भवति– यः पूर्वोपवर्णित औपशमिकः सम्यग्दृष्टिः, शुद्धदर्शनमोहपुञ्जोदयवर्ती वा क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिः, क्षीणदर्शनसप्तको वा क्षायिकसम्यग्दृष्टिः परममुनिप्रणीतां सावद्ययोगविरतिं सिद्धिसौधाध्यारोहणनिश्रेणिकल्पां जानन्नप्यप्रत्याख्यानावरणकषायोदयविघ्नि–तत्वान्नाभ्युपग–च्छति, न च तत्पालनाय यतत इत्य–सावविरतसम्यग्दृष्टिरुच्यते। तस्य गुणस्थानमविरतसम्य–ग्दृष्टिगुणस्थानम्। उक्तं च–

बंधं अविरयहेउं, जाणंतो रागदोसदुक्खं च। विरइसुहं इच्छंतो, विरइं काउं च असमत्थो।।
एस असंजयसम्मो निंदंतो पावकम्मकरणं च। अहिगयजीवाजीवो, अचलियदिट्ठि चलियमोहो।। ( )

एते चाविरतसम्यग्दृष्टयोऽसङ्ख्याताः सर्वदैव प्राप्यन्ते, देवानां नारकाणां सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां च सम्य–ग्दृष्टिनां पृथक् पृथग् असङ्ख्येयानां सदैव लाभात्।

तथा सर्वसावद्ययोगस्य देशे एकव्रतविषयस्थूलसावद्ययोगादौ सर्वव्रतविषयानुमतिवर्जसावद्ययोगान्ते विरतं विरतिर्यस्यासौ देशविरतः। सर्वसावद्ययोगविरतिस्त्वस्य नास्ति, प्रत्याख्यानावरणकषायोदयात्, सर्वविरतिरूपं हि प्रत्याख्यानामावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणा उच्यन्ते। देशविरतस्य गुणस्थानं देशविरतगुणस्थानम्। उक्तं च–

सम्मद्दंसणसहिओ, गिण्हंतो विरइमप्पसत्तीए। एगव्वयाइचरिमो, अणुमइमित्तो त्ति देसजई।।
परिमियमुवसेवंतो, अयरमियमणंतयं परिहरंतो। पावइ परंमि लोए, अपरमियमणंतयं सोक्खं।।

एतेऽपि देशविरतसम्यग्दृष्टयोऽसङ्ख्याताः सर्वदैव लभ्यन्ते, यतो देशविरताः तिर्यञ्चः सदैव असङ्ख्येया लोके लभ्यन्त इति।

तथा प्रमाद्यति स्म = संयमयोगेषु सीदति स्मेति प्रमत्तः। अथवा प्रमदनं = प्रमत्तं प्रमादः, स च मदिराविषय[कषाय]निद्राविकथानां पञ्चानामन्यतमः सर्वे वा। ततस्तत् प्रमत्तमस्यास्तीत्यर्शआदित्वात् अत्प्रत्ययः। प्रमत्तः प्रमादवानित्यर्थः। स चासौ संयतश्चेति प्रमत्तसंयतस्तस्य सम्बन्धिनां गुणानां स्थानम् = तदुपचयापचयकृतः स्वरूपविशेषः। तथाहि–देशविरतगुणापेक्षया एतद्गुणानामुपचयोऽप्रमत्तसंयतगुणापेक्षया त्वपचय इत्येवमन्येष्वपि गुणस्थानकेषु पूर्वोत्तरपेक्षया उपचयापचययोजना कर्तव्येति। एते च प्रमत्ता वक्ष्यमाणाश्चाप्रमत्ता उभयेऽपि यथास्वं

जघन्यतोऽपि उत्कृष्टतोऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वमाना:, परम् अप्रमत्तपृथक्त्वं लघु, प्रमत्तपृथक्त्वं तु सङ्ख्यातगुणम्, यत: प्रमादभावो बहूनां बहुकालं च लभ्यते, विपर्ययेण तु अप्रमादभाव इति।

तथा न प्रमत्तोऽप्रमत्तो नास्ति वा प्रमत्तमस्येत्यप्रमत्तो मदिरादिप्रमादरहितो, अप्रमत्तश्चासौ संयतश्चेत्यप्रमत्त-संयतस्तस्य गुणस्थानमप्रमत्तसंयतगुणस्थानम्।

नियट्टि त्ति। निवृत्तिबादरोऽस्य च अपूर्वकरण इति सञ्ज्ञान्तरमप्यस्ति। तत्र अपूर्वकरणतां व्याख्याय पश्चान्निवृत्तिबादरत्वं व्याख्यास्यते। तत्र स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणि-गुणसङ्क्रम-स्थितिबन्धादिपदार्थानामपूर्वं = तत्प्रथमतयाभिनवं करणं = क्रिया येषु ते अपूर्वकरणाः। तथाहि-बृहत्प्रमाणाया ज्ञानावरणादिकर्म-स्थितेः अपवर्तनाकरणेन खण्डनमल्पीकरणं स्थितिघात उच्यते। रसस्यापि कर्मपरमाणुगतस्निग्धत्वलक्षणस्य तेनैव करणेन खण्डनं = घातो रसघात:। एतौ च द्वावपि पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धेरल्पत्वादल्पावेव कृतवन्तोऽत्र पुनर्विशुद्धेर्बृहत्प्रमाणत्वादपूर्वाविमौ कुर्वन्ति। तथा उपरितनस्थितेर्विशुद्धिवशादपवर्तनाकरणेनावतारितस्य दलिक-स्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणमुदयलक्षणादुपरि क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणं गुणेनासङ्ख्येयगुणवृद्ध्या विरचनं गुणश्रेणिरित्युच्यते। स्थापना-

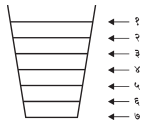

उक्तं च-

पूर्वगुणस्थानेष्वविशुद्धत्वात् कालतो दीर्घां दलिकविरचनामाश्रित्याप्रथीयसीं दलिकस्याल्पस्यापवर्तनाद् विरचितवन्तोऽत्र तु तामेव विशुद्धत्वादपूर्वां कालतो ह्रस्वतरां दलिकविरचनामङ्गीकृत्य पुन: पृथुतरां बहुतरदलिकस्यापवर्तनाद्विरचयन्तीति।( )

तथा बध्यमानशुभप्रकृतिषु पूर्ववद्वा(बद्धा)शुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिक्षणं गुणेनासङ्ख्येयगुणवृद्ध्या विशुद्धिवशात्सङ्क्रमणं = सञ्चारणं = नयनं गुणसङ्क्रमः तमप्येते विशिष्टतरत्वादिहापूर्वं कुर्वन्ति। तथा स्थितिं च कर्मणामशुद्धत्वात्प्राग् दीर्घां बद्धवन्तो, अत्र तु तामेव विशुद्धिप्रकर्षतो ह्रस्वतयापूर्वां बध्नन्तीत्येवं स्थिति-घातादीनामिहापूर्वकरणता द्रष्टव्या। उक्तं च-

ठिइघाओ रसघाओ, गुणसेढी संकमो गुणेणेवं। ठिइबंधो उ अपुव्वो, पंच अपुव्वा अपुव्वंमि।।

(कर्मप्रकृति-३३३,सम्मुत्तुप्पायविहीकुलक-१६)

उपलक्षणं चैतद् उदयोद्वर्तनादीनाम्, तेषामपि ह्यत्र सर्वेषामपूर्वत्वादिति। अयं चापूर्वकरणो द्विधा भवति-क्षपक उपशमको वा। क्षपणोपशमनार्हत्वाद् राज्यार्हकुमारराजवन्न पुनरसौ किमपि क्षम(प)यति उपशमयति वा। तस्य गुणस्थानमपूर्वकरणगुणस्थानम्। तथा युगपदेतद्गुणस्थानं प्रविष्टानां परस्परमध्यवसायस्थानस्य भेदलक्षणा निवृत्तिरप्यस्ति। न पुनर्वक्ष्यमाणानिवृत्तिबादरवदेकसमयप्रविष्टानाम् अध्यवसायस्यैकत्वमेव। ततश्च निवृत्तियोगा-न्निवृत्तिबादरमपीदमुच्यते। एते च अपूर्वकरणा वक्ष्यमाणाश्चानिवृत्तिबादरा: सूक्ष्मसम्परायाश्च त्रयोऽपि यथास्थानं जघन्यत एकद्वित्र्यादिक्षपकोपशमकयोरष्टशतचतु:पञ्चाशत्सङ्ख्ययोर्मीलनात्, द्विषष्ट्यधिकशतसङ्ख्या (१६२) भवन्तीति।

अथ निवृत्तिबादराः। तत्र युगपदेतद्गुणस्थानं प्रविष्टानां बहूनां जीवानां परस्परसम्बन्धिनोऽध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिः = वैलक्षण्यं निवृत्तिरिहाभिप्रेता। तथाविधानिवृत्तिरेषामित्यनिवृत्तयः। अयमभिप्रायः- समकालमेवैतद्गुणस्थानकं प्रविष्टस्यैकस्य विवक्षितप्रथमाद्यन्यतरसमये यदध्यवसायस्थानम्, अन्योऽपि विवक्षितः कश्चित् तदा तदध्यवसायवर्त्येवेति। सम्परेति = पर्यटति संसारमनेनेति सम्परायः = कषायोदयः, बादरः = सूक्ष्मसम्परायापेक्षया स्थूरः सम्परायो येषां ते बादरसम्परायाः। अनिवृत्तयश्च ते बादरसम्परायाश्चानिवृत्तिबादरसम्परायाः।

एतेऽपि द्विधाः-क्षपका उपशमकाश्च। तत्र क्षपका मोहस्य अष्टाविंशतेर्मध्यात् सप्तकक्षयस्य पूर्वं कृतत्वात् सञ्ज्वलनलोभस्य चाग्रतोऽपि गामित्वात् शेषा विंशतिप्रकृतीः स्त्यानर्द्धित्रिकम्, त्रयोदश नामप्रकृतीश्चेत्येवं प्रकृतिषट्कत्रिंशतं क्षपयन्ति। कथमिति चेदुच्यते- प्रथमं तावदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणाख्यानष्टौ कषायान् युगपदेव क्षपयितुमारभन्ते। तेषु चार्द्धक्षपितेष्वेवातिविशुद्धिवशाद् अन्तराल एव स्त्यानर्द्धित्रिकं नाम्नश्चैतास्त्रयोदशप्रकृतिरुच्छादयन्ति। तद्यथा- नरकद्विकम्, तिर्यग्द्विकम्, एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयः, आतपम्, उद्योतम्, स्थावरम्, साधारणम्, सूक्ष्ममिति। एतासु च षोडशसु प्रकृतिषु क्षपितासु पुनः कषायाष्टकस्य क्षपितशेषं क्षपयन्ति। ततो नपुंसकवेदम्, ततोऽपि स्त्रीवेदम्, तदनन्तरमपि च हास्यादिषट्कम्, ततोऽपि पुरुषवेदम्, तत ऊर्ध्वं सञ्ज्वलनं क्रोधम्, ततो मानम्, ततोऽपि मायां क्षपयन्ति। इत्येवं मोहस्य विंशतिप्रकृतीः क्षपयन्ति। लोभमपि बादरं क्षपयन्ति। सूक्ष्मस्य सूक्ष्मसम्पराय एव क्षपणात्। दर्शनसप्तकं तु प्रागेव अविरताद्यप्रमत्तान्तावस्थायां क्षपितमिति क्षपकव्यापारो दर्शितः।

ये तूपशमकास्तैः पूर्वमविरताद्यप्रमत्तान्तावस्थायां दर्शनसप्तकमुपशमितमस्ति। ततोऽत्रानिवृत्तिबादरावस्थायां तथाविधपरिणामशुद्ध्या प्रथमं नपुंसकवेदमुपशमयन्ति। ततः स्त्रीवेदम्, ततोऽपि हास्यादिषट्कम्, ततः पुरुषवेदम्, ततो युगपदप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणौ क्रोधौ, ततः सञ्ज्वलनक्रोधम्, ततः समकालमेव द्वितीयतृतीयौ मानौ, ततः सञ्ज्वलनं मानम्, ततो हेलयैव द्वितीयतृतीये माये, ततः सञ्ज्वलनां मायाम्, ततश्चैकदैव द्वितीयतृतीयौ लोभावुपशमयन्ति। सञ्ज्वलनलोभोपशमस्तु दशमगुणे भणिष्यते। तदेवं नवमगुणे मोहस्य विंशतिप्रकृतीरुपशमयन्ति। कोऽर्थः? अपवर्तनादिकरणानां सर्वेषामप्ययोग्यां कुर्वन्तीति। तदुक्तम्-

उवसंतं जं कम्मं न तओ कड्ढेइ न देइ उदए वि। न य गमइ परप्पगइं, न चेव उक्कड्ढए तं तु।। ( )

सर्वोपशमेन यदुपशान्तं मोहनीयकर्म, अन्यस्य सर्वोपशमायोगात्। **सव्वोवसमो मोहस्सेव**[१] इति वचनादिति न तदपकर्षयति-न तदपवर्तनाकरणेन स्थितिरसाभ्यां हीनं करोतीत्यर्थः। अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वान्नाप्युदये तद्ददाति, नापि तद्वेदयतीत्यर्थः। उपलक्षणत्वात्तदविनाभाविन्यामुदीरणायामपि न ददातीत्यपि मन्तव्यमिति। न च तद् बध्यमानसजातीया(य)रूपां परप्रकृतिं सङ्क्रमकरणेन गमयति। न च तत्कर्मोपशान्तं सदुत्कर्षयत्युद्वर्तनाकरणेन स्थितिरसाभ्यां वृद्धिं नयति। निधत्तनिकाचनयोस्तु प्रागपूर्वकरणकाल एव निवृत्तत्वान्नेहोपशान्तत्वेन तन्निषेधः क्रियते इति दर्शनत्रिकं मुक्त्वा उपशान्तस्य मोहनीयकर्मणः स्वरूपमन्यत्रापि भावनीयम्। दर्शनत्रिकस्य तु सङ्क्रमकरणमेकं प्रवर्तत एवेति। तस्य क्षपकस्य उपशमकस्य वा बादरसम्परायस्य गुणस्थानम्।

अथ सूक्ष्मसम्परायः तत्र सूक्ष्मः सम्परायः = किट्टीकृतलोभकषायोदयरूपो येषां ते सूक्ष्मसम्परायाः। तेऽपि

---

१ एतद्वाक्यं कर्मप्रकृत्याः ३१५ गाथायाः संवादि । शतकनामा पंचमकर्मग्रंथ-पत्र १३१, स्वो.टी.गा.-९८, संपा.-महेन्द्र जैन ।

द्विविधा: क्षपका उपशमकाश्च। तत्र क्षपका अनिवृत्तिबादरेण सूक्ष्मकिट्टीकृतं लोभं निर्मूलत एव क्षपयन्ति। उपशमकास्तु तमेवोपशमयन्तीति।

अथोपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम्। तत्र शान्ता = उपशमं नीता = विद्यमाना एव सङ्क्रमणोद्वर्त्तनादिकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापिता: कषाया यैस्ते उपशान्तकषायाः। तत्राविरताद्यप्रमत्तान्तावस्थायां दर्शनसप्तकमुपशमितम्। ततो अनिवृत्तिबादरवस्थायां चारित्रमोहस्य विंशतिप्रकृतीरुपशमितास्ततोऽपि(सञ्ज्वलनमायालोभौ[१] तत:(त:)सूक्ष्मसम्परायावस्थायां सञ्ज्वलनलोभमप्युपशमय्य सर्वथैवोपशान्तमोहत्वं प्रतिपद्यन्त इत्येवमुपशान्ता(न्त)कषाया अमी प्रोच्यन्त इति। तदेवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु क्वापि क्वापि कियतामपि कषायाणामुपशान्तत्वसम्भवादुपशान्तकषायव्यपदेश: सम्भवतीति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमुपशान्तकषायग्रहणे सत्यपि वीतरागग्रहणं कर्तव्यम्। उपशान्तकषायवीतराग इति चैतावतैवेष्टसिद्धौ छद्मस्थग्रहणं स्वरूपकथनार्थम्, व्यवच्छेद्याभावात्। न ह्यछद्मस्थ उपशान्तकषायवीतराग सम्भवति यस्य छद्मस्थग्रहणेन व्यवच्छेद: स्यादिति। तस्य उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थस्य गुणस्थानमिति। एते च उपशान्तमोहा वक्ष्यमाणाश्च क्षीणमोहा भवस्था योगिनश्च जघन्यतस्त्रयोऽपि एकद्वित्र्यादिका, उत्कृष्टत: पुनरुपशान्ताश्चतु:पञ्चाशत्, क्षीणमोहा अष्टशतं, भवस्था योगिनोऽपि अष्टशतमिति।

अथ क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम्। क्षीणा: = सर्वथा अभावमापन्ना: कषाया यस्य स क्षीणकषाय:। तत्रानन्तानुबन्धिकषायान् प्रथममविरतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तगुणस्थानेषु क्षपयति। तत: शेषान् सञ्ज्वलनलोभवर्ज्यान् निवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाने क्रमेण क्षपयति। सञ्ज्वलनलोभं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान इति। तदेवमन्येष्वपि सरागेषु क्षीणकषायव्यपदेश: सम्भवति। क्वापि कियतामपि कषायाणां क्षीणत्वसम्भवादतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम्। क्षीणकषायवीतरागत्वं च केवलिनोऽप्यस्तीति स्त(त)द्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणम्। तस्य क्षीणमोहवीतरागछद्मस्थस्य गुणस्थानम्। अत्र च उपशान्तक्षीणमोहयोरयं विशेष:-

जलमिव पसंतकलुसं, पसंतमोहो भवे उ उवसंतो। गयकलुसं जह तोयं, गयमोहो खीणमोहो वि।। ( ) तथा-

खीणा निव्वायहुयासणो व्व छारपिहिय व्व उवसंता। दरविज्झायविहाडियजलणोवं-(व)मा खओवसमा।।( )

अथ सयोगिकेवलिगुणस्थानम्। तत्र योगो वीर्यं शक्तिरुत्साह: पराक्रम इति चानर्थान्तरम्। स च मनोवाक्कायलक्षणकरणत्रयभेदात्त्रिस्र: सञ्ज्ञा लभते। मनोयोग:, वाग्योग:, काययोगश्चेति। स चायं त्रिविधोऽपि योगो भगवत: प्रस्तुतकेवलिन: सम्भवति। तथाहि- मनोयोगस्तावन्मन:पर्यायज्ञानादिभिरनुत्तरसुरादिभिर्वा जीवाजीवादितत्त्वं किञ्चिन्मनसो पृष्टस्य मनसैव देशनायां सम्भवति। वाग्योगस्तु सामान्येन देशनादौ। काययोगस्तु चङ्क्रमणोन्मेषनिमेषादौ। सह योगेन वर्तत इति सम्बन्ध:, सर्वधनादेराकृतिगणत्वेन मत्वर्थीयेन्विधानात् सयोगिन:। अथवा सह यथोक्तेन योगेन वर्तत इति सयोगा:। केवलं = सम्पूर्णज्ञेयग्राहित्वेन सम्पूर्णज्ञानमेषामिति केवलिन:, सयोगिनश्च सयोगाश्च वा ते केवलिनश्च सयोगिकेवलिन:, सयोगकेवलिनो वा तेषां गुणस्थानम्। एते च सयोगिनो जघन्यतोऽपि उत्कृष्टतोऽपि कोटिपृथक्त्वसङ्ख्या:।

---

१ अयं पाठः निष्कासित आभाति ।

अथायोगिकेवलिगुणस्थानम्। तत्र नास्ति पूर्वोक्तो योगोऽस्येति अयोगो अयोगीति वा शेषं पूर्ववदिति। अयोगित्वं चेत्थमुपजायते। त्रिविधोऽपि हि पूर्वोक्तो योगः प्रत्येकं द्विधा भवति। सूक्ष्मो बादरश्च। केवली च केवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं जघन्यतोऽपि अन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतस्तु देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्यान्तर्मुहूर्तावशेषायुष्कः शैलेशीं प्रतिपित्सुः प्रथमं तावद् बादरकाययोगेन बादरवाङ्मनोयोगौ निरुणद्धि। ततः सूक्ष्मकाययोगावष्टम्भेन बादरकाययोगं निरुणद्धि। सति तस्मिन् सूक्ष्मयोगस्य निरोद्धुमशक्यत्वात्। ततश्च सर्वबादरयोगनिरोधानन्तरं सूक्ष्मकाययोगावष्टम्भेन सूक्ष्मवाङ्मनोयोगौ निरुणद्धि। सूक्ष्मकाययोगन्तु सूक्ष्मक्रियमनिवर्तिशुक्लध्यानं ध्यायन् स्वावष्टम्भेनैव निरुणद्धि, अन्यस्यावष्टम्भनीययोगान्तरस्य तदाऽसत्त्वादिति। तन्निरोधानन्तरं समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपातिशुक्लध्यानं ध्यायन् ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालं शैलेशीकरणं प्रतिष्ठो(विष्टो) भवति। शीलस्य = योगलेश्या-कलङ्कविप्रमुक्तयथाख्यातचारित्रलक्षणस्य य ईशः स शीलेशस्तस्येयं शैलेशी। त्रिभागोनस्वदेहावगाहना-यामुदरादिरन्ध्रपूरणवशात् सङ्कोचितस्वप्रदेशस्य शीलेशस्यात्मनोऽत्यन्तस्थिरावस्थितिरित्यर्थः। इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यं यावदयमयोगी सिद्धत्वं प्राप्तो भवतीति, परं तदत्र नोक्तं ग्रन्थगौरवभयात्। ततोऽस्यायोगिनः पूर्वोक्तप्रमत्तादिगुणानां च सर्वेषामपि व्यासार्थिना कर्मस्तव-षडशीतिक-शतक(पंचम कर्मग्रंथ गा.९८-९९ वृत्ति।) वृत्तयोऽवलोकनीयाः। ततो अयोगिनाम् अयोगानां वा केवलिनां गुणस्थानकमिति विग्रहः[१]।

मिच्छं अणाइनिहणं, अभव्वे भव्वे वि सिवगमाजुग्गे। सिवगइ अणाइसंतं, साईसंतं पि तं एवं।।
लहू अंतमुहू गुरुअं, देसूणमवड्ढपुग्गलपरट्टं। सासाणं लहु समओ, आवलिछक्कं च उक्कोसं।।
अजहन्नमणुक्कोसं, अंतमुहू मीसगं अह चउत्थं। समहिअतित्तीसयरे, उक्कोसं अंतमुहु लहुयं।।
देसूणपुव्वकोडी, गुरुअं लहुअं च अंतमुहु देसं। छट्ठाइगारसंता, लहु समया अंतमुहु गुरुआ।।
अंतमुहुत्तं एगं, अलहुक्कोसं अजोगिखीणेसु। देसूणपुव्वकोडी, गुरुअं लहु अंतमुहु जोगी।।

(विचारसप्ततिका-७३-७७)

मिच्छे सासाणे वा, अविरय सम्मंमि अहव गहियंमि[२]। जंति जिया परलोयं, सेसेक्कारसगुणे मोत्तुं।।

(प्रवचनसारोद्धार-१३०६)

मीसे खीणि सजोगो, न मरंतेकारसेसु य मरंति। तेसुवि तिसु गहिएसुं, परलोयगमो न अट्ठेसु।।

(विचारसप्ततिका-७८) इति गाथार्थः।

अथैतानि पृथिव्यादिषु दर्शयन्नाह-

[मूल] सुत्ते मिच्छमिगिंदिसु, गुणदुग भूदगवणेसु कम्मइगा।
दो विगलमणे पणतिरि नरि चउदस चउर निरयसुरे।।१६।।

[व्याख्या] सूत्राभिप्रायेण एकमेव मिथ्यात्वगुणस्थानकं पञ्चस्वप्येकेन्द्रियेषु भवति। न पुनः सास्वादनमपि, तस्य सम्यक्त्वभेदत्वात्, सम्यक्त्वस्य सर्वथाप्येकेन्द्रियेषु निषेधात्। तथाहि-

उभयाभावो पुढवाइएसु विगलेसु होज्ज उ पवन्नो। पंचिंदियतिरिएसुं, नियमा तिण्हं सिय पवज्जे।।

---

१ अत्र कश्चित् पाठो निष्कासित इति आभाति । स च एवं- ... दुविहं कालं चउद्दसगुणेणं । (बन्धशतकम्-९।)
जेहि विस ह परलोगो जेसु अ मरणं न मरणं वा ।।
अह चउदससु गुणेसुं, कालपमाणं भणामि दुविहंपि । न मरइ मरइ व जेसुं, सह परभवे जेहिँ नो {जेहिं} अप्पबहू ।।
(विचारसप्ततिका-७२)

२ अविरयभावम्मि अहिगए अहवा-इति मु.।

आवश्यके अस्या भावार्थ:–चतुर्णां सामायिकानामेकेन्द्रियेषु **उभयाभावो त्ति**। न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानक इति। विकलेन्द्रियेषु उपलक्षणत्वादसञ्ज्ञिष्वपि करणतोऽपर्याप्तावस्था[यां] पारभविके सास्वादनभावे सति क्षणमेकं सम्यक्त्वश्रुतयो: पूर्वप्रतिपन्नो भवेदपि, प्रतिपद्यमानस्तु नैव। सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु त्रयाणां सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिरूपाणां विवक्षितकाले पूर्वप्रतिपन्ना नियमात् सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भाज्या:।

गुणदुगेत्यादि। कार्मग्रन्थिका: पुनर्मिथ्यात्वं तावत् सर्वेषामप्येकेन्द्रियाणां सामान्यम्। केषुचित् पुनर्बादरभूदकप्रत्येकतरुषु लब्ध्या पर्याप्तेषु करणतो अपर्याप्तेषु क्षणमेकं यावत् पारभविकेन सास्वादनभावेन द्वितीयमपि गुणस्थानकमभ्युपगच्छन्तीति। यतस्ते कार्मग्रन्थिका एवमाहु:–

सासणभावे नाणं, वेउव्वाहारगे उरलमिस्सं। नेगिंदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयंपि।।

(षडशीतिनामा नव्यः चतुर्थकर्मग्रन्थः–४९)

इयं गाथोत्तरत्रोपयोगद्वारे व्याख्यास्यते। तथा–

भूदगतरुसुं दो (दो) एगमगणिवाउसु चउद्दस तसेसु।

(षडशीतिनामा प्राचीनः चतुर्थ कर्मग्रंथः–२८, शतकप्रकरण भाष्यम्–९६)

गुणस्थानकानान्ति(नामिति) सम्बन्ध:। **दो इत्यादि**। द्वे आद्ये गुणस्थानके प्रत्येकं विकलामनसाम्।

पणतिरि त्ति। मिथ्यादृष्ट्यादीनि पञ्च गुणस्थानकानि सञ्ज्ञितिर्यक्षु नरेषु चतुर्दशापि। नारकसुरेषु पृथक् पृथक् चत्वार्याद्यानि गुणस्थानानि भवन्तीति गाथाभावार्थ:।।

अथ योगद्वारम् ते पञ्चदशेत्याह–

[मूल] पनरस जोगा सच्चं, मुसमीसमसच्चमोस मणवयणं ।
उरलविउव्वाहारा, तम्मिस्सतिगं च कम्मो य ।।१७।।

[व्याख्या] तत्र योजनं = योग: जीवस्य वीर्यं परिस्पन्द इति यावत्। उक्तं च–

जोगो विरियं थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा। सत्ती सामत्थं ति य, जोगस्स इमे उ पज्जाया।।

(पञ्चसङ्ग्रह–३९६)

युज्यते = धावनवल्गनादिक्रियासु व्यापार्यत इति वा योग:। कर्मणि घञ्। यथा(द्वा) युज्यते = सम्बध्यते धावनवल्गनादिक्रियासु जीवोऽनेनेति योग:। स च मनोवाक्कायभेदात्प्रथमं त्रेधा। पुन: प्रतिभेदापेक्षया पञ्चदशधा। तद्यथा– सत्य–असत्य–मिश्र–असत्यामृषाभेदान्मनश्चतुर्विधम्, एवं वचोऽपि चतुर्विधम्। तथा औदारिक–तन्मिश्र–वैक्रिय–तन्मिश्राहारक–तन्मिश्र–कार्मणभेदात्सप्तविध: काययोग इति।

तत्र **सच्चमित्यादि**। सन्तो = मुनय: प्राणिन: पदार्था वा, तेषु यथासङ्ख्यं मुक्तिप्रापकत्वेन रक्षाविधायकत्वेन यथावस्थितवस्तुस्वरूपचिन्तनेन च साधु सत्यम्। यथा 'अस्ति जीव:, सदसद्रूपो देहमात्रव्यापी' इत्यादि। तथा–

देहादन्नो मुत्तो, निच्चो कत्ता तहेव भुत्ता य। नणुमित्तो गुणमंतो, उड्ढगई वन्निओ जीवा(वो)।। तथा–
उवओगलक्खणमणाइनिहणमत्थंतरं सरीराउ। जीवमरुविं कारिं, भोइं च सयस्स कम्मस्स।। इत्यादि।

(ध्यानशतकम्–५५, सम्बोधप्रकरणम्–१३६९)

य: कर्ता: कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च। संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षण:।।

(शास्त्रवार्तासमुच्चय–१/९०)

यथावस्थितवस्तुचिन्तनपरम्। तद्विपरीतमसत्यम्। यथा 'नास्ति जीवः, एकान्तसद्रूपश्च' इत्यादि अयथावस्थितवस्तुविकल्पनपरम्। तथा सत्यं च मृषा चेति मिश्रम्, यथा- धवखदिरपलाशादिमिश्रेषु बहुषु अशोकवृक्षेषु 'अशोकवनमेवेदम्' इति विकल्पनपरम्। तथा यन्न सत्यं नापि मृषा तदसत्यामृषम्। इह विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठासया सर्वज्ञमतानुसारेण यद्विकल्प्य यथा 'अस्ति जीवः सदसद्रूप' इत्यादि तत्किल सत्यं परिभाषितम्, आराधकत्वात्। यत्पुनर्विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठासया सर्वज्ञमतोत्तीर्णं विकल्प्यते, यथा 'नास्ति जीवः, एकान्तनित्यो वा' इत्यादि तदसत्यं, विराधकत्वात्। यत्पुनर्वस्तुप्रतिष्ठासामन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरं यथा- 'हे ! देवदत्त! घटमानय', 'गां देहि मह्यम्' इत्यादि चिन्तनपरं तदसत्यामृषम्। इदं हि वस्तुस्वरूपमात्र-पर्यालोचनपरत्वान्न यथोक्तलक्षणं सत्यं भवति नापि मृषा।

वयण त्ति। मनोवद् वचोऽपि सत्यादिभेदाच्चतुर्द्धा। उदाहरणानि अत्रापि तान्येव पूर्वोक्तानि। नवरमयं विशेषो-हृदयान्तश्चिन्तनरूपं मनो, वचस्तु मनश्चिन्तितस्यैव बहिर्भाषणस्वरूपमिति।

तत्र सत्यभाषा दशधा।

जणवय सम्मय ठवणा, नामे रूवे पडुच्चसच्चे य। ववहार भाव जोगे, दसमे ओवम्मसच्चे य।।

(प्रज्ञापना-१९४, स्थाना-१५०, दशवैकालिकनिर्युक्ति-२७३)

असत्यापि दशधा।

कोहे माणे माया, लोभे पिज्जे तहेव दोसे य। हास भए अक्खाइय, उवघायनिस्सिया दसमा।।

(प्रज्ञापना-१९५, दशवैकालिकनिर्युक्ति-२७४)

मिश्रापि दशधा।

उप्पण्ण विगय मीसिय, जीव अजीवे य जीवअज्जीवे। तह मीसगा अणंता परित्त अद्धा य अद्धद्धा।।

(सम्बोधप्रकरणम्-५६०, दशवैकालिकनिर्युक्ति २७५)

असत्यामृषा पुनर्द्वादशधा।

आमंतणि आणवणी, जायणि तह पुच्छणी य पण्णवणी। पच्चक्खाणी भासा, भासा इच्छाणुलोमा य।।

(प्रज्ञापना-१९६, दशवैकालिकनिर्युक्ति-२७६)

अणभिग्गहिया भासा, भासा य अब्भिग्गहम्मि बोधव्वा। संसयकरणी भासा, वोयड अव्वोयडा चेव।।

(प्रज्ञापना-१९७, दशवैकालिकनिर्युक्ति-२७७)

अथैतस्य भाषाचतुष्टयस्याप्युत्तरभेदानां द्विचत्वारिंशतोऽपि क्रमेणोदाहरणान्युच्यन्ते।

जणवय गाहा। तत्र जनपदसत्यं जनपदेषु = देशेषु यद् यदर्थवाचकतया रूढं देशान्तरेऽपि तत् तदर्थ-वाचकतया प्रयुज्यमानं सत्यमपि वितथमिति जनपदसत्यम्। यथा कोङ्कणादिषु पयः पिच्चं, नीरमुदकमित्यादि। सत्यत्वं चास्या दु(इ)ष्टविवक्षाहेतुत्वात्। नानाजनपदेषु इष्टार्थप्रतिपत्तिजनकत्वात् व्यवहारप्रवृत्तेः। एवं शेषेष्वपि भावना कार्येति।

सम्मय त्ति। सम्मतं च तत्सत्यं चेति सम्मतसत्यम्। तथाहि- कुमुदकुवलयोत्पलतामरसानां समानेऽपि

पङ्कजातत्वे गोपालादीनामपि सम्मतमरविन्दमेव पङ्कजम्। तत्रैव सत्यः पङ्कजशब्दो, न पुनः कुवलयादावसम्मतत्वात्। तथा शुभ्रं यशः, शुक्लो धर्मः, कृष्णं पापम्, कृष्णमाकाशम्।

जेसिमवड्ढ पोग्गल, परियट्टो सेसओ य संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु, सेसा पुण किण्ह-पक्खिया।। इत्यादि।

(श्रावकप्रज्ञप्ति-७२, गाथासहस्री-३५०)

ठवण त्ति। स्थाप्यत इति स्थापना। यल्लेप्यादिकर्म अर्हदादिविकल्पेन स्थाप्यते तद्विषये सत्यं स्थापनासत्यम्। यथा अजिनोऽपि 'जिनोऽयम्' अनाचार्योऽपि 'आचार्योऽयम्'। आलेख्यमात्रेऽपि 'जम्बूद्वीपोऽयम्' इत्यादि।

नामे त्ति। नामाभिधानं सत्सत्यं नामसत्यम्। यथा कुलमवर्द्धयन्नपि कुलवर्द्धनः। जरामृत्युसद्भावेऽप्य-जरामरः। एवं देवदत्त ईश्वर इति।

रूवेत्ति। रूपापेक्षया सत्यं रूपसत्यम्। यथा प्रपञ्चयतिरपि प्रव्रजितरूपं धारयन् श्रमण उच्यते।

पडुच्चसच्चे त्ति। प्रतीत्य = आश्रित्य वस्त्वन्तरं सत्यं प्रतीत्यसत्यम्। यथा अनामिकाया ज्येष्ठाङ्गुलिक-निष्ठिके प्रतीत्य ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं चेति। एकोऽपि पुरुषोऽपत्यापेक्षया पिता स एव च निजजनकापेक्षया पुत्र इति द्विधाप्युच्यमानं सत्यम्।

व्यवहारेण सत्यं व्यवहारसत्यम्। 'ग्राम(मः) समायातः', 'दह्यते गिरिः' गलति भाजनम् '। अयं च कतिपयप्रधाननरागमेऽपि गिरिगततृणादिदाहे व्यवहारतः प्रवर्तते, उदके च गलति सतीति। एवं 'ग्रामो दग्धः' 'पटो दग्धः' इत्यादि।

भावि त्ति। भावं भूयिष्ठं शुक्लादिपर्यायमाश्रित्य सत्यं भावसत्यम्। यथा निश्चयतः सर्वेष्वपि बादरस्कन्धेषु पञ्चवर्णत्वम्, द्विगन्धत्वम्, पञ्चरसत्वम्, अष्टस्पर्शत्वं चास्ति; परं व्यवहारतो य एव वर्णादिको भावो यस्य यस्य प्रभूतो भवति, तस्य तेनैवैकेनापि भावेन व्यपदेशः सत्य एव। यथा- 'शुक्ला बलाका', 'पीतं कनकम्', 'रक्तं विद्रुमम्', 'नीलमुत्पलम्', 'कृष्णो भ्रमरः', 'सुरभिः मृगमदः' इत्यादि। तथा व्यवहारतो केशदन्तौष्ठादिषु नानावर्णत्वेऽपि सर्वावयवव्यापकं वर्णभावमपेक्ष्य 'पञ्चवर्णास्तीर्थकृतः', 'कृष्णा विष्णवः', 'शुभ्रा शीरिणः' इत्यादि। तथा 'वणि(ग्)ग्रामोऽयम्' 'द्विजस्थानम्' इत्यादि विविधवर्णवासेऽपि बाहुल्यापेक्षयेति।

योगि त्ति। योगतः = सम्बन्धतः सत्यं योगसत्यम्। दण्डयोगाद्दण्डः पुरुषः इत्यादि। यथा अमुकस्य खल्मलक्षं मिलति। आतपत्रसहस्रं वा, एतावन्ति वा फरिकासहस्राणि, एतावन्त्यो वा कपरिकाः। अमुकस्य व्याख्याने(?)।

औपम्यसत्यमिति। उपमैवौपम्यं तेन सत्यमौपम्यसत्यम्। यथा समुद्रवत्तडागः, चन्द्रवन्मुखम्, पुरुषसिंह-स्तीर्थकरः। **कंसपाई व्व मुक्कतोए।** (कल्पसूत्र-११७) इत्यादि।

कंसे संखे जीवे, गगणे वाऊ य सारए सलिले। पुक्खरपत्ते कुम्मे, विहगे खग्गे य भारुंडे।।
कुंजर वसभे सीहे, नगराया चेव सागरमखोभे। चंदे सूरे कणगे, वसुंधरा चेव सुहयहुए।।

(स्थानाङ्ग-१३८/१३९,सू.६९३)

अथ मृषा। **कोहे गाहा**। तत्र क्रोधादसत्यम्। यथा क्रोधाभिभूतः परस्य विश्रम्भापादनबुद्ध्या तिरस्कारार्थं

वा बहुविधं भाषमाणो यदि किमपि घुणाक्षरन्यायेन सत्यमपि ब्रूते तदपि असत्यमेव, दुष्टाशयत्वात्। अथवा सगुणमपि क्रोधाभिभूतो निर्गुणं वदति। यथा साधुमपि चौरम्, अदासमपि दासं, पण्डितमपि मूर्खमित्यादि।

मानादसत्यम्। यथा मानाध्मातः कश्चिदल्पविभवोऽपि केनचित् पृष्टः सन् आत्मोत्कर्षेण अननुभूतमपि विभवादि अनुभूतमिति प्रकाशयति।

मायया असत्यम्। यथा परस्य वञ्चनार्थं नात्रकाणि[१] योजयति। कूटं क्रयं कथयति, स्वकीयं क्रयाणकं प्रशंसति, परकीयं निन्दति। इन्द्रजालिकवेषकरदृष्टिबन्धादि।

लोभादसत्यम्। यथा लुब्धनन्दस्येव सुवर्णमपि लोहं भणतः। अज्ञानदातॄणां वा सत्कं रत्नमपि पाषाणम्, कर्पूरमपि लवणम्, पट्टसूत्रमपि सण(शण) इति भणतः।

प्रेमतोऽसत्यम्। यथा- अइपेमेणं दासोऽहं तव त्ति।

द्वेषादसत्यम्। यथा तीर्थकरादीनामपि निन्दां करोति।

अदिन्नदाणा खु एए वराया केवलमेएसिं सत्थयायारेण गलओ चेव न मोडिओ त्ति। ( )

हासादसत्यम्। यथा हास्येन सार्थवाहम् अकालगतमपि सार्थवाहिन्या अग्रतः कालगतमिति भणतां तन्मित्राणाम्, कन्दर्पिकाणां विदूषकाणां(नां) च हास्यादभूतं वदताम्।

भयादसत्यम्। यथा स्वाम्यपि तस्करादिभयेन 'कर्मकरोऽहम्' इति वदति। 'प्राहुणकोऽहम्' इति। राजपुरुषगृहीतचौरो वदति 'नाहं चौरः'। यथा रौहिणेयः असद्भूतानि बहुविधानि भाषते।

आख्यायिकारूपमसत्यम्। आख्यायिका = कल्पितकथा तत्प्रतिबद्धोऽसत्प्रलापः सर्वोऽपि। यथा वा धूर्ताख्यायिकासु कमण्डलमध्ये षण्मासानग्रतो दिगम्बरः पश्चाद् हस्तीत्यादि। तथा-

तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदवारिभिः । प्रावर्तत नदी घोरा हस्त्यश्वरथवाहिनी। ( )

उपघातनिश्रिता यथा 'चौर एष याति,' 'एते हरिणा गच्छन्ति', महाराजिकत्वादि सर्वमपि चाभ्याख्यानवचनम्। 'सर्वे जीवा न हन्तव्याः' इति वा वक्तव्ये 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', 'गौरवध्या' इत्यादि वदन् शेषजीववधम् अर्थापत्त्या पोषयति।

अथ मिश्रम्। तत्र उत्पादाश्रितं मिश्रम्। यथा 'अत्र नगरे अद्य दश दारका उत्पन्नाः' इत्यभिदधतस्त-न्न्यूनाधिकत्वे अस्य मिश्रता। व्यवहारे वा कस्यचित् शतमुत्पन्नम्। द्वितीयो वदति अनेन पञ्चशतानि विवपितानि। शतस्योत्पन्नत्वात् मिश्रता।

विगताश्रितं मिश्रम्। यथा- 'अत्राद्य दश वृद्धा विगताः' इति भणतस्तन्न्यूनाधिकत्वे मिश्रता। यथा वा मार्गे पतिते स्तोकेऽपि गते 'बहुतरं गतम्' इति वदति।

उत्पादविगमोभयाश्रितं मिश्रितम्। यथा- 'अत्राद्य दश दारका उत्पन्ना दश च वृद्धा विगताः' इति भणतस्तन्न्यूनाधिकत्वे उभयमिश्रता।

जीवाश्रितं मिश्रं जीवविषयं सत्यासत्यरूपम्। यथा जीवन्मृतककृमिराशौ- 'सर्वे(र्वो)ऽपि जीवराशिरयम् ' इति भणतः।

अजीवाश्रितं मिश्रम् । यथा तस्मिन्नेव प्रभूतमृतकृम(मि)राशौ 'अजीवराशिरयम्' इति भणतः।

---

१ नातरां (=सम्बन्धः) इति भाषायाम् ।

जीवाजीवोभयाश्रितं मिश्रम् । यथा तस्मिन्नेव जीवन्मृतकृमिराशौ प्रमाणनियमेन 'एतावन्तो जीवन्त्ये-तावन्तश्च मृताः' इत्यभिदधतस्तन्न्यूनाधिकत्वे मिश्रता।

अथवा जीवमिश्रम्। यथा- शुलितेषु कणेषु 'कीटका एव केवलाष्टलवलन्तः सन्ति' इति क्रायिकवचः?

अजीवमिश्रम्। यथा धान्यस्वामी वदति- तन्दुलेषु स्वल्पविशोधितकतिपयजीवेषु 'तन्दुला एव एते केवला, नास्ति अत्र एकोऽपि त्रसजीवः' इति।

जीवाजीवोभयमिश्रम्। यथा तस्मिन्नेव शुलितधान्ये 'अर्द्धप्रमाणा कीटका:' इति वदतः प्रमाणस्य न्यूना-धिकत्वे उभयमिश्रता।

अनन्तमिश्रम्। यथा मृष्टवणस्य पत्राणि अनन्तकायिकानि, न तु स्कन्धादिस्ततः 'सर्वोऽपि वणो अनन्त-कायः' इति वदतः।

प्रत्येकमिश्रम्। यथा सर्वोऽपि 'वणः प्रत्येकः' इति।

अद्धामिश्रम्। अद्धा = दिवसरजनीलक्षणः कालस्तद्विषये मिश्रं सत्यासत्यरूपम्। यथा कश्चित् परं प्रेरयन् घटिकाद्वयशेषेऽपि दिने 'रात्रिः पतिता' इत्यादि।

अद्धाद्धामिश्रम्। अद्धा = दिवसो रजनी वा तदैकदेशः = प्रहरादिरद्धाद्धा तद्विषयं सत्यासत्यम्। यथा कश्चित् परं प्रेरयन्नुदितमात्रेऽपि सूर्ये 'घटिकाद्वयं चटितम्' इति, प्रहरमात्रे वाप्यह्नि 'मध्याह्नः समजनि' इत्यादि।

असत्यामृषा द्वादशधा। **आमंतणी** गाहाद्वयम्। तत्र आमन्त्रणी 'हे ! देवदत्त !' इत्यादिका। एषा च किल वस्तुनोऽविधायकत्वादनिषेधकत्वाच्च सत्यादिभाषात्रयलक्षणवियोगतश्च असत्यामृषेति।

आज्ञापनी कार्ये परस्य प्रवर्तनम्। यथा 'कटं कुरु'।

याचनी वस्तुविशेषस्य 'देहि' इत्येवं मार्गणरूपा।

पृच्छनी अविज्ञातस्य सन्दिग्धस्य वा अर्थस्य ज्ञानार्थम्। यथा- 'कीदृशो जीवो मोक्षो वा ?' 'कथं वा धर्मो भवति ?' इत्यादि प्रश्नरूपा।

प्रज्ञापनी विनेयस्योपदेशदानरूपा। यथा-

पाणवहाउ नियत्ता, भवंति दीहाउया अरोगा य। एमाई पन्नवणी, पण्णत्ता वीयरागेहिं।।
नियदव्वमउव्व जिणिंदभवणवरपइट्ठासु। वियरइ पसत्थ पोत्थयसु तित्थयरपूयासु।।

(रत्नसञ्चय-३३२) तथा-

परिसुद्धजलग्गहणं, दारु य धण्णाइयाण तह चेव। गहियाण य परिभोगो, विहीए तसरक्खणट्ठाए।।

(श्रावकप्रज्ञप्ति-२५९)

जिणभवणकारणविही, सुद्धा भूमि दलं च कट्ठाई। भयगाऽनतिसंधाणं, आसयवुड्ढी तहच्चेव।।

(पञ्चाशक-३०३)

तथा- 'सति विभवे श्रावकेण श्रीभरतचक्रिन्यायेन गगनतलावलम्बिशिखरध्वजकलशपर्यन्तं जिनभवनं विधाप्य, तत्र च मणिरत्नकनकस्फटिकरजतविद्रुमादिभिः सुप्रमाणसल्लक्षणप्रासादनीयाप्रतिमाः प्रतिमाः प्रतिष्ठाप्य, तासाञ्च प्रतिदिनमपि त्रिसन्ध्यं कण्ठस्नानं देशस्नानं वा विधाय, अनुपहतसितवासांसि परिधाय, यथाविभवं सम्पद्यमानसर्वसामग्र्या प्रधानप्रधानतरैर्मृगमद-कर्पूर-मलयज-काश्मीरज-पुष्प-माल्य-गन्ध-वस्त्राक्षत-धूपादिभिः श्रेणिकमहानृपतिवत् सप्तदशप्रकारोऽर्चनाविधिर्विधेयः। तथा तीर्थयात्रा-साधर्मिकवात्सल्य-पुस्तकलेखन-

तीर्थप्रभावनादिकारिणा शुद्धव्यवहारिणा सदाचारिणा भवितव्यम्' इत्यादिका सर्वापि प्रज्ञापनी। न चैवमुपदिश्यमाने करणकारणानुमत्यादिकं किमपि साधूनां स्यात्। यदि पुनरेवमपि तदभविष्यत् तत्कथमिदमेवमुक्तमावश्यक-चूर्णिकृता-

बंधो दुविहो दुपयाणं चउप्पयाणं च अट्ठाए अणट्ठाए य। अणट्ठाए न वट्टइ। अट्ठाए साविक्खो निरविक्खो य। निरविक्खो निच्चलं धणियं जं बज्झइ। सावेक्खो न (जं)संसरपासएणं आली-वणगाइसु य। जं सक्केइ मुचियं वा छिंदिउं वा दामगंठिणा एवं चउप्पयाणं। दुप्पयाणं दासो दासी वा चोरो वा पुत्तो वा न पढंतओ। तेण सविक्कम्माणि बंधेयव्वाणि रक्खियव्वाणि जहा अग्गिभयाइसु न विणस्संति। तारिसयाणि किर दुपय-चउप्पयाणि सावएण गिण्हियव्वाणि जाइं अबद्धाणि चेव अच्छंतीति । वहो वि इत्यादि जाव सावेक्खो पुव्वं भीयपुरिसेण होयव्वं। जइ न करेज्जा ताहे मम्मं मुत्तूणं लयाए दारेण वा एगं दो तिन्नि वा वारे ताडेज्जा एवमाइ विभासा। छविछेउ अणट्ठाए इत्यादि। जाव सावेक्खो गंडं वा अरइं वा छिंदिज्ज दहेज्ज वा इत्यादि जाव दुपओ जं सयं उक्खिवेइ ओयरइ। एवं वाहिज्जइ बइल्लाइणं जहा साभावियाओ वि भाराओ ऊणओ कीरइ हलसगडेसु वि वेलाए मुयइ इत्यादि। भत्तपाणवोच्छेओ न कायव्वो इत्यादि जाव सावेक्खो रोगनिमित्तं वायाए वा भणेज्ज-अज्ज ते न देमि, संतिनिमित्तं वा उववासं कारविज्जा। (आवश्यकचूर्णिःभाग-२ पृ.८४)

इत्यादि कियदुच्यतेऽत्रेति? तदत्र तात्पर्यमिदं- प्रयोजने उपस्थिते साधुभिः श्रावकान् प्रति सावद्यं धर्मकृत्यमपि नोपदेष्टव्यं यत् श्रुत्वा श्राद्धस्तदात्व एव तत्र प्रवर्तते। यदा तु शास्त्रं व्याख्यायते सामान्येन वा श्रावकधर्मकृत्यमुपदिश्यते तदा द्रव्यस्तवविषयमपि धर्मकृत्यं शुद्धव्यवहारसदाचारादिकं च प्ररूपयितं प्रज्ञा-पनीभाषात्वे न दोषः। यतो यद्यत्किमपि धर्मविषये विधेयं वस्तु श्रावकाणां तत्सर्वमपि सदुरूपदेशेनैव ज्ञायत इति।

प्रत्याख्यानी यथा अन्यं याचमानं निराकरोति- 'मा मां याचस्व, न मम दातुमिच्छा' इति।

इच्छानुलोमा यथा प्रतिपादय(यि)तुर्या इच्छा तदनुलोमा = तदनुकूला इच्छानुलोमा। यथा कार्ये प्रेरितस्य 'एवमस्तु ममाप्यभिप्रेतमेतद्' इति वचः। यथा वा केनचित् कश्चिदुक्तः 'साधुसकाशं गच्छामः'। स प्राह 'शोभनमिदं ममाप्यभिप्रेतम्' इत्येवंरूपा।

यथा अनभिगृहीता यथा अर्थानभिग्रहेण योच्यते, स डित्थ आदिवत्। यस्यां वा भाष्यमाणायां न कोऽप्यर्थनिश्चयो, यथा बालग्रहिलमदिरामत्तादीनाम्।

अभिगृहीता याऽर्थनिश्चयं करोति। यथा 'एष घटः पटः' इत्यादि।

संशयकरणी अनेकार्थसाधारणी। यथा- सैन्धवमानय इति। सैन्धवशब्दो हि पुरुषवस्त्रलवणवाजिषु वर्तते। यथा वा 'नवकम्बलो देवदत्तः'। अत्र हि नवशब्दः प्रत्यग्रवचनः सङ्ख्यावचनश्चेति।

व्याकृता स्पष्टाक्षरा। यथा देवमनुष्यशुकसारिकादीनाम्। 'देवदत्त! एष ते भ्राता समेति' इत्यादिका। स्पष्टार्था वा '**धम्मो मंगलमुक्किट्ठं**' (दशवैकालिक १.१) इत्यादि।

अव्याकृता अस्पष्टाक्षरा। मम्मनलल्लुरवचनादिका। द्वीन्द्रीयादितिरश्चां वा सर्वेषामपि ये केचन शब्दविशेषाः अथवा अस्पष्टार्था व्यासकष्टादिका। यथा-

अदृश्वला जनपदाः शिवश्वलाश्चतुष्पथाः। वनीताः केशशूलिन्यो भविष्यन्ति कलौ युगे। ( ) इत्यादि।

इत्युक्तो द्विचत्वारिंशद्भेदभिन्नो मनोयोगो वाग्योगश्च।

सम्प्रति सप्तविधं काययोगमाह- **उरलेत्यादि**। उदारं = प्रधानम्, प्राधान्यं च तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया द्रष्टव्यम्; ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनरूपत्वाद्; उदारं वा सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् सहजशेष-शरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणम्; उदारं वा स्फारनामात्रसारं वैक्रियादिशरीर-पुद्गलापेक्षया स्थूलमित्यर्थः। उदारमेव औदारिकम्। चीयत इति कायः, औदारिकमेव कायस्तेन सहकारिकारणभूतेन तद्विषयो वा योग औदारिककाय-योगः। तथा औदारिकापेक्षया विविधा = नानाप्रकारा विशिष्टा वा विलक्षणा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम्। उत्तरवैक्रियं त्वपेक्ष्य विविधा वैक्रिया समुद्घातकरण-निजजीवप्रदेशदण्डनिसर्जन-बाह्यपुद्गलग्रहण-शरीरविकुर्वा(र्व)णादिका क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम्। वैक्रियं चासौ कायश्च तेन तद्विषयो वा योगः स तथेति। तथा चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादितथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिव-शादाह्रियते = निर्वर्त्यत इति निपातनादाहारकम्, तदेव कायस्तेन तद्विषयो वा योग इति।

तम्मिस्सतिगं च(चे)त्ति। तेषां औदारिकवैक्रियाहारकाणां मिश्रत्रिकम्। तद्यथा- औदारिकमिश्रो वैक्रियमिश्र आहारकमिश्रश्चेति। तत्र औदारिकं मिश्रं यत्र कार्मणेन स तथा। स च औदारिकशरीरिणाम् अपर्याप्ता-वस्थायाम्, केवलिनां च केवलिसमुद्घातावस्थायां च भवतीति। तत्र उत्पत्तिदेशे पूर्वभवादनन्तरमागतो जीवः प्रथमसमये कार्मणेनैव केवलेनाहारयति, ततः परमौदारिकस्याप्यारब्धत्वादौदारिकेण कार्मणमिश्रेण यावच्छ-रीरस्य निष्पत्तिरिति। उक्तं च-

जोएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो। तेण परं मीसेणं, जाव सरीरस्स निप्फत्ती।।

(सूत्रकृदङ्गनिर्युक्ति-१७७)

तथा केवलिसमुद्घातावस्थायामपि द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु कार्मणेन मिश्रमौदारिकं प्रतीतमेव। उक्तं च-

मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तम-षष्ठ-द्वितीयेषु। (प्रशमरतिः-२७६) इति कर्मग्रन्थाभिप्रायः।

सिद्धान्ताभिप्रायेण तु- औदारिकमिश्रं चतुर्द्धा। तत्र भेदद्वयं पूर्वोक्तमेव, तृतीयं तूत्तरवैक्रियप्रारम्भे उत्तरवैक्रियेण, चतुर्थं त्वाहारकप्रारम्भे आहारकेणापि। एतच्चानन्तरमेवोपयोगद्वारे व्यक्तीकरिष्यते। तत औदारिक-मिश्रमेव कायस्तेन तत्र वा योग इति। तथा वैक्रियं मिश्रं यत्र कार्मणेन औदारिकेण वा तत् तथा। तत्र कार्मणेन मिश्रं देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां प्रथमसमयादनन्तरं द्रष्टव्यम्। बादरपर्याप्तक(कानां) तथा केषाञ्चित् वायूनां सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियं कृत्वा तत्परित्यजतामौदारिकं च गृह्णतां वैक्रियमि-श्रमौदारिकेणेति। षडशीतिकचूर्णौ तु पुनरेवमभाणि-

सव्वेसिं[1] वा उत्तरवैक्रियारम्भकाले कम्मणा सह जओ ते विउव्वियकरणकाले विउव्विय-समुग्घायं समोहन्नंति समुग्घाए य कम्मणसरीरेण वेउव्वियपोग्गले आदायंति। आदाइएसु वि जाव सरीरपज्जत्ती न पूरइ ताव वेउव्वियमिस्स सन्निस्स लब्भइ। (षडशीतिकचूर्णिः) तदेव कायस्तेन तत्र वा योगः।

आहारगमिस्स त्ति । आहारकं मिश्रं यत्र औदारिकेणेति गम्यते । तच्च सिद्धप्रयोजनस्य चतुर्दशपूर्वविद आहारकं परित्यजत औदारिकमुपाददानस्येति। तदेव कायस्तेन तत्र वा योगः।

कम्मण त्ति। कर्मैव कर्मणां वा विकारः कार्मणम्। संसार्यात्मनां गत्यन्तरसङ्क्रमणकाले साधकतमं करणम्। कार्मणमेव कायस्तेन तद्विषयो वा योगः कार्मणकाययोगः।।१७।।

---

१ ग्रन्थकृतः देवनारकतिर्यग्मनुष्यवायूनाम्।

अथैतानेव योगान् पृथिव्यादिषु गाथाद्वयेनाह–

[मूल] कम्मोरल दुगजोगा, तिन्नेगिंदिसु विउव्विदुगजुत्ता ।
पण मरुसु बिविगलमणे, कम्मुरलदुगं वई तुरिया ।।१८।।

आहारदुगं वज्जिय, तेरस तिरिएसु पनरस नरेसु ।
उरलदुगाहारदुगं, वज्जिय एक्कार निरयसुरे ।।१९।।

[व्याख्या] कम्मि त्ति। कार्मणः। **उरलदु त्ति**। औदारिकद्विकं औदारिक औदारिकमिश्ररूपमिति। त्रयो योगा एकेन्द्रियगृहपञ्चके स्युः। पुनस्त एव त्रयो योगा वैक्रियतन्मिश्रद्वययुक्ताः सन्तः पञ्च मरुत्सु वैक्रियलब्धिमद्–बादरपर्याप्तपवनेषु, तथा विकलामनस्केषु प्रत्येकं कार्मणौदारिकद्विकम्, तुर्या वाक् तु सत्यामृषाभाषारूपेति चत्वारो योगा भवन्तीति।। **आहार**गाथा तु सुगमा।।१८–१९।।

अथोपयोगद्वारम्, ते च द्वादशेत्याह–

[मूल] नाणं पंचविहं तह, अन्नाणतिगं च अट्ठ सागारा ।
चउदंसणमणगारा, बारस जियलक्खणुवओगा ।।२०।।

[व्याख्या] उपयोजनमुपयोगः = बोधरूपो जीवव्यापारः। अथवा उपयुज्यते = वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्याप(पा)र्यते यः स उपयोगः। यद्वा उपयुज्यते = वस्तुपरिच्छेदं प्रति जीवोऽनेन करणभूतेनेत्युपयोगः। सर्वत्र जीवस्वतत्त्वभूतो बोध एवोपयोगो मन्तव्यः। स च द्विधा साकारोऽनाकारश्च। तत्र वस्तूनां विशेषरूपग्राहकः साकारोपयोगः, सह विशिष्टाकारेण वर्तत इति कृत्वा। सामान्यरूपविषयस्तु अनाकारोपयोगः, सामान्याकार–युक्तत्वे सत्यपि विशिष्टव्यक्ताकाररहितत्वादिति। तत्र प्रथमो ज्ञानपञ्चकाज्ञानत्रिकभेदादष्टधा। द्वितीयस्तु चक्षुरादिदर्शनच्च(च)तुष्टय भेदाच्चतुर्द्धा, मिलिता द्वादश। **जियलक्खण त्ति**। जीवस्य लक्षणभूता जीवलक्षणाः। **उपयोगलक्षणो जीव** (तत्वार्थाधिगमसूत्रम्–२/८) इति वचनात्। लक्ष्यते जीव एभिरिति कृत्वा।। २०।।

अथोपयोगान् पृथिव्यादिषु गाथाद्वयेनाह–

[मूल] अन्नाणदुगमचक्खुदंसण एगिंदि तिन्नि उवओगा ।
मइसुयनाणअनाणा, अचक्खु इय पंच दुतिकरणे ।।२१।।

[व्याख्या] मत्यज्ञानश्रुताज्ञानद्विकम् अचक्षुर्दर्शनं चेत्युपयोगास्त्रयः एकेन्द्रियगृहेषु पञ्चसु। तथा मतिश्रुतज्ञाने द्वे, मत्यज्ञानश्रुताज्ञाने च द्वे, अचक्षुर्दर्शनं चेति पञ्चोपयोगा द्विकरणेषु त्रिकरणेष्वपीति।।२१।। तथा–

[मूल] एए सचक्खुदंसा, चउरिंदि असन्निएसु छच्चेव ।
नरि[1] बारस केवलदुगमूण नव तिरियनिरयसुरे ।।२२।।

[व्याख्या] एत एव पूर्वोक्ता पञ्चोपयोगाश्चक्षुर्दर्शनसहिताश्चतुरिन्द्रियेषु असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वपि च षडेव भवन्ति। नरेषु द्वादशापि। तथा त एव द्वादश केवलज्ञानकेवलदर्शनमनःपर्यायैरूना नव नव सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु नारकेषु देवेषु च भवेयुरिति।।२२।।

---

१ मूलगाथायां 'नरि' इत्यस्य स्थाने 'नवरि' इति पाठो दृश्यते।

अथ द्वित्रिचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञिषु उपयोगविषये सैद्धान्तिककार्मग्रन्थिकयोर्मतभेदमाह–

[मूल] सुत्ते दुतिकरणाणं, पण पण छ छच्च अमण चउकरणे ।
कम्म इगा ति ति चउ चउ, नाणदुगूणा जओ तेसिं ।।२३।।

[व्याख्या] सूत्रे प्रज्ञापनादौ द्वित्रिचतुरेन्द्रियासञ्ज्ञिनां क्रमेण पञ्च पञ्च षट् षट् उपयोगाः समभिदधिरे। तथाहि–

जेणं बेंदिया आभिणिबोहियनाणसुयनाणमइअन्नाणसुयअन्नाणोवउत्ता तेणं बेइंदिया सागारोवउत्ता। जेणं बेंदिया अचक्खुदंसणोवउत्ता तेणं बेंदिया अणागारोवउत्ता। से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ०। एवं जाव चउरिंदिया नवरं चक्खुदंसणं अब्भहियं। (प्रज्ञापनापद–२९, सूत्र–१९३२) प्रज्ञापनापदे २९।

अयं चार्थो जीवाभिगमेऽपि। तथाहि–

ते णं भंते जीवा किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी वि अन्नाणी वि, जे नाणी ते नियमा दुन्नाणी। तं जहा– आभिणिबोहियनाणी य सुयनाणी य। जे अन्नाणी ते नियमा दुअन्नाणी। तं जहा–मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य। (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र–२८) इति।

द्वि–त्रि–चतुरिन्द्रियदण्डकेषु तथा–

दो दिट्ठी दो दंसणा दो न्नाणा दो अन्नाणा दुविहे जोगे य। (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र–३५)

इत्यादि सम्मूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियदण्डके जीवाभिगमे प्रथमप्रतिपत्तौ। कार्मग्रन्थिकास्त्वेतेषां चतुर्णामपि एतानेव पञ्च पञ्च षट् षट् ज्ञानद्विकेन मतिज्ञानश्रुतज्ञानलक्षणेन ऊनान् त्रीन् त्रीन् चतुरश्चतुरश्च प्रतिपादयन्ति। **जओ तेसिं ति**। यतस्तेषां मतमिदमस्तीति शेषः। तदेवाह–

[मूल] सासणभावे नाणं, विउव्वाहारगे उरलमिस्सं ।
नेगिंदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयंपि ।।२४।।

[व्याख्या] सूत्रे = प्रज्ञापनादौ मतिश्रुतरूपं ज्ञानद्वयं भवतीत्युक्तम्। तथौदारिकशरीरिभिर्वैक्रिय आहारके च शरीरे प्रारभ्यमाणे उभयत्राप्यौदारिकं मिश्रं भवति, वैक्रिये च मुच्यमाने वैक्रियं मिश्रम्, आहारके च मुच्यमाने आहारकमिति। तथा एकेन्द्रियेषु न सास्वादनमित्येतद्द्विद्वतयं सूत्रोक्तमपीह कार्मग्रन्थिका नाभ्युपगच्छन्ति, किं त्वेवमाहुः– सास्वादनभावेऽज्ञानमेव। तथा वैक्रियस्य प्रारम्भे मोचनेऽपि वैक्रियमिश्रमेव। आहारकस्यापि प्रारम्भे मोक्षे चाहारकमिश्रमिति। तथा एकेन्द्रियेषु सास्वादनं भवतीति गाथासङ्केपार्थः। विस्तरार्थः पुनरयम्– षडशीतिकबृहद्वृत्तौ परं(रि)तात्पर्यवृत्त्या सासादनसम्यग्दृष्टित्वे मतिज्ञानं मतिश्रुतरूपं भवति, न पुनरज्ञानमिति। तथाहि–

बेइंदियाणि भंते किं नाणी अन्नाणी? गोयमा ! णाणी वि अन्नाणी वि। जे नाणी ते नियमा दुनाणी। तं जहा– आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी। जे अन्नाणी ते नियमा दुअन्नाणी तं जहा– मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य।

(भगवतीशतक–८३.२, सूत्र–२७)

इत्यादिसूत्रे यद् द्वीन्द्रियादीनां ज्ञानित्वमुक्तं तत्सास्वादनापेक्षमेव, न पुनरन्यथा। उक्तं च प्रज्ञापनाटीकायाम्–

बेइंदियस्स दो णाणा कहं लब्भंति? भन्नइ, सासायणं पडुच्च। तस्सापज्जत्तयस्स दो णाणा लब्भंती त्ति।

(प्रज्ञापना टीका)

अतः सासादनभावे ज्ञानं श्रुतसम्मतमेव। परमेतत्कार्मग्रन्थिका न मन्यन्ते। ते ह्येवमाहुः- सासादनस्य मिथ्यात्वाभिमुखतया तत्सम्यक्त्वस्य मलीमसत्वेन तन्निबन्धनस्यापि मलीमसत्वादज्ञानरूपतेति । तथा वैक्रिये आहारके च प्रारभ्यमाणे ताभ्यां सहौदारिकस्य मिश्रीभवनादौदारिकमिश्रं भवतीति। तथा चाह प्रज्ञापनाटीकाकारः-

'यदा पुनरौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिसम्पन्नो मनुष्यः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको वा पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिकशरीरयोग एव वर्तमानः निजजीवप्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानादाय यावद्वैक्रियशरीरपर्याप्ता पर्याप्तिं न गच्छति तावदौदारिकस्य वैक्रियेण सह मिश्रताव्यपदेशः चौदारिकमिश्र इत्येवंरूपः, औदारिकस्य व्याप्रियमाणत्वेन प्रधानत्वात्। एवमाहार-केणापि सह मिश्रता द्रष्टव्या। आहारयति च तेनैवेति तस्यैव व्यपदेश इति'।

आहारयति चेत्यादि वाक्यस्यायमर्थः- आहारकशरीरयोग्यान् पुद्गलान् आहारयति गृह्णाति तेनैवेति औदारिककाययोगेन ततस्तस्यैवेति औदारिकस्य व्यपदेशः औदारिकमिश्र इत्येवंरूप इति। परित्यागकाले च वैक्रियस्याहारस्य च यथाक्रमं वैक्रियमिश्रं आहरकमिश्रं च। उक्तं च- प्रज्ञापनाटीकायामेवाहारकमधिकृत्य-

'यदा आहारकशरीरीभूत्वा कृतकार्यः पुनरप्यौदारिकं गृह्णाति तदा आहारकस्य प्रधानत्वादौ-दारिकप्रवेशं प्रति व्यापारभावात् न परित्यजति यावत्सर्वथैवाहारकं तावदौदारिकेण सह मिश्रतेति आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोग इति'।

तच्चेत्थम्-वैक्रियाहारकारम्भकाले औदारिकमिश्रं सूत्रेऽभिहितमपि कार्मग्रन्थिकैर्येनाभिप्रायेणाभ्युपगम्यते सोऽभिप्रायो बहुश्रुतभ्योऽवसेयः।

तथा न = नैवैकेन्द्रियेषु। **सासाणो त्ति**। सासादनभावः सूत्रे मतः, अन्यथा द्वीन्द्रियादीनामि-वैकेन्द्रियाणामपि ज्ञानित्वमुच्येत। न चोच्यते, किन्तु विशेषतः प्रतिषिध्यते। तथाहि-

एगिंदिया णं भंते! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नो नाणी नियमा अन्नाणीति।

(भगवतीशतक-८३.२, सूत्र-२७)

तदेवं एकेन्द्रियाणां ज्ञाननिषेधेन सासादनभावोऽपि निषिद्धो द्रष्टव्यो, यतो द्वीन्द्रियादिषु यो ज्ञानभावः स सास्वादनाव्यभिचार्येव, परमसावपि कार्मग्रन्थिकैर्नाद्रियते। सोऽप्यनादरस्तद्गम्य एवेति।

तथा **नेहाहीत्यादि**। तदेवं सासादनभावे ज्ञानं, वैक्रियाहारकयोः प्रारम्भे औदारिकमिश्रम्, एकेन्द्रियेषु सासादननिषेध इत्यतेत्त्रितयं सूत्राभिमतमपि न नैवेह कर्मविचारे कार्मग्रन्थिकैरधिकृतमभ्युपगतमिति[१] गाथार्थः ॥२४॥

अथ तनुद्वारम्। तनवश्च किं नामधेयाः ? कति च ? इति किञ्चिदूनगाथापूर्वार्द्धेनाह-

[मूल] **उरलविउव्वाहारगतेयसकम्मा तणु त्ति नरि पण वि। (२५ पू.)**

[व्याख्या] तत्र तनोति विस्तारयति जीवः स्वप्रदेशान् सङ्ख्येयानसङ्ख्येयान् यस्यां प्रतिप्रदेशं सा तनुः =

१. ग्रन्थकर्तृः टीप्पणी-षडशीतिबृहद्वृत्तिरिति।

शरीरम् । तच्च पञ्चधा- औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणभेदात्। तत्र उदारं = प्रधानं, प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनरूपत्वात्। उदारं वा सातिरेकयोजनसहस्र-प्रमाणत्वाद् बृहत्प्रमाणम्। उक्तं च-

जोयणसहस्समहियं, उहय एगिंदिए तरुगणेसु। मच्छजुयले सहस्सं उरगेसु य गब्भजाईसु।।

(प्रवचनसारोद्धार-१०९९)

एतच्चौदारिकस्य बृहत्त्वं शेषसहजशरीरापेक्षम्, अत एव सहजत्वाभावादुत्तरवैक्रियं समधिकयोजन-लक्षमपि। अथवा उरलम् = अल्पप्रदेशोपचितत्वाद् बृहत्त्वाच्च भिण्डवदिति, तदेव ओरालिकं निपातनात्। अथवा उरलम् = मांसास्थिस्नाय्वाद्यवबद्धं तदेव उरालिकमिति। उक्तं च-

तत्थोदारमुरालं, उरलओराल महव विन्नेयं। ओदारियंति पढमं, पडुच्च तित्थेसरसरीरं।।
भन्नइ य तहोरालं, वित्थरवंतं वणस्सईण सया। पगईए नत्थि अन्नं, इद्दहमेत्तं विसालेत्ति।।
उरलं थेवई सोवचियंपि महल्लगं जहा भिंडं। मंसाट्ठिण्हारुबद्धं, ऊरालं समयपरिभासा।। ( )

उदारमेव औदारिकम्। तच्च चक्षुरग्राह्यं ग्राह्यं च द्विधापि भवति। तत्र सूक्ष्मानां पृथिव्यप्तेजोवायुनिगोदाना-मौदारिकपुद्गलमयत्वे सत्यपि सूक्ष्मनामकर्मोदयात् बहून्यप्येकत्रावस्थितान्यपि शरीराणि चक्षुर्गोचरे न भवन्ति। बादराणामपि पृथिव्यप्तेजोवायूनामेकैकानि न दृश्यन्ते, किन्तु

एगं व दो व तिन्नि व, संखिज्जाणि व न पासिउं सक्का। दीसंति सरीराइं पुढविजियाणं असंखाइं। ()

एवमप्तेजोवायूनामपि। तथा बादरानन्तवनस्पतीनां प्रत्येकतरूणां स्कन्दमूलस्कन्धत्वक्शाखाप्रतिशाखा-प्रवालान्यसङ्ख्येयशरीरात्मकानि तालसरलनालिकेरीस्कन्धाः पुनरेकैक शरीरात्मका एव लोचनास्पदीभवन्ति। उक्तं च-

खंधा वि एगजीवा ताल-सरल-नालिएरीणं ति। ( )

तथा पद्मनालानि वल्लयो लताश्च काश्चन जलोद्भवा उत्सेधाङ्गुलेन समधिकसहस्रयोजनमाना अपि एकैकशरीरात्मका दृश्यन्त इति। **ननु** कथमिह अनन्तवनस्पतीनामपि कन्दमूलादिष्वसङ्ख्येयान्येव शरीराण्युक्तानि, न पुनरनन्तानि ? **उच्यते,** अनन्तकायिकानामनन्तानामपि शरीराण्यसङ्ख्येयान्येव भवन्ति, न त्वनन्तानि। यत उक्तं-

गोला य असंखेज्जा, असंखनिग्गोय गोलओ भणिओ। एक्केक्कंमि निगोए, अणंतजीवा मुणेयव्वा।।

(बृहत्संग्रहणी-३०१)

निगोदोऽनन्तकायिकशरीरम्। तथेदमौदारिकं रोग-पा(बा)ल्य-जरा-शीत-वातातपेप-(तप)चयापचय-प्रहार-पाक-शोथ-अस्थिभङ्ग-गतिभङ्गावयवच्छेदेन्द्रियघातापमृत्युप्रभृत्यपायानां विषय इति।

तथा विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम्। तथाहि- तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति, अनेकं भूत्वा एकम्। अणु भूत्वा महद्भवति, महद् भूत्वाणु। तथा खचरं भूत्वा भूचरं भवति, भूचरं भूत्वा खचरम्। अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति, दृश्यं भूत्वादृश्यमिति। औदारिकापेक्षया वा विशिष्टा विलक्षणा गर्भवासाद् विसंवृतगवाक्षकल्पेषु घटिकालयेषु देवशयनीये देवदूष्यान्तरे च उत्पादादिका विसदृशा क्रिया = विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम्। उत्तरवैक्रियं त्वपेक्ष्य विविधा = वैक्रिय-समुद्घातकरण-निजजीवप्रदेशदण्डनिसर्जन-बाह्यपुद्गल-ग्रहण-शरीरविकुर्वा(र्व)णादिका क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम्। उक्तं च-

विविहा व विसिट्ठा वा, विक्किरिया तीए जं भवं तमिह। वेउव्वियं तयं पुण नारगदेवाण पगईए।।

(प्रज्ञापना मलवृ.प.४०८)

इदं च वैक्रियशरीरं चर्मचक्षुषां प्रायेणाग्राह्यं भवति, कथञ्चिद् ग्राह्यमपि। तथा बाल्य-रोग-जरादीनां पूर्वोक्तापायानां सर्वथैवाविषयः। उक्तं च-

वैक्रियाहारकतैजसकार्मणानि मारयितुमशक्यानि। ( )

तथा चतुर्दशवि(शादि)पूर्वविदा विशिष्टलब्ध(ब्धि)वशात्तीर्थकरस्फातिदर्शनादितथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यामाहारकसमुद्घातजीवप्रदेशदण्डनिसर्जनक्रमेण आहारकवर्गणात आहारकपुद्गलानादायादायाह्रियते निवर्त्यते इत्याहारकम्। यद्वा आह्रियन्ते = गृह्यन्ते सूक्ष्मा जीवादयः पदार्था केवलिसमीपेऽनेनेति निपातनादाहारकम्। उक्तं च-

कज्जंमि समुपन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए। जं इत्थ आहरिज्जइ, भणियं आहारगं तं तु।।

(प्रज्ञापना मलवृ.प.४०९)

कार्याणि चामूनि-

पाणिदयरिद्धिसंदंसणत्थ अत्थोवगहणहेउं वा। संसयवोच्छेयत्थं, गमणं जिणपायमूलंमि।।
चत्तारि य वारा उ, चउदसपुव्वी करेइ आहारं। संसारमि वसंतो, एगभवे दोन्नि वाराओ।।

(प्रज्ञापना मलवृ.प.४०९)

तच्च वैक्रियापेक्षयात्यन्तशुभं स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहघटनात्मकं च। तथेदं तथास्वाभाव्यादेवोत्पद्यमानमपि प्रथमतोऽपि देशोनहस्तमेव मिलति, उत्कृष्टं तु सम्पूर्णं हस्तमानम्। तथा जघन्यतोऽपि उत्कृष्टतोऽपि अन्तर्मुहूर्तस्थितिकमेव। तथेदं लोके न सर्वदापि प्राप्यते। यदापि प्राप्यते तदापि जघन्यत एकद्वित्र्यादिकम्, उत्कृष्टतस्तु सहस्रपृथक्त्वमानम्। तथास्यान्तरमपि जघन्यं समयः, उत्कृष्टं तु षण्मासा इति। तथेदं चर्मचक्षुषां प्रायेण [अ]गम्यम्। शीतातपरोगाद्यविषयश्चेति।

तथा तेजोवर्गणान्तःपातिभिराहारपाकतनूष्मादिजनकै(:) तेजोनिसर्गहेतुभिस्तेजःपुद्गलैनिर्वृतं तैजसम्। उक्तं च-

सव्वस्स उण्हसिद्धं, रसाइआहारपाकजणगं च। तेयगलद्धिनिमित्तं च, तेयगं होई नायव्वं।।

(प्रज्ञापना मलवृ.प.४०९)

एतच्चाहारकपाक-तनूष्मादिलिङ्गेनातिशयज्ञानेन वा गम्यते, न पुनश्चक्षुरादिभिर्गृह्यते। एतत्प्रकोपे च ज्वरदाह-परितापादयः प्रवर्तन्ते।

तथा कर्मणोऽधिकारः(विकारः) कार्मणम्। कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह क्षीरनीरवद् अन्योन्यानुगताः सन्तः कार्मणं शरीरम्। तदुक्तम्-

कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं। सव्वेसिं सरीराणं, कारणभूयं मुणेयव्वं।।

(अनुयोगद्वार हारि.टी.पृ.८७)

अत्र **सव्वेसिं** इति सर्वेषामौदारिकादीनां शरीराणां कारणभूतं = बीजभूतं कार्मणशरीरम्। न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरसम्भवः। इदं च कार्मणशरीरं

जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतमं करणम्। तथाहि- कार्मणेनैव वपुषा परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशम-भिसर्पति। **ननु** यदि कार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं सङ्क्रामति तर्हि स गच्छन्नागच्छन्वा कस्मान्नोपलभ्यते ?, **उच्यते,** कर्मपुद्गलानामतिसूक्ष्मतया चक्षुरिन्द्रियागोचरत्वात्। आह च प्रज्ञाकरगुप्तोऽपि-

अन्तराभवदेहोऽपि सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते। निःक्रामन् प्रविशन्वापि नाभावोऽनीक्षणादपि।। ( )

ननु कार्मणाख्याया नामकर्मण उत्तरप्रकृते(:) कार्मणशरीरस्य च कः प्रतिविशेषः ? उभयोरपि कार्मणवर्गणानिष्पन्नत्वा(त्) चक्षुराद्यग्राह्यत्वाच्चेति, **सत्यम्,** एतस्मिन् साम्ये सत्यपि महान् विशेषोऽस्ति। तथाहि- येयं कार्मणाख्या नामकर्मोत्तरप्रकृतिः सा एकैव सती कार्मणशरीरस्य कारणं भवति, कार्मणशरीरं तु तदुदयसम्भवित्वात् तत्कार्यम्, तच्च निःशेषकर्मणां प्ररोहभूमिराधारो वा, सर्वसंसारिणां च गत्यन्तरसङ्क्रमणे साधकतमं करणमित्यनयोर्विशेषः। अयं चौदारिकादिक्रमो यथोत्तरं सूक्ष्मत्वात् प्रदेशबाहुल्याच्चेति।

अथैतेषां पञ्चानामपि शरीराणां परस्परं कारण-प्रदेशसङ्ख्या-स्वामि-विषय-प्रयोजन-प्रमाण-स्थिति-अल्पबहुत्वकृतो भेदः प्रदर्श्यते।

तत्र कारणकृतो भेदो यथा- औदारिकवर्गणया स्थूलपरिणामवत्पुद्गलस्कन्धवत्या निष्पन्नमौदारिकं शरीरम्। एवं वैक्रियाहारकतैजसकार्मणवर्गणाभिः **परं परं सूक्ष्ममिति** (तत्त्वार्थ २.३८) वचनाद् यथोत्तरं सूक्ष्म-सूक्ष्मतरपरिणामवद् बहु-बहुतरप्रदेशपुद्गलस्कन्धवतीभिः क्रमेण निष्पन्नानि वैक्रियाहारकतैजसकार्मणशरीराणीति।

प्रदेशसङ्ख्याकृतो भेदो यथा- प्रदेशतः परं परमसङ्ख्येयगुणं प्राक् तैजसात्, ततः परमनन्तगुणे तैजसकार्मणे इति।

स्वामिकृतो भेदो यथा- औदारिकं सर्वेषामपि तिर्यङ्मनुष्याणाम्, भवधारिवैक्रियं देवनारकाणाम्, उत्तरवैक्रियमपि देवनारकाणां वैक्रियलब्धिमतां केषाञ्चिद् बादरवायुसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च, आहारकं चतुर्दशपूर्वविदाम्, तैजसकार्मणे सर्वसंसारिणामिति।

विषयकृतो भेदो यथा- औदारिकस्य तिर्यगुत्कृष्टो विषयो विद्याधरानाश्रित्य आनन्दीश्वरात्, जङ्घाचारणान् प्रति आरुचकाद्रेः। ऊर्द्धमुभयान् प्रति आपाण्डुकवनात्। वैक्रियस्यासङ्ख्येया द्वीपोदधयः। आहारकस्य महाविदेहाः। तैजसकार्मणयोः सर्वलोक इति।

प्रयोजनकृतो भेदो यथा- औदारिकस्य धर्माधर्म-सुख-दुःख-केवलज्ञानावाप्त्यादि प्रयोजनम्, वैक्रियस्य स्थूलसूक्ष्मैकानेकत्वव्योमक्षितिगमनाद्यनेकरूपा विभूतिः। आहारकस्य चतुर्दशपूर्वविदाम् अप्कायादिप्राणिरक्षणार्थं वा,तीर्थकरस्फातिदर्शनार्थं वा, अपूर्वापूर्वसूक्ष्मसूक्ष्मतरार्थश्रवणार्थं वा, संशीतिव्यवच्छेदार्थं वा, निष्पादितं सन्(त्) महाविदेहादिष्वपि तीर्थकृत्या(दा)देर्मूले गत्वा समवसरणादितीर्थकरर्द्धिमवलोक्य (अ)पूर्वापूर्वार्थान् समाकर्ण्य सर्वप्रश्ननिर्णयं च विधाय पुनरिह समेतीति। तैजसस्याहारपाकः शापानुग्रहशक्तिस्तेजोलेश्यानिसर्गश्चेति। कार्मणस्य भवान्तरे गतिः।

प्रमाणकृतो भेदो यथा- औदारिकशरीरं सर्वेषामपि पृथिव्यादीनां मनुष्यान्तानां जघन्यमङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रम्, उत्कृष्टन्तु विचित्रम्। तथाहि- पृथिव्यप्तेजोवायुनिगोदानां सूक्ष्मानां बादराणां चाङ्गुलासङ्ख्येयं भागमानम्, प्रत्येकतरुषु पद्मनालानि वल्यो(ल्लयो) लताश्च काश्चन जलोद्भवा उत्सेधाङ्गुलेन योजनसहस्रं समधिकम्।

अत्र प्रश्नतदुत्तरसाधिका विशेषणवतीगाथा इमा(:)-

जोयणसहस्सग(म)हियं, वणस्सई देहमाणुमुद्दि(क्कि)ट्ठं। तं च किल समुद्दगयं, जलरुहनालं हवइ नन्नं।।

(प्रवचनसारोद्धार-१०९९)

उस्सेहंगुलओ तं, होइ पमाणंगुलेण य समुद्दो। अवरोप्परओ दोन्निवि कहमविरोहीणि होज्जा हु।।

(विशेष-णवतिः-६)

पुढवीपरिणामाइं, ताइं किर सिरिनिवासपउमं च।
गोतित्थेसु वणस्सइ परिणामाइं तु होज्जाहि(णामाइं पि होज्ज ननु)।।

(विशेष-णवतिः-७)

जत्थुस्सेहंगुलओ, सहस्समवसेस एसु य जलेसु। वल्लीलयादओ वि य, सहस्समायामओ होंति।।

(विशेष-णवतिः-८, स्थानांग-२६५)

द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाणां क्रमेण द्वादशयोजनानि, गव्यूतत्रयम्, योजनं चेति। गर्भजानां जलचराणां योजनसहस्रम्, स्थलचराणां गव्यूतषट्कम्, उरःसर्पिणां योजनसहस्रम्, भुजसर्पिणां क्रोशपृथक्त्वम्, पक्षिणां धनुःपृथक्त्वम्, सम्मूर्च्छजानां त्वेतेषां क्रमेण योजनसहस्रम्, गव्यूतपृथक्त्वम्, योजनपृथक्त्वम्, धनुःपृथक्त्वम्, पुनर्धनुःपृथक्त्वं चेति। मनुष्याणां गव्यूतित्रयमानम्। वैक्रियं देवनारकयोर्भवधारि जघन्यमङ्गुलासङ्ख्येयभागमानम्, उत्कृष्टं तु देवानां सप्तहस्तमानम्। नारकाणां पञ्चधनुःशतीमानम्, उत्तरवैक्रियं तु वैक्रियलब्धिमतां वायुवर्जं सर्वेषामपि जघन्यमङ्गुलसङ्ख्येयभागमानम्, उत्कृष्टं तु नारकाणां धनुःसहस्रम्, देवतानां योजनलक्षम्, सञ्ज्ञि-पञ्चेन्द्रियतिरश्चां योजनशतपृथक्त्वम्, नृणां समधिकं योजनलक्षम्, वायोर्जघन्यमुत्कृष्टं चाङ्गुलासङ्ख्येयभागमानम्। उक्तं च-

लक्खं सुराण अहियं, नराण तिरियाण सयपहुत्तं तु। नरएसु सतणुदुगुणं भाए अंगुलअसंखंसो।। ( )

आहारकं तु तथाविधस्वाभाव्याज्जघन्यतोऽपि प्रथममेव देशोनरत्निप्रमाणमेव भवति। उत्कृष्टतस्तु सम्पूर्ण-रत्निप्रमाणमिति। उक्तं च प्रज्ञापनासूत्रे -

आहारगसरीरस्स णं भंते ! केमहालीया सरीरोगाहणा पं०(पण्णत्ता) ? गो०(गोयमा!) जहन्नेणं देसूणा रयणी उक्कोसेणं पडिपुन्ना रयणि त्ति।। (प्रज्ञापना पद-२१, सूत्र-१५३५)।

अत्र वृत्तिः- तथाविधप्रयत्नविशेषतस्तदारम्भकद्रव्यविशेषतश्च प्रारम्भकालेऽप्युक्तप्रमाणभावादिति। तथा तैजसकार्मणे जघन्येऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमाने उत्कृष्टे तु केवलिसमुद्घाते प्रतिप्रदेशव्याप्त्या समस्तलोकाकाश-व्यापके।

स्थितिकृतो भेदो- औदारिकस्य स्थितिर्जघन्यार्मुहूर्तमुत्कृष्टा त्रीणि पल्योपमानि। वैक्रियस्य भवधारणीयस्य जघन्या दशवर्षसहस्राण्युत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागराणि। उत्तरवैक्रियस्य जघन्यान्तर्मुहूर्तम्, या पुनर्वैक्रियतदुभय-माश्रित्योक्ता-

संघायणपरिसाडो, जहन्नओ एक्कसमइओ होइ। ( )

इत्यादिका सात्र स्वल्पत्वान्न विवक्षिता। उत्कृष्टा पुनरेवं जीवाभिगमेऽभिहिता-

अंतमुहुत्तं नरएसु होइ चत्तारि तिरियमणुएसु। देवेसु अद्धमासो, उक्कोस विउव्वणाकालो।।

(रत्नसञ्चय-१७, जीवाभिगम, प्रवचनसारोद्धार-१३१०)

भगवत्यां तु वायुकायिकस्य पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां चोत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणैवोक्तेति। आहारकस्यो-भयथाप्यन्तर्मुहूर्तम्। तैजसकार्मणे प्रवाहतः सर्वेषामनादी। भव्यानां केषाञ्चित् सपर्यवसाने तथा केषाञ्चिद्भव्यानां शिवगमा(मना)योग्यानामप्यभव्यानां च सर्वेषामपर्यवसाने। उक्तं च[१]-

१ अत्र 'भवंति संति' इति पाठो दृश्यते।

सामग्गिअभावाउ, ववहारियरासिअप्पवेसा उ। भव्वावि ते अणंता, जे सिद्धिसुहं ण पाविंति।।

(गाथासहस्री-१२१, सङ्ग्रहशतकम्-७१)

अल्पबहुत्वकृतस्तु भेदो यथा- सर्वस्तोकमाहारकं कादाचित्कत्वात्। यदा च सम्भवति तदापि जघन्येन एकं द्वे वा उत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वम्। अन्तरं चाहारकस्य जघन्यमेकः समय उत्कृष्टं षण्मासाः। यथोक्तम्-

आहारगाणि लोगे, छम्मासे जा न हुंति विक्कियाइं। उक्कोसेणं नियमा, एक्को समओ जहन्नेणं।।
ताइं य जहन्नेणं, एक्कं दो तिन्नि पंच व हवंति। उक्कोसेणं जुगवं, पुहुत्तमित्तं सहस्साणं।। ( )

आहारकशरीरेभ्यो वैक्रियाण्यसङ्ख्येयगुणानि सुरनारकाणामसङ्ख्यातत्वात्। तेभ्य औदारिकशरीराण्यस-ङ्ख्येयगुणानि, सकलतिर्यङ्नराणां तत्सम्भवात्। इह च द्विधा तिर्यञ्चः- प्रत्येकशरीराः साधारणशरीराश्च। तत्र प्रत्येकशरीराणामसङ्ख्यातानां जीवं जीवं प्रत्येकैकशरीरभावादसङ्ख्यातानि शरीराणि। ये तु साधारणशरीरा अनन्तास्तेषामप्यनन्तानामनन्तानामेकैकशरीरभावादसङ्ख्यातान्येव शरीराणि। ततो यद्यप्यनन्तास्तिर्यञ्चस्तथापि सर्वाण्यप्यसङ्खेयान्येवौदारिकशरीराणि। तेभ्योऽनन्तगुणानि तैजसकार्मणानि, सर्वसंसारिजीवेषु प्रत्येकं तयोरवश्यं भावात्।।२५।।

अथैतास्तनूः पृथिव्यादिगृहेषु सङ्क्षेपार्थं व्यतिक्रमेणापि किञ्चिदधिकेन पादचतुष्टयेनाह-

[मूल] नरि पणवि कम्मोरलतेयतिगं अ वाउएगिंदिविगलमणे ।।२५।।
मरुतिरि तं सविउव्वं, वेउव्वियतेयकम्म सुरनिरए। दारं।

[व्याख्या] **नरि पणवी त्ति**। पञ्चापि पूर्वोक्तस्वरूपास्तनवो मनुष्यगृहे भवन्ति। तथा कार्मणतैजसौदारिकरूपं तनुत्रिकं वायुरहितेष्वेकेन्द्रियेषु विकलामनस्केषु च।। २५।।

तथा- **मरु तिरीत्यादि**। मरुत्सु सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु च तदेव पूर्वोक्तं तनुत्रिकं वैक्रियसहितं चतुष्टयं भवति। अयमभिप्रायो- वायूनां सञ्ज्ञितिरश्चां वैक्रियलब्धिरहितानां पूर्वोक्तमेव तनुत्रयम्, वैक्रियलब्धिमतां तु वैक्रियेण सहितं तच्चतुष्टयमपीति। तथा वैक्रियतैजसकार्मणरूपं त्रिकं नारकेषु सुरेषु च।।२६।।

अथ लेश्याद्वारम्। तासां नामानि सङ्ख्यां च गाथोत्तरार्द्धेनाह-

[मूल] किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्ह सुक्क छल्लेसा ।। २६।।

[व्याख्या] तत्र लिष्यते श्लिष्यते कर्मणा सहात्मानयेति लेश्या। कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मनः शुभाशुभरूपः परिणामविशेषः। यदुक्तं-

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामो य आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्याशब्दः प्रवर्तते इति।। ( )

अत्र केचिद्वदन्ति- कषायनिष्यन्दो लेश्या इति। अन्ये तु- अष्टप्रकारकर्मपरिणामो लेश्या इति। अपरे पुनः- योगपरिणामो लेश्या इति। योगत्रयजनकस्य पर्याप्तिनामकर्मणः परिणाम इत्यर्थः। परमत्र कषायाभावेऽपि क्षीणकषायादिषु शुक्ललेश्यायाः सद्भावात्, तथा अयोगिकेवलिनि कर्मचतुष्टयसद्भावेऽपि लेश्याया अभावाच्च मतद्वयम् अप्रमाणम्। तृतीयं त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां निर्वहति। तथाहि- यावद्योगाः सन्ति तावल्लेश्या अप्यनुवर्तन्ते सयोगिकेवलिनं यावद्, योगाभावे तु लेश्यानामप्यभावो यथा अयोगिगुणस्थाने। उक्तं च प्रतिक्रमणभाष्ये-

जोगपरिणामो लेसा जं सेलेसी अलेसओ। (प्रतिक्रमणभाष्यम्?)

तासां च स्वरूपं जम्बूफलखादकपुरुषषट्कदृष्टान्तेन ग्रामघातकचौराधिपतिषट्कनिदर्शने(न) च।

जह जंबुपायवेगो (संबोधप्रकरणम्-१२८३)

इत्यादिगाथाभिः प्रतिक्रमणभाष्यादवगन्तव्यम्। अथवा सङ्क्षेपाद् दृष्टान्तद्वयमप्येवम्-

मूलं साह पसाहा, गुच्छफले पडियजंबु भक्खणया। सव्वं माणुस पुरिसे साउह जुज्झंत धणहरणा।। इति

(दर्शनशुद्धिप्रकरणम्-२२६, संबोधप्रकरणम्-१२९०)

अथैताः पृथिव्यादिषु दर्श्यन्ते-

[मूल] आइचउ भूदगवणे, सिहिमरुविगलेसु अमणनिरएसु ।
आइतिगं तह सन्नी, तिरिमणुदेवेसु छल्लेसा ।। २७।।

[व्याख्या] आद्याश्चतस्रः कृष्णनीलकापोततेजोलेश्यारूपाः भूदगवनेषु त्रिष्वपि भवन्ति। तत्र सामान्येन सर्वेष्वप्येकेन्द्रियेषु सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तभेदेष्वाद्यं लेश्यात्रयं भवप्रत्ययादेव भवति।

केषुचित् पुनर्बादरशुभेषु रत्नक्षीरोदजलकमलादिषु भूदकवनेषु लब्ध्या पर्याप्तेषु करणतोऽपर्याप्तेषु क्षणमेकं पारभविकी भवनपत्यादि-ईशानान्तदेवसम्बन्धिनी चतुर्थ्यपि तेजोलेश्या भवति। यतो भवनवनज्योतिःसौधर्मेशानदेवाः केचिन्मिथ्यादृष्टयस्तेजोलेश्यावन्त एतेष्वप्युत्पद्यन्ते। उक्तं च-

पुढवी आउ वणस्सइ, गब्भे पज्जत्त संखजीवीसु। सग्गभुयाणं वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा इति।।

(प्रवचनसारोद्धार-११७४)

तथा तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नारकेषु भवस्वभावादेवाद्यं लेश्यात्रयं भवति, न पुनस्तेजोलेश्यापि, यतस्तेषां सा नेहभविकी तथाविधविशिष्टपरिणामासम्भवात्। नाप्यपर्याप्तावस्थायां पारभविकी, तेजोलेश्यावतां जन्तूनामेतेषूत्पादाभावादिति। तथा सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां परिणामवैचित्र्याद् अन्तर्मुहूर्तान्तर्मुहूर्तस्थितयः षडपि भवन्ति। देवानां चतुर्विधानामपि समुदितानामवस्थिता द्रव्यलेश्याः षडपि भवन्ति। भावपरावृत्त्या पुनरेकैकस्यापि षडपि भवन्ति। उक्तं च-

किण्हा नीला काऊ, तेऊ लेसा य भवणवंतरिया। जोइस-सोहम्मीसाण तेउलेसा मुणेयव्वा।।

(प्रवचनसारोद्धार-११५९, बृहत्सं.-१७६, त्रैलोक्यदी.-२८२)

कप्पे सणंकुमारे, माहिंदे चेव बंभलोगे य। एएसु पम्हलेसा, तेण परं सुक्कलेसा उ।।

(प्रवचनसारोद्धार-११६०, त्रैलोक्यदी.(बृहत्सं.)-२८३, प्र.पृ.-४०९)

तथा-

देवाण नारयाण य, दव्वा लेसा हवंति एयाओ। भावपरावत्तीए, सुरनेरइयाण छल्लेसा।।

(त्रैलोक्यदी.(बृहत्सं.)-४०५, जीवसमासः-७४)

अथ दृष्टिद्वारम्-

[मूल] सम्मं मिच्छं मीसं, दिट्ठितिगं तत्थ सुत्तआएसा ।
पुढवाइ पंच मिच्छा, भूदवणे दिट्ठिदुग कम्मा ।।२८।।

[व्याख्या] सम्यग्दृष्टिर्मिश्रदृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्चेति दृष्टित्रयं भवतीति सम्बन्धः। तत्र दर्शनं दृष्टिर्वस्त्ववबोधः। तत्र सम्यग् = अविपरीता यथावस्थितैव जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वानां सम्यक्त्वपुञ्जस्य उदयेन वा, उपशमेन वा, क्षयेण वा क्रमेणाविशुद्ध-विशुद्धतर-विशुद्धतमावबोधरूपा दृष्टिः सम्यग्दृष्टिः। तथा मिश्रस्य = अर्द्धविशुद्धस्य दर्शनमोहनीय-

पुञ्जस्योदयात् जिनप्रणीततत्त्वानां अर्द्धविशुद्धप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिः मिश्रदृष्टिः। तथा मिथ्यात्वपुञ्जोदयात् भक्षित-हृत्पूरपुरुषस्येव सिते पीतप्रतिपत्तिवत् मिथ्या = विपर्यस्ता यथावस्थितजिनप्रणीतवस्तुतत्त्वविपरीतप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिः।

अथैताः पृथिव्यादिषु योजयन्नाह- **तत्थेत्यादि**। तत्रेति दृष्टित्रये। सूत्रादेशात् पञ्चापि पृथिव्यादयो मिथ्यादृष्टय एव। उक्तं च प्रज्ञापनायां सम्यक्त्वाभिधाने एकोनविंशतितमपदे-

पुढविकाइयाणं पुच्छा गोयमा ! पुढविक्काइया नो सम्मद्दिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, नो सम्मामिच्छदिट्ठी। एवं जाव वणप्फइकाइया इति। (प्रज्ञापना पद-१९, सूत्र-१४०२)

कार्मग्रन्थिकाः पुनः बादरभूदगवनेषु लब्ध्या पर्याप्तेषु करणतोऽपर्याप्तावस्थायां क्षणमेकं पारभविकेन सास्वादनभावेन सम्यक्त्वस्यापि सद्भावाद् दृष्टिद्वयमपि भूदगवनेषु त्रिषु मन्यन्ते। ते ह्येवमाहुः-

भूदगतरुसु दो दो, इगमगणिवाउसु चउदस तसेसु। (षडशीतिकनामा चतुर्थप्राचीनकर्मग्रन्थः-२८)

षडशीतिके। गुणस्थानकानीति सम्बन्धः।।२८।।

तथा -

[मूल] मिच्छं सासण सम्मं, दिट्ठिदुगं विगलअमणतिरिएसु ।
सन्नितिरिमणुयनारयदेवेसुं होइ दिट्ठितिगं ।।२९।।

[व्याख्या] मिथ्यात्वं तावद्विकलामनसां सर्वेषामपि सामान्येन सुप्रतीतमेव। सासादनसम्यक्त्वं पुनः केषाञ्चिदेव विकलामनसां लब्ध्या पर्याप्तानां करणतः पुनरपर्याप्तानां क्षणमेकं पारभविकेन सास्वादनभावे भवतीति। उक्तं चावश्यके- **विगलेसु दुज्ज उववन्नो ( )** इति। पूर्वप्रतिपन्नसास्वादनस्य उपलक्षणत्वादसञ्ज्ञिष्वपि। शेषं सुगमम्।।२९।।

अथ पर्याप्तिद्वारम्। ताश्च षट् पाददयेनाह-

[मूल] आहार तणू इंदिय ऊसासे वय मणे छ पज्जत्ती ।

[व्याख्या] तत्र पर्याप्तिराहारादिपुद्गलदलिकग्रहणपरिणमनहेतुः पुद्गलोपचयजः शक्तिविशेषः। सा च साध्यभेदात् षोढा। तत्राहारपर्याप्तिर्यया शक्त्या करणभूतया जन्तुराहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति। शरीरपर्याप्तिर्यया रसीभूतमाहारमौदारिकवैक्रियाहारकशरीरत्रययोग्यपुद्गलरूपं रसासृङ्मांसमेदो(दा)ऽस्थिमज्जाशुक्र-रूपसप्तधातुतया यथासम्भवं परिणमयति। इन्द्रियपर्याप्तिर्यया धातुरूपतया परिणमितादाहारादेकस्य द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां पञ्चानां वा इन्द्रियाणां योग्यान् पुद्गलानादाय स्वस्वेन्द्रियरूपतया परिणमय्य च स्वं स्वं विषयं परिज्ञातुं प्रभुर्भवति। प्राणापानपर्याप्तिर्यया योच्छ्वासनिश्वासयोग्यं दलिकमादाय तथा परिणमय्यालम्ब्य च निस्रष्टुं समर्थो भवति। भाषापर्याप्तिर्यया भाषायोग्यं दलिकमादाय भाषात्वेन परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति। मनःपर्याप्तिस्तु यया मनोवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमय्यालम्ब्य च मननसमर्थो भवति। तदुक्तम्-

आहारसरीरिंदिय, ऊसासवओमणोभिनिव्वत्ती। होइ जओ दलियाओ, करणं पइ सा उ पज्जत्ती।।
(विचारसप्ततिकाः-४२, बृहत्सं.-३३९)

आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासवचोमनसामभिनिर्वृत्तिः निष्पत्तिर्भवति यतो दलिकाद् = आहारशरीरादीनां निष्पत्तियोग्यवर्गणापुद्गलसमूहरूपात् तस्य दलिकस्य गृहीतस्य तामेवाहाराद्यभिनिर्वृत्तिस्वस्वविषयपरिणमनरूपां प्रति यत्करणं जीवसम्बन्धिशक्तिरूपं सा पर्याप्तिः।

अथ प्रसङ्गतः करणापर्याप्त-पर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्तानां क्रमेण स्वरूपमाह- तत्र ये एकेन्द्रिया, ये च द्वित्रिचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञिनो, ये च सञ्ज्ञिनो यथास्वमाहारादिचतुःपञ्चषट्पर्याप्तीर्न समापितवन्तः किं त्वद्यापि समापयन्तः सन्ति समापयिष्यन्ति च ते लब्ध्या पर्याप्ताः करणतोऽपर्याप्ता उच्यन्ते। यदा पुनस्त एव एकेन्द्रियादयो यथास्वं चतुःपञ्चषट्पर्याप्तीनां पर्यन्तं गतास्तदा ते पर्याप्ता भण्यन्ते। ते च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं कालम् उत्कृष्टतस्तु अन्तर्मुहूर्तोनानि त्रयस्त्रिंशदतराणीति। ये पुनरपर्याप्ता एव सन्तो म्रियन्ते, न पुनः स्वस्वयोग्याः पर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ते ते लब्ध्यापर्याप्तकाः। परं तेऽपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियरूपं पर्याप्तित्रयं परिसमाप्य ततोऽन्तर्मुहूर्तेन परभवायुर्बद्ध्वा तदनन्तरमबाधाकालरूपमन्तर्मुहूर्तं जीवित्वैव च म्रियन्त इति। एतेन च पर्याप्तित्रयसमापन-आयुर्बन्धन-अबाधाकालरूपेण अवस्थात्रयेणाप्येकमेवान्तर्मुहूर्तम्, किन्तु पूर्वेभ्यः सविशेषम्।

एताश्च पर्याप्तयः सर्वा अप्युत्पत्तिप्रथमसमय एव यथास्वं युगपज्जन्तुना निष्पादयितुमारभ्यन्ते क्रमाच्च निष्ठामुपयान्ति। तद्यथा- प्रथममाहारपर्याप्तिस्ततः शरीरपर्याप्तिरित्यादि। आहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमय एव निष्पद्यते, शेषास्तु पञ्चापि औदारिकशरीरिणां प्रत्येकमसङ्ख्यातसमयप्रमाणेनान्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यन्ते। तथेह अन्तर्मुहूर्तानाम-सङ्ख्येयभेदत्वात् षण्णामप्यासां परिसमाप्तिकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव, परमेतत्पूर्वेभ्यः किञ्चिद् गुरुकमिति। वैक्रिया-हारकशरीरिणां तु आहारपर्याप्तिस्तथैव प्रथमसमयेन शरीरपर्याप्तिरन्तर्मुहूर्तेन शेषाः चतस्रोऽपि यथोत्तरं पृथक् पृथक् समयेनेति।।२९।।

अथैताः पृथिव्यादिषु योज्यन्ते-

[मूल] एगिंदिसु आइचउ, पंच उ विगलेसु अमणे य ।।३०।।

[व्याख्या] एकेन्द्रियेषु पृथिव्यादिषु पञ्चसु आद्याश्चतस्रः पर्याप्तयो भवन्ति। तथा विगलेषु अमनःपञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्षु च आद्या एव पञ्च भवन्ति। तथा च सङ्ग्रहणिमूलटीकायां हरिभद्रसूरिः-

सम्मुच्छिमाण वि पंच हवंति असन्नित्तणओ। जं पुण सम्मुच्छिममच्छा महल्लप्पमाणा समुद्दे आहारनिमित्तं मुग्घाडणं समिल्लणं च करिंति। सा आहारसन्नेव तेसिं। अहवा थोवमणोदव्वलद्धिमत्तणओ असन्निणो पवुच्चंति त्ति।। (सङ्ग्रहणीमूलटीका?) ।।३०।।

तथा-

[मूल] पण पज्जति सुरेसुं, भासमणा जुगव होंति जं तेसिं ।
तिरिमणुनिरए छप्पिअय, जीवाभिगमाइ भणियमियं तु ।।३१।।(गीतिः)

[व्याख्या] ननु सुरेषु किं मानसी षष्ठी पर्याप्तिर्न भवति? येनोच्यते पञ्चपर्याप्तयः सुरेष्वेति, **उच्यते,** देवा अपि पर्याप्तिषट्कमपि सममेव प्रारम्भ(भ)ते। ततः समयमात्रेण आहारपर्याप्तिः प्रमाणीभवति, ततोऽनन्तर-मन्तर्मुहूर्तेन शरीरपर्याप्तिः, ततो समयेन तृतीया, ततोऽपि च समयेन चतुर्थी, तत ऊर्ध्वम् एकेनैव समयेन युगपदेव द्वे अपि भाषामनःपर्याप्ती समाप्तिमुपगच्छतः। तत एकसमयसाध्यत्वाद् द्वे अपि पर्याप्ती एकत्वेन गणयित्वा देवेषु पञ्च पर्याप्तयो भवन्तीत्युक्तम्, न पुनस्तेषां मनःपर्याप्तिर्न भवतीति। शेषं सुगमम्। नवरं देवानां पर्याप्तिपञ्चकं नारकाणां च तत् षट्कं जीवाभिगमसूत्रे। तद्यथा-

इत्थिवेया वि पुरिसवेया वि नो नपुंसगवेया वि । पज्जत्ती पज्जत्तीओ पंच दिट्ठी तिविहा। (जीवाभिगम प्र.१, सू.४२) इत्यादि देवदण्डके।

नैरयिकदण्डके तु- **नपुंसकवेयगा छपज्जत्तीओ। छअपज्जत्तीओ। तिविहा दिट्ठी।** (जीवाभिगम प्र.१, सू.३२) इत्यादि प्रथमप्रतिपत्तौ। तथा-

तए णं से विजए देवे अहुणोववन्नमित्तए चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छइ। तं जहा–

आहारपज्जत्तीए सरीरपज्जत्तीए इंदियपज्जत्तीए आणपाणपज्जत्तीए भासामणपज्जत्तीए। (जीवाभिगम प्र.३, सू.१४१) चतुर्थप्रतिपत्तौ।

अयं च पर्याप्तिविचारो विनेयानुग्रहाय गाथाभिरपि प्रदर्श्यते–

आहारसरीरिंदिय, ऊसासे वयमणे छ पज्जत्ती। चउ पंच पंच छप्पिय, इगविगलामणसमणतिरिए।।
गब्भयमणुनिरएसुं, छप्पी पज्जती पंच देवेसु। जं तेसि वयमणाणं, दोण्ह वि पज्जत्ति समकालं।।
उरलविउव्वाहारो, छण्हवि पज्जत्ति जुगवमारंभो। तीसु वि पढमिगसमए, बीया पुण अ(अं)त्तमोहत्ती।।
पिह पिह असंखसमइ य, अंतमुहत्ता उरालि चउरो वि। पिह पिह समया चउरवि, हुंती वेउव्विआहारे।।
छण्ह वि सममारंभो, पढमासमए वि यंतमोहत्ती। तितुरियसमए समए, सुरेसु पण छट्ठ इग समए।।

(विचारपञ्चाशिका–३३–३७, विचारसप्ततिका–४३–४६)

इह षण्णामपि पर्याप्तीनां त्रिष्वपि स्पर्द्धकेषु युगपदेव प्रारम्भः, समाप्तिस्तु क्रमेण। तथाहि– त्रिष्वपि स्पर्द्धकेषु यथास्वं प्रथमसमय एव आहारपर्याप्तिः समाप्यते। ततोऽनन्तरं पुनरन्तर्मुहूर्ते गते त्रिष्वपि स्पर्द्धकेषु शरीरपर्याप्तिः। ततोऽनन्तरमौदारिकस्पर्द्धके पुनरन्तर्मुहूर्ते गते इन्द्रियपर्याप्तिः। ततोऽप्यनन्तरं पुनरन्तर्मुहूर्ते गते आनप्राणपर्याप्तिः। ततोऽप्यनन्तरं पुनरन्तर्मुहूर्ते गते भाषापर्याप्तिः। ततोऽप्यनन्तरं पुनरन्तर्मुहूर्ते गते मनःपर्याप्तिः समाप्यत इति।

वैक्रियाहारकस्पर्द्धकयोस्तु तनुपर्याप्तेरनन्तरं पुनः समये गते इन्द्रियपर्याप्तिः समाप्यते। ततोऽप्यनन्तरं पुनः समये गते आनप्राणपर्याप्तिः। ततोऽप्यनन्तरं पुनः समये गते भाषापर्याप्तिः। ततोऽप्यनन्तरं पुनः समये गते मनःपर्याप्तिः समाप्यत इति।

देवस्पर्द्धके तु तनुपर्याप्तेरनन्तरं समये गते इन्द्रियपर्याप्तिः समाप्यते। ततोऽप्यनन्तरं पुनः समये गते आनप्राणपर्याप्तिः। ततोऽप्यनन्तरं पुनः समये गते भाषा मनःपर्याप्ती द्वे अपि युगपदेव समाप्येते इति। इह च पर्याप्तिविचारे अन्तर्मुहूर्तं सर्वत्र असङ्ख्यातसामयिकमेव ग्राह्यम्, न पुनरष्टसमयादि यावत्सङ्ख्यातसमयान्तम्। यन्त्रकस्थापना चेयम्–

(१) **औदारिकशरीरिणां सर्वतिरश्चां मनुष्याणां च।**

					अन्तर्मुहूर्त
				अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
			अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
		अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
१ समय	१ समय	१ समय	१ समय	१ समय	१ समय
आहारः	शरीरम्	इन्द्रियम्	आनप्राणः	भाषा	मनः

(२) वैक्रियशरीरिणां नारकमनुष्यसञ्ज्ञितिर्यग्बादरवायूनामाहारकाणां मनुष्याणामेव।

					समय
				समय	समय
			समय	समय	समय
		समय	समय	समय	समय
	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
समय	समय	समय	समय	समय	समय
आहारः	शरीरम्	इन्द्रियम्	आनप्राणः	भाषा	मनः

(३) देवानां चतुर्विधानामपि पर्याप्तयः।

					समय
				समय	समय
			समय	समय	समय
		समय	समय	समय	समय
	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
समय	समय	समय	समय	समय	समय
आहारः	शरीरम्	इन्द्रियम्	आनप्राणः	भाषा	मनः

एष पर्याप्तिविभागोऽर्थतः सङ्ग्रहणिवृत्तिद्वयेऽपि।।३१।।

अथ प्राणद्वारम्। ते च दशैते –

[मूल] पणइंदियमणवयतणुऊसासाऊणि हुंति दस पाणा ।
एगिंदिसु ते चउरो, फासाऊतणुबलुस्सासा ।।३२।।

[व्याख्या] तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैः पञ्च प्राणाः। तथा **मणवइतणु त्ति**। इह सूचकत्वात् सूत्रस्येति बलशब्द–स्याध्याहारात्तस्य च प्रत्येकं सम्बन्धात् मनोबलं वाक्बलं तनुबलं चेति त्रयः। **ऊसास त्ति**। साहचर्यादुच्छ्वासनिःश्वासाभ्यां द्वाभ्यामप्येक एव आयुश्चेति दश प्राणाः। **ननु** तनुबलस्पर्शनेन्द्रिययोः कः प्रतिविशेषः? उभयोरपि समस्तशरीरव्यापकत्वाद्, **उच्यते,** तनुबलं तावत् समस्तस्यापि शरीरस्य सबाह्याभ्यन्तरतः प्रत्यवयवं व्यापकम्, स्पर्शनेन्द्रियं तु शरीरपर्यन्तस्पर्शि त्वङ्मात्रविषयं दीर्घत्वपरिधिभ्यां शरीरमानं बाह्यल्पन(बाहल्येन) तु अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रम्, न पुनः शरीराभ्यन्तरव्यापीति। अत एव शरीराभ्यन्तरे कण्टकशस्त्रप्रवेशसेकप्रदानादौ यका पीडा सा चक्षुःश्रोत्रशिरःउदरशूलादिवेदनावदसातरूपा कायबलसंवेद्या। या तु

शीतोष्णस्पर्शरूपा सा शरीराद्बहिः त्वङ्मात्रेणैव संवेद्या स्पर्शनेन्द्रियविषया अपरैवेति। **यद्येव**मुदरकोष्टकाभ्यन्तरे कथं शीतोष्णजलान्नादीनां तादृक् तादृक् स्पर्शानुभवः ?, **सत्यम्,** शरीरमध्ये यत्र यत्र कर्णनासावदनगलोदरकण्ठादिषु शुषिरं तत्र तत्र सर्वशरीराभ्यन्तरतोऽपि स्पर्शनेन्द्रियं वलयाकारं समस्ति, तेन च शीतोष्णस्पर्शसंवेदनेति। अथ प्राणान् पृथिव्यादिष्वाह- **एगिंदीत्यादि।** सुगमम्।।३२।।

[मूल] सरसणवयणा ते छ उ, सघाण सत्त उ सनेत्त ते अट्ठ ।
ससवण नव विगलमणे, समणा दस पाण सेसेसु ।।३३।।

[व्याख्या] त एव पूर्वोक्ताश्चत्वारः प्राणाः रसनेन्द्रियवचनबलसहिताः। **विगलमण त्ति**। उत्तरपदसम्बन्धाद् द्वीन्द्रियेषु षट् भवन्ति। पुनः षडपि सघ्राणाः सन्तः त्रीन्द्रियेषु सप्त। ते च सप्त चक्षुषा सह चतुरिन्द्रियेष्वष्टौ। तेऽप्यष्टौ श्रोत्रसहिताः अमनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु नव। तेऽपि नव मनःसहिताः शेषेषु सञ्ज्ञितिर्यङ्नरनारकसुरेषु दश प्राणा भवन्तीति।।३३।।

अथायुर्द्वारम्। तच्च जघन्योत्कृष्टत्वाभ्यां द्विविधमपि पृथिव्यादिष्वाह-

[मूल] पुढवाइकारसेसुं, लहु अंतमुहूत्तहा निरसुराणं ।
दससमसहस्स लहुयं, तेतीसयराइं गुरुमाउं ।।३४।।

[व्याख्या] आयात्यागच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिकुगतेर्निःक्रमितुमनसोऽपि जन्तोरित्यायुः। अस्य च बन्धे लघुसङ्ग्रहणीसूत्रवृत्त्योर्विधेरियं (विधिरयम्)-

बंधंति देवनारय, असंखतिरिनर छम्माससेसाऊ। परभवियाउं सेसा, निरुवक्कम तिभाग सेसाऊ।।

(बृहत्सङ्ग्रहणी-३२७)

देवनारका असङ्ख्यातवर्षायुतिर्यङ्नराश्च षण्मासावशेषायुषः सन्तः पारभविकमायुर्बध्नन्ति। शेषाः सङ्ख्यातायुस्तिर्यङ्नरा एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया निरुपक्रमायुषो नियमतः स्वजीवततृतीयभागशेषायुषः परभवायुर्बध्नन्ति।

सोवक्कमाउया पुण, सेस तिभागेऽहवा नवमभागे। सत्तावीसइमे वा अन्तमुहूत्तंतिमे वा वि।।

(बृहत्सङ्ग्रहणी-३२८)

सोपक्रमायुषः पुनरेत एव एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः स्वायुषस्त्रिभागे शेषे परभवायुर्बध्नन्ति। अथवा नवमभागे, त्रिभागस्य च त्रिभागे इत्यर्थः। सप्तविंशतितमभागे वा नवमभागस्यापि त्रिभागरूपे। तथा च प्रज्ञापनायाम्-

सिय त्तिभागे। सिय त्तिभागत्तिभागे। सिय त्तिभागत्तिभागत्तिभागे त्ति। (प्रज्ञापना पद-६, सू.६८१)

तत्रापि बन्धाच्च्युता नियमादन्तिमेऽन्तर्मुहूर्ते बध्नन्ति। केषुचित्सप्तविंशतितमभागादूर्ध्वमपि त्रिभागकल्पनां तावद् वर्णयन्ति यावदन्त्योऽन्तर्मुहूर्त इति मलधारिसङ्ग्रहणिवृत्तौ। भगवतीवृत्तौ पुनः- नवरं नारकादेवाश्च षण्मासावशेषायुषः सन्तो भवप्रत्ययात् तिर्यङ्मनुष्यायुषी एव कुर्वन्ति। मतान्तरेण तु षण्मासावशेषे उत्कर्षतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्ते शेषे इति।

सम्प्रति पृथिव्यादिषु मनुष्यान्तेषु तदेवोत्कृष्टमाह-

[मूल] बावीस सत्त समसहस, तिदिण तिदससमसहस बारसमा ।
उणपन्नदिण छम्मासा, पुव्वकोडि तिपल्ल पल्लतियं ।।३५।।

[व्याख्या] अत्र प्राकृतत्वात् सूत्रस्य च सूचामात्रनिबन्धनत्वाद् यथायोगं विभक्तिसम्बन्धं पदसम्बन्धं च

विधाय समुदायार्थः प्रदर्श्यते। तद्यथा–**बावीस त्ति**। अत्र समासहस्रशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् द्वाविंशतिसमासहस्राणि पृथिवीकायस्योत्कृष्टमायुः। एवं सप्तसमासहस्राणि जलस्य। त्रीणि दिनानि तेजसः। **तिदस त्ति**। अत्रापि समासहस्र शब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् त्रीणि समासहस्राणि वायोः। दशसमासहस्राणि तरूणाम्। द्वादशवर्षाणि द्वीन्द्रियाणाम्। एवमुत्तरार्द्धेऽपि त्रिचतुरेन्द्रियासञ्ज्ञिसञ्ज्ञितिर्यङ्मनुष्याः क्रमेण उत्कृष्टस्यायुषः स्वामित्वेन वाच्याः।।३५।।

अथागतिद्वारम्। तत्रागतेस्तत्सहचारित्वाद् गतेश्च स्वरूपं तावत्प्रथमं पादद्वयेनाह–

[मूल] पुढवाइ इंति जत्तो, सा इह आगइ गई उ जहिं जंति ।
निरयाइ आगइ चऊ, सन्नितिरिनराण चउरो वि ।।३६।।

भूदगतरवो तिरिनरसुरेहिं सेसट्ठ तिरियमणुएहिं ।
गइ पंचह निरतिरिमणुसुरसिवरूवा पण वि मणुए ।।३७।।

[व्याख्या] इह नानागतिगता अपि जीवाः बद्धागामिपृथिव्यादिभवायुषः सन्तो भविष्यत्पृथिव्यादिपर्याया अप्युपचारात् पृथिव्यादय उच्यन्ते। ततोऽयमर्थः– ये पृथिव्यादयो भविष्यत्पृथिव्यादिपर्याया यस्माद् यस्माद् भवान्तरादागत्य साक्षात् पृथिव्यादित्वेनोच्य(त्पद्य)न्ते तेषां पृथिव्यादीनां तत्तत्पूर्वभवागमनरूपा इहागतिरभिधीयत एव। तथा– **गई उ जहिं जंति त्ति**। गतिः पुनः त एव पृथिव्यादयो वर्तमानं पृथिव्यादिपर्यायं विमुच्य यस्मिन् यस्मिन् भवान्तरे गच्छन्ति तत्तद्भवान्तरगमनरूपेति। अथ किमभिधानाः कति सङ्ख्याश्चागतयः ? इत्याह– **निरयाइ आगइ चऊ त्ति**। निरयेभ्य आगतिर्निरयागतिः। एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवागतयोऽपि।

सम्प्रत्यागतीः पृथिव्यादिषु योजयन् सङ्क्षेपार्थं व्यतिक्रमेणाप्याह– **सन्नितिरिनराण चउरो वि**। यस्माच्चतसृभ्योऽपि नारकादिगतिभ्य आगत्य जीवाः सञ्ज्ञितिर्यक्त्वेन नरत्वेन[१] चोत्पद्यन्ते, पृथिव्यब्वनस्पति–कायिकाः तिर्यङ्नरदेवेभ्य आगत्योत्पद्यन्ते। **सेसट्ठ त्ति**। शेषा अष्टौ तेजोवायुद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिय–असञ्ज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियनरकदेवरूपाः तिर्यग्भ्यो मनुष्येभ्यश्चागत्योत्पद्यन्त इति आगतिरुक्ता। अथ गतिमाह– **गइ त्ति**। इह गतिर्नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवमोक्षभेदेन पञ्चधा। **ननु** मोक्ष आगतिद्वारे कस्मान्नोक्त ? **उच्यते,** मोक्षात्पु–नरागमनाभावादागतिर्नास्तीति तत्र नोक्तः। **पण वि त्ति।** मनुष्या मृत्वा पञ्चस्वपि गतिषु गच्छन्तीति पूर्वोक्ताः पञ्चापि गतयो मनुष्ये भवन्तीति गाथार्थः।।३७।।

तथा–

[मूल] सिहिमरवो तिरिगईया, चउगइया सन्नसन्निणो तिरिया ।
भूदगतरुविगलनारयसुरा य जंति तिरिनरेसुं ।।३८।।

[व्याख्या] तेजसो वायवश्च तिर्यक्ष्वेव गच्छन्तीत्येकगतिकाः। तथा सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिनश्च पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मृताः सन्तश्चतसृष्वपि गतिषु गच्छन्तीति चतुर्गतिकाः। तथा भूदगतरुविकला नारकाः सुराश्च क्रमेण मृत्वोद्वर्त्य च्युत्वा चाष्टावपि तिर्यक्षु वा मनुष्येषु वा गच्छन्तीति द्विगतिकाः। **ननु** के जीवा मनुष्यादयः सुरादिषु गच्छन्ति ? के वा सुरादि गतिभ्य उद्वृत्त्येह मनुष्यादिषु समागच्छन्तीति ? बृहत्सङ्ग्रहणिवृत्तौ मलयगिरिणोक्तात् तथा मलधारिसङ्ग्रहणिवृत्तौ च के जीवा देवादिषु गच्छन्तीति? देवादयो वा च्युताः केषु जीवेष्वागच्छन्ति ?

---

१ नरत्वेन इत्यारभ्य तथा पर्यन्तः पाठः भ्रष्ट इति तत्स्थाने प्रपूरितोऽयं पाठः ।

इत्येवंरूपात् चतुस्त्रिंशद्द्वारव्याख्याने सामान्यतयोक्ताद् गत्यागतिलक्षणाद् इहत्यं **पुढवाइ इंति जत्तो सा इह आगइ गई उ जहि जंति** इत्येवंरूपमागतिगतिलक्षणमन्यथेति तदेतत्कथम् ?, अत्रायमभिप्रायः- इह वृत्तिद्वयेऽपि देवादिभवने गतिर्देवादिच्यवने त्वागतिरभ्यधायि। इह पुनर्देवादिभवने आगतिर्देवादिच्यवने तु गतिरुक्तेति तत् कथमयं न विरोध ? इति, **सत्यम्,** इहत्यं लक्षणं जीवाभिगमानुरोधादुक्तम्। तथा च तत्प्रथमप्रतिपत्तौ बादरपृथ्वीकायदण्डके-

ते णं जीवा कइगइया ? कइआगइया ? गोयमा ! दुगइया तिआगइया। (जीवाभिगम प्र.१, सू.१५)

तथा बादर-अप्कायदण्डकेऽपि-

नवरं थिवुगसंठिया पन्नत्ता। सेसं तं चेव जाव दुगइया तिआगइया। (जीवाभिगम प्र.१, सू.१६)

तथा बादरवनस्पतिकायदण्डकेऽपि-

ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दसवाससहस्साइं जाव दुगइया तिआगइया।

(जीवाभिगम प्र.१, सू.२१)

तथा तेजसां वायूनां च सूक्ष्मबादरदण्डकद्वयेऽपि- **एक्कगइया दुआगइय त्ति।**

(जीवाभिगम प्र.१, सू.२५,२६)

तथा द्वित्रिचतुरिन्द्रियदण्डकेषु- **दुगईया दुआगइय त्ति।** (जीवाभिगम प्र.१, सू.२८,२९,३०)

तथा सम्मूर्च्छजपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिदण्डकेषु पञ्चस्वपि जलचरादिषु- **चउगइया दुआगइया।**

(जीवाभिगम प्र.१, सू.३५,३६)

तथा सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियजलचरादि दण्डकपञ्चकेऽपि- **चउगइया चउआगइय त्ति।** (जीवाभिगम प्र.१, सू.३८)

तथा मनुष्यदण्डकेऽपि-

ते णं भंते ! जीवा कइगइया? कइआगइया? गोयमा! चउआगइया पंचगइया।

(जीवाभिगम प्र.१, सू.४२)

तदत्र यदुक्तम्- भूदगतरूणां द्वे गती तिस्र आगतयः, तेजोवायूनां च एका गतिर्द्वे आगती, तथा सञ्ज्ञिनां चतस्रो गतयो द्वे आगती, तथा मनुष्याणां पञ्च गतयश्चतस्र आगतय इत्यादिकं तद्वृत्तिद्वयस्यापि व्याख्यानेन सह विरुद्ध्यते। यतो वृत्तेरभिप्रायेण अत्राप्येवं व्याख्येयं स्याद्- यदुत के जीवाः पृथिव्यादिषु गच्छन्तीति गतिस्तथैते पृथिव्यादयः पृथिव्यादित्वं विहाय क्वागच्छन्तीत्यागतिस्ततश्चैवं व्याख्यायमाने पृथिव्यादीनां त्रिगतित्वं द्वि-आगतित्वं च प्राप्नोति। अथ चैतेषां जीवाभिगमे द्विगतित्वं त्रि-आगतित्वं भणितमस्तीति स्फुट एव विरोधस्तस्मादत्रेत्थं सङ्ग्रहणिवृत्त्योर्विपर्ययेण गत्यागत्योर्लक्षणं प्रोक्तमिति।।३८।।

अथ कुलद्वारम्। परं लाघवार्थं योनिकुलद्वयस्यापि प्रथमं तावल्लक्षणमाह- युवन्ति तैजसकार्मणशरीरवन्तः सन्तो जीवा औदारिकादिशरीरप्रायोग्यपुद्गलस्कन्धैर्मिश्रीभवन्त्यास्विति योनय = उत्पत्तिस्थानानि। ताश्च प्रतिजीवराशि वर्णगन्धरसस्पर्शभेदादनेकविधास्ता अपि व्यक्तिरूपा न गृह्यन्ते। व्यक्तीनामानन्त्येन परिगणयितुमशक्यत्वात्, किन्तु जातिरूपाः। ततोऽनन्ता अपि व्यक्तयः समानवर्णगन्धरसस्पर्शा एका योनिजातिः। उक्तं च-

समवन्नाइ समे या, बहवो वि हु जोणिभेयलक्खा उ। सामण्णा घिप्पंतीह, एक्कगजोणीए गहणेणं।।

(प्रवचनसारोद्धार-९७०)

सम्प्रति कुलानि। तानि च योनिप्रवहानि। तथा ह्येकस्यामपि योनावनेकानि कुलानि भवन्ति। यथा छगणयोनौ कृमिकुलम्, कीटककुलम्, वृश्चिककुलमित्यादि। बृहल्लघुसङ्ग्रहणिवृत्त्योरेतावदेव योनिकुलयोर्लक्षणमुक्तम्, परमेतदतिसङ्क्षिप्तमिति कृत्वा व्युत्पन्नमतीनां सङ्क्षिप्तरुचीनां चोपकारि ततः प्रपञ्चितज्ञशिष्यावबोधाय अयमेवाऽत्र किञ्चित् सविस्तरः सयुक्तिकः सदृष्टान्तश्चतुर्भङ्गीसहितश्च गाथाचतुष्टयेन प्रदर्श्यते–

[मूल] उप्पत्तिठाण जोणी, कुलाणि उप्पज्जमाण तणुभेया ।
जोणेगत्तपुहत्तं, वन्नाइचउविसेसेहिं ।।३९।।

[व्याख्या] इह येषामेकेन्द्रियादिजीवानां यस्मिन् यस्मिन्नाधारद्रव्ये कृमीणामिवच्छगणादौ उत्पत्तिर्भवति तत्तदाधारद्रव्यं तेषां योनिः। येषामपि च सूक्ष्मपृथिव्यादीनां बादराणामपि च जलवायुविद्युदुल्कादीनामुत्पातवृष्ट्यादौ मत्स्योदरादीनां च तथाविधोपलक्ष्यमाणद्रव्याधारत्वं न दृश्यते, परं तेषामपि निजनिजाधारक्षेत्रे यानि तान्यपि पुद्गलद्रव्याण्यवश्यंभावेन सन्ति तान्येव तेषां योनिर्भवत्येवेति। अत एवोक्तम्–

अञ्जनचूर्ण–पूर्ण–समुद्गकवन्निरन्तरं पुद्गलद्रव्यनिचितो लोक इति। ( )

अत एव च शीतोष्णद्व(ष्णोभ)यस्पर्शवता योनित्रयेण सर्वजीवोत्पत्तिस्थानसङ्ग्रहः,सर्वत्र शीतादिस्पर्शवत्पुद्गलसद्भावात्।

अथ कुलस्वरूपमाह– **कुलाणीत्यादि**। इह पूर्वोक्तस्वरूपासु योनिषु जीवा उत्पद्यन्ते तेषां ये तनुभेदास्तानि कुलानि। अत्रार्थे निदर्शनम्– यथा एकस्मिन्नपि छगणे उत्पद्यमानानां जीवानां एकेन्द्रियेषु नानाविधानां तृणप्ररोहाणां विचित्राणां च धान्याङ्कुराणाम्, द्वीन्द्रियेषु च कृमिगण्डूरकेलिक(का)मेहरकप्रभृतीनाम्, त्रीन्द्रियेषु च कीटिकागर्दभकोद्देहिकाघृततैलिकागुल्मीमर्क्कोटकमर्क्कटककुन्थुकीटकादीनाम्, चतुरिन्द्रियेषु वृश्चिककुत्तिकादंशम–शकभ्रमरककंसारिकाप्रमुखाणाम्, पञ्चेन्द्रियेषु गृहगोधिकाग्रक्षणिकाहिरूपादीनां प्रतिजाति ये तनूनां नानाविधैर्वर्ण–गन्धरसस्पर्शैर्विशेषिता नानाप्रकारा आकृतिविशेषास्ते सर्वेऽपि पृथक् पृथक् कुलानीति।

अथ योनीनामेव कञ्चिद्विशेषमाह–**जोणे इत्यादि।** योनीनां पूर्वोक्तस्वरूपाणां कासाञ्चित् पृथक्त्वं कासाञ्चित् बह्वीनामप्येकत्वं भवतीति। कथमित्याह– **वन्नेत्यादि**। परस्परविभिन्नैर्वर्णादिभिर्वयोविशेषैश्च योनीनां पृथक्त्वम्। समानरूपैः पुनर्वर्णादिभिरेकत्वमिति।।३९।।

अत्रार्थे मनुष्यीस्त्रीर्दृष्टान्तमाह–

[मूल] एत्तो च्चिय बहुगीण वि, एगा जोणी इगित्थिए णेगा ।
जोणिकुले चउभंगो, इगबहुवन्नाइजाइकओ ।।४०।।

[व्याख्या] यतः पूर्वोक्तयुक्त्या योनीनामेकत्वबहुत्वे अत एव बह्वीनामपि मनुष्यीणां समानवर्णादिका एकैव योनिर्गण्यते। तत एव च समयक्षेत्रवर्तिनीनां अनेककोटीकोटिसङ्ख्यानामपि स्त्रीणां चतुर्दशैव लक्षा योनीनामुक्ता। अपरं च न केवलं वर्णादिभेदाद् बह्वीनां बहुयोनित्वं किन्तु कदाचिदेकस्या अपि सरुक्–नीरुक्–सौस्थ्य–दौस्थ्यतारुण्यार्द्धजरतीत्वादिविशेषाद् बहुयोनित्वमपि स्यादिति। तथा योनिकुलयोश्च चतुर्भङ्गी। एका योनिरेकं कुलमित्यादि। कथमित्याह– **एगेत्यादि।** एकबहुभिर्वर्णादिभिरेकबह्वीभिश्च जातिभिः कृत इति।।४०।।

अथ चतुर्भङ्गीमेवोदाहरन्नाह–

[मूल] पढमो जह इगछगणे, जीवा इगजाइ एगवन्नाई ।
बितिओ[१] तम्मि वि बितिचउबहुजाई बहुगवण्णाई ।।४१।।

[व्याख्या] सुगमा। नवरं द्वितीयो भङ्गः तस्मिन्नेव छगणे द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां बह्व्यो जातयः प्रतिजाति च बहवो वर्णगन्धरसस्पर्शाकृतिभेदाः।।४१।।

[मूल] विविहछगणेसु तइओ समवन्नाई समाणजाइजीया ।
तुरिओ तेसु वि णेगे बहुजाई णेगवण्णाई ।।४२।।

[व्याख्या] सुगमा। नवरं **णेगे इति।** अनेके जीवाः। अथ योनिप्रसङ्गात् संवृतादिको द्वादशविधोऽपि योनिभेदो लघुसङ्ग्रहणीतः प्रदर्श्यते।

संवुडजोणि सुरेगिंदिनारया वियड विगलगब्भुभया। (लघुसङ्ग्रहणी)

सुराश्चतुर्विधाः, एकेन्द्रिया पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयो, नारकाश्च पृथ्वीसप्तकवर्तिनः संवृतयोनयः। तत्र देवानां संवृता योनिः, देवशयनीये देवदूष्यान्तरितानां तेषामुत्पादात्। एकेन्द्रियाणां संवृता योनिः स्पष्टमनुपलक्ष्यमाणत्वात्। नारकाणां तु संवृता योनिः। संवृतगवाक्षकल्पेषु घटिकालयेषूत्पादात्[२]। विकलाः द्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रिया तिर्यङ्नरा विवृतयोनयः, तेषामुत्पत्तिस्थानस्य जलाशयादेः स्पष्टमुपलक्ष्यमाणत्वात्। गर्भजाः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नराः संवृतविवृतोभययोनयः। गर्भस्य संवृतविवृतरूपत्वात्। गर्भो ह्यन्तः स्वरूपतो नोपलभ्यते बहिस्तूदरवृद्ध्यादिनोपलक्ष्यत इति। तथा–

अचित्तजोणि सुरनिरय, मीसं गब्भे तिभेय सेसाणं।

सीउसिण निरयसुर गब्भमीस ते उसिण सेस तिहा।। (बृहत्सङ्ग्रहणी–३२४)

सुराणां नैरयिकाणां च योनिरचित्ता = सर्वथा जीवप्रदेशविप्रमुक्ता। यद्यपि च सूक्ष्मैकेन्द्रियाः सकललोकव्यापिनस्तथापि न तत्प्रदेशैरुपघातपुद्गला अन्योन्यानुगमेन सम्बद्धा इत्यचित्तैव तेषां योनिः।

गब्भे त्ति। गर्भजतिर्यङ्नराणां योनिः मिश्रा सचित्ताचित्तरूपा। तथाहि– ये शुक्रमिश्राः शोणितपुद्गला योन्याऽऽत्मसात्कृतास्ते सचित्ता, अन्ये त्वचित्ताः। शेषाणां देवनारकगर्भजतिर्यङ्नरव्यतिरिक्तानां एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छिमतिर्यङ्नराणां योनिस्त्रिभेदा सचित्ता अचित्ता मिश्रा च। तत्र जीवति गवादावुत्पद्यमानानां कृम्यादीनां सचित्ता। अचित्ते काष्ठे घुणादीनामचित्ता। सचित्ताचित्ते काष्ठे गोक्षतादौ घुणकृम्यादीनामेव मिश्रेति।

तथा नैरयिकाणां योनिः शीता उष्णा च तत्राद्यासूष्णवेदनासु तिसृषु पृथ्वीषु शीता। चतुर्थ्यां बहुषूपरितनेषूष्णवेदनेषु नरकावासेषु शीता, अधः स्तोकेषु शीतवेदनेषूष्णा। पञ्चम्यां बहुषु शीतवेदनेषूष्णा स्तोकेषूष्णशीता। षष्ठी–सप्तम्योश्च शीतवेदनयोर्नारकानां योनिरूष्णैव शीतयोनिकानां ह्युष्णवेदनाऽत्यन्तदुःसहा उष्णयोनिकानां तु शीतवेदनेति।

तथा सुराणां गर्भजतिर्यङ्नराणां मिश्रा शीतोष्णरूपोभयस्वभावास्तदुत्पादक्षेत्रस्य शीतोष्णस्पर्शपरिणतत्वादिति। नैकान्तेन शीतं नाप्युष्णं किन्त्वनुष्णशीत(ष्णाशीतं) तदुत्पादक्षेत्रमिति भावः। तेजस्कायिकानामुष्णा,

---

१ **बीओ तम्मि वि** इति मूले ।

२ व्याख्याकर्तुः टिप्पणी – नरकनिःकुटा (निष्कुटाः) संवृतगवाक्षकल्पास्तेषु च जातास्ते वर्द्धमानमूर्तयो, तेभ्यः पतन्ति शीतेभ्यो निःकुटेभ्य (निष्कुटेभ्यः) उष्णेषु नरकेषु उष्णेभ्यस्तु शीतेष्विति ।भ.श.३२।

उष्णस्पर्शपरिणत एव क्षेत्रे तेषामुत्पत्तेः। शेषाणां पृथिव्यम्बुवायुवनस्पतिविकलेन्द्रियसम्मूर्च्छिमतिर्यङ्नराणां त्रिधा। तत्र केषाञ्चिच्छीतस्पर्शपरिणतक्षेत्रोत्पन्नानां शीता। केषाञ्चिदुष्णस्पर्शवत्प्रदेशजातानां तूष्णा, केषाञ्चिच्छीतोष्ण-स्पर्शान्वित-स्थानसम्भूतानां पुनः शीतोष्णा योनिरिति।

अथ मनुष्याणां योनिविशेषमाह-

हयगब्भसंखवत्ता, जोणि कुम्मुन्नयाए जाणंति। अरिह हरि चक्कि रामा, वंसीपत्ताए सेसनरा।।

(बृहत्सङ्ग्रहणी-३२८)

त्रिविधा योनिर्मनुष्याणाम्। तद्यथा- शङ्खावर्ता कूर्मोन्नता वंशीपत्रा च। तत्र शङ्खस्येवावर्तो यस्यामिति शङ्खावर्ता। कूर्मपृष्ठिमिवोन्नता कूर्म्मोन्नता। शङ्खयुक्तवंशीपत्रद्वयाकारत्वाद् वंशीपत्रा। तासु च शङ्खावर्ता हतगर्भा, नियमादस्यामुत्पन्नोऽपि गर्भो निष्पत्तिं न याति, अतिप्रबलकामाग्निपरितापतो ध्वंसत इति वृद्धि(द्ध)वादः। इयं च योनिः स्त्रीरत्नस्य बोद्धव्या। तथा च प्रज्ञापना-

संखावत्ता णं जोणी इत्थिरयणस्स। (प्रज्ञापना पद-९, सू.१५३, म.पृ.-२२८)

तथाऽर्हन्तो वासुदेवाश्चक्रवर्त्तिनो बलदेवाश्च कूर्मोन्नतायामेव जायन्ते, वंशीपत्रायां तु शेषनराः सामान्यमनुष्या एव जायन्त इत्यर्थः।।४२।।

अथ कुलानां सर्वसङ्ख्यां पृथिव्यादिषु तद्योजनां चाह-

[मूल] कुलएगकोडि कोडीसनवई कोडिलक्खपन्नासं ।
कोडिसहस्सा तत्थिगविगलेसुं कोडिलक्खकमा ।।४३।।

[व्याख्या] कुलानां पूर्वोक्तस्वरूपाणां सर्वसङ्ग्रहेण एका कोटाकोटीः सप्तनवतिकोटिलक्षाणि पञ्चाशच्च कोटिसहस्राणि। १९७५ शून्य ११(१९७५००००००००००)। **तथेत्यादि**। तत्रेति तेषां कुलानां विषयविभागे क्रियमाणे एकेन्द्रियेषु पञ्चसु विकलेषु च त्रिषु कुलकोटिलक्षा क्रमेण उत्तरगाथार्द्धोक्तसङ्ख्याका भवन्तीति।।४३।।

ताने(मे)व सङ्ख्यामाह-

[मूल] बारस सत्त ति सत्तग, अडवीस सत्त अट्ठ नव चेव ।
मुच्छियरतिरिसु दोसु, सट्ठतिपन्ना जओ सुत्ते ।।४४।।

[व्याख्या] पूर्वार्द्धं सुगमम्। **मुच्छीत्यादि**। सम्मूर्च्छिमेषु इतरेषु च गर्भजेषु तिर्यक्षु **दोसु वि त्ति**। द्विविधेष्वपि सार्द्धास्त्रिपञ्चाशत् कुलकोटिलक्षा भवन्तीति। नन्वत्र कुलकोटिलक्षाणां उत्तरत्रापि योनिलक्षाणाम् असञ्ज्ञिसञ्ज्ञितिर्यक्षु किमिति विषयविभागो न प्रदर्श्यते ? इत्याह- **जओ इत्यादि**। यस्मात् सूत्रे = प्रज्ञापनायां न दृष्ट इति।।४४।।

एतदेवाह-

[मूल] कुलकोडिजोणिलक्खा, गब्भियरतिरीण पिहु पिहु न उत्ता ।
तेणेह वि न विसेसो, घडंति पुण दोण्हवि सव्वे ।।४५।।

[व्याख्या] कुलानां योनीनां च गर्भजेतरतिर्यक्षु न कोऽपि प्रज्ञापनायां पृथक् पृथग् विभागः। किन्त्वेतावदेव तत्राभाणि जलचरदण्डकपर्यन्ते-

से तं सुंसुमारा जे यावन्ने तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पन्नत्ता। तं जहा– संमुच्छिमा य गब्भवक्कंतिया य। तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे नपुंसगा। तत्थ णं जे ते गब्भवक्कंतिया ते तिविहा पन्नत्ता। तं *[जहा–]* **इत्थी पुरिसा नपुंसगा। एएसि णं एवमाइयाणं जलचरपंचेंदियतिरक्खजोणियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं अद्धतेरसजाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा भवंतीति मक्खायं।**

(प्रज्ञापना पद–१, सूत्र–६७/६८)

तथा स्थलचरदण्डकपर्यन्तेऽपि–

से तं सणप्फया जे यावन्ने तहप्पगारा ते समासओ दुविहा पन्नत्ता। तं जहा– संमुच्छिमा य गब्भवक्कंतिया य। तत्थ णं जे ते संमुच्छिमा ते सव्वे नपुंसगा। तत्थ णं जे ते गब्भवक्कंतिया ते तिविहा पन्नता। तं *[जहा–]* **इत्थी पुरिसा नपुंसगा। एएसि णं एवमाइयाणं थलयरपंचेंदियतिरक्खजोणियाणं पज्जत्ताणं दसजाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा भवंतीति मक्खायं।**

(प्रज्ञापना पद–१, सूत्र–७४)

अयं च **जे यावन्ने तहप्पगारा।** (प्रज्ञापना पद–१, सूत्र–७४) इत्यादिरालापकः समग्रोऽपि उरःपरिसर्पसूत्रेऽपि भुजपरिसर्पसूत्रेऽपि खचरसूत्रेऽपि सम्मूर्च्छजगर्भजमिश्रीभावेन एकरूप एव समस्ति, न पुनः किमपि पार्थक्यमुक्तम्। नवरं कुलकोटिसङ्ख्यायां दशनवद्वादशरूपो विशेष एवोक्तः प्रज्ञापनाप्रथमपदे। (प्रज्ञापना पद–१, सूत्र–६९–९१)

अथ प्रस्तुतम् उच्यते। **तेणेह वीत्यादि**। यस्मात् कारणात् प्रज्ञापनायां गर्भजेतरतिर्यक्षु कुलकोटीनां योनिलक्षाणां च सङ्ख्यायां न पार्थक्यमुक्तं तेन कारणेनेहापि प्रकरणे विशेषो नाभाणीति। घटन्ते पुनः सर्वे कुलकोटिलक्षाः योनिलक्षाश्च यथास्वमुक्ताः पञ्चेन्द्रियतिर्यगाश्रिताः द्वयेषामपि गर्भजानां सम्मूर्च्छजानां च तिरश्चामिति।।४५।।

अथ यथैते सार्द्धास्त्रिपञ्चाशत् कुलकोटिलक्षाः पञ्चेन्द्रियतिरश्चां भवन्ति तथाह–

[मूल] अधतेर बार दस दस, नव जलविथलोरुभुज त्ति वण्णेयं ।
सट्ठाह मणुनिर सुरे, बारस पणवीस छव्वीसा ।।४६।।

[व्याख्या] अत्र सूचकत्वात् सूत्रस्य प्राकृतत्वाच्च पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचाराच्च यथायोग्यं पदान्तरसम्बन्धं विभक्तिसम्बन्धं च कृत्वार्थोऽभिधीयते। अर्द्धत्रयोदश–द्वादश–दश–दश–नवकुलकोटिलक्षा यथासङ्ख्येन भवन्तीति सम्बन्धः। केषामित्याह– **जल त्ति**। जलचारिणं(णाम्)। **वि त्ति**। वियच्चारिणं(णाम्)। **थल त्ति**। स्थलचारिणाम्। **उर त्ति**। उरःपरिसर्पाणाम् । **भुज त्ति**। भुजसर्पाणाम्। एतेषां च मीलने **सट्ठ** इत्युत्तरपदसंयोजने च सार्द्धास्त्रिपञ्चाशत् कुलकोटिलक्षा तिरश्चामेवं भवन्तीति सण्टङ्कः। **सट्ठाह त्ति**। अत्र **सार्द्धेति** पदं पूर्वार्द्धे योजितमेव। **अथेत्युत्तरवाक्योपक्षेपे मणु (इ)त्यादि**। मनुजनारकसुरेषु क्रमेण द्वादशपञ्चविंशतिषड्विंशतिकुलकोटिलक्षा भवन्तीति।।४६।।

अथ योनिद्वारम्। तासां च स्वरूपं पूर्वं कुलद्वारे वर्णितम्। अथ तासां सर्वसङ्ख्यां पृथिव्यादियोजनां चाह–

[मूल] चुलसीइ जोणिलक्खा, सग सग पुढवीजलग्गिपवणेसु ।
तरुसु चउवीस जं दस, चउदस पत्तेयइयरेसु ।।४७।।
बितिचउरिंदिसु दो दो, चउरो दुह तिरिसु चउदस नरेसु ।
चउरो चउरो नारय, देवेसुं जोणिलक्खा उ ।।४८।।

[व्याख्या] गाथाद्वयमपि सुगमम्[१]।।।४७।।४८।।

अथ वेदद्वारम्-

[मूल] इत्थी पुरिस नपुंसग, वेया तिन्नी कमेण तेसुदए ।
इत्थीए पुरिसोवरि, अभिलासो फुंफुयग्गिव्व ।।४९।।
इत्थिं पइ पुरिसस्स वि, रागो सुक्खतणपूलजलणसमो ।
महनगरदाहसरिसो, उभयभिलासो नपुंसस्स ।।५०।।

[व्याख्या] वेद्यत इति वेदः। तत्र यदुदये स्त्रियः पुंस्यभिलाषः पित्तोदये मधुरद्रव्याभिलाषवत् स फुम्फुकाग्निसमः स्त्रीवेदः[२]। यदुदयाच्च पुंसः स्त्रियामभिलाषः श्लेष्मोदयेऽम्लाभिलाषवत् स शुष्कतृणपूल-ज्वालासमानः पुंवेदः[३]। यदुदये नपुंसकस्योभयोरपि स्त्रीपुरुषयोरभिलाषः श्लेष्म-पित्तयोरुदये मज्जिका(मद्यका)-भिलाषवत् स महानगरदाहाग्निसदृशः सर्वावस्थासु सर्वप्रकारं तीव्रमदनदाहद(क)त्वात् नपुंसकवेद इति।।५०।।

अथ वेदान् पृथिव्यादिषु योजयन् व्यतिक्रमेणाप्याह-

[मूल] सन्नितिरिनर तिवेया, असन्नि संठागिइ तिवेया वि ।
देवा पुमित्थिवेया, नपुवेया निरयइगविगला ।।५१।।

[व्याख्या] प्रथमार्द्धि(प्रथमार्द्धः) सुगमः। **असन्नीत्यादि**। इह प्रज्ञप्त्यादिसूत्रेष्वसञ्ज्ञिनः सर्वेऽपि सामान्येन नपुंसकवेदा एवोक्ताः। कार्मग्रन्थिकैः पुनराकृत्या = बहिःशरीरावयवापेक्षया त्रिवेदा अप्यभिधीयन्ते। तथा च तद्वचः-

पुमित्थवेए चरिमचउरो त्ति। पुरिसवेए इत्थीवेए चरमचउरो। असन्नी सन्नी य। पज्जत्तापज्जत्तभेएण चउरो। असन्नि-पज्जत्तापज्जत्तगाण कह पुरिसित्थिवेय संभवो? जओ नपुंसगा एव सुत्ते पढिया, भण्णइ, आकारमात्रमाश्रित्य। इति षडशीतिकचूर्णिः।

तथा- यद्यपि च सिद्धान्तेऽसञ्ज्ञिपर्याप्तोऽपर्याप्तो वा सर्वथा नपुंसक एवोक्तः; तथा चोक्तं प्रज्ञप्तौ-

ते णं भंते! असञ्ज्ञि(असन्नि)पंचेंदियतिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा पुरिसवेयगा नपुंसगवेयगा? गोयमा! नो इत्थिवेयगा नो पुरिसवेगा नपुंसगवेयग त्ति।

तथापीह स्त्रीपुंसलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीवेदे पुंवेदे च असञ्ज्ञि निर्दिष्ट इत्यदोषः। तदुक्तं पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्-**यद्यपि चासञ्ज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ नपुंसकौ तथापि स्त्रीपुंसलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्री-पुंसायु(वु)क्ताविति।** (षडशीतिकबृहद्वृत्तिः, पञ्चसङ्ग्रहमूलटीका) इति षडशीतिकबृहद्वृत्तिः। शेषं गाथापादद्वयं सुगमम्।।५१।।

अथ कायस्थितिद्वारम्-

[मूल] पुढवाइएगकाए, पुण पुण उप्पत्ति एस कायठिई ।
सा लहु तिरिगिहदसगे, नरे य अंतमुहुभवजुम्मे ।।५२।।

---

१ व्याख्याकर्तुः टिप्पणी - नवरं प्रथमगाथायां **सप्तसप्तेति** वीप्साभिधायि ततो पृथिव्यप्तेजोवायुचतुःष्वपि प्रत्येकं सप्तसप्तेति कार्यम्, ततः पृथिव्यबग्निवायुचतुर्ष्वपि प्रत्येकं सप्त सप्तेति ।

२ व्याख्याकर्तुः टिप्पणी, परिमलनदाहरत्वात्।

३ व्याख्याकर्तुः टिप्पणी-अवाच्या।

[व्याख्या] पृथिव्यादिके एकस्मिन्नेव विवक्षितकाये एकस्यैव जीवस्य मृत्वा मृत्वा नैरन्तर्येण पुनः पुनस्तत्रैव काये उत्पत्तिः कायस्थितिः। सा च द्विधा- जघन्या उत्कृष्टा च। तत्र लघ्वी पृथव्यप्तेजोवायु-वनस्पतिद्वित्रिचतुष्के मनुष्यगृहैवै(हे चै)कादशे अन्तर्मुहूर्तरूपा। **भवजुम्म त्ति**। भवद्वयगमे सति भवतीति। यतः कायस्थितिर्जघन्यतोऽपि निरन्तरेण भवद्वयेन, उत्कृष्टतस्तु क्रमेण पृथिव्यप्तेजोवायूनां वनस्पतीनां विकलत्रिकस्य असञ्ज्ञिनां सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च अव्यवहितैरसङ्ख्येयैरनन्तैः सङ्ख्येयैः सप्तभिः सप्ताष्टभिश्च भवैर्वक्ष्यमाणसङ्ख्यास्वरूपा भवतीति।।५२।।

अथ तामेवाह-

[मूल] गुरु भूदगग्गिपवणे, असंख उसप्पिणी उ कायठिई ।
तरुसु अणंता बितिचउरिंदिसु संखिज्जसमसहसा ।।५३।।

[व्याख्या] इह यथा 'पञ्चभिरहोभिरिदं कर्तव्यं पञ्चरात्रेण च' इत्युक्ते दिवसरजन्योः परस्परमविनाभावात् पञ्चाहोरात्राणि लभ्यन्ते। एवमत्राणि(पि) सर्वत्र उत्सर्पिण्य इत्युक्ते सहभावादवसर्पिण्योऽपि लभ्यन्त एव। ततोऽय-मर्थः- पृथव्युदकाग्निपवनानां चतुर्णामपि पृथक् पृथग् असङ्ख्याता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, तथा तरुषु अनन्ताः, द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु प्रत्येकं सङ्ख्यातानि वर्षसहस्राणि उत्कृष्टा कायस्थितिरिति।।५३।।

अथैतासामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीनां पृथिव्याद्याश्रितं यदसङ्ख्यातत्वम्, यच्च वनस्पत्याश्रित्यमानन्त्यं तत्रासङ्ख्येयस्यासङ्ख्येयभेदत्वाद् अनन्तस्य चानन्तस्वरूपत्वाच्च कियत्प्रमाणे अत्रैते इत्याह-

[मूल] समयपएसवहारे, असंखलोगे हरंति जावइया ।
तत्तिय असंखणंता, ऊऽणंतलोगेऽह ताहिं तु ।।५४।।

[व्याख्या] एकेकैन समयेन यत्रैकेको नभःप्रदेशोऽपहीयते स समयप्रदेशापहारः। तेन च समयप्रदेशापहारेण यावतीभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरसङ्ख्येया लोका अपहीयन्ते तावत्प्रमाणम् अत्रासामसङ्ख्यातत्वम्। उक्तं च जीवाभिगमद्वितीयदशविधप्रतिपत्तौ-

पुढवीकाइएणं भंते ! पुढविकाइय त्ति कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण असंखेज्जं कालं। असंखिज्जाउ उसप्पिणिओ कालओ, खित्तओ असंखेज्जा लोगा। एवं आउकाइए वि, तेउकाइए वि, वाउकाइए वि य। (जीवाभिगम प्र.५, सूत्र-२२८)

वनस्पत्याश्रितं यच्चासामानन्त्यं तदपि समयप्रदेशापहारेण यावतीभिस्ताभिरनन्ता लोका अपहीयन्ते तावत्प्रमाणं ज्ञातव्यमिति। अत एवाह- **अणंता उ इत्यादि**। अनन्ताः पुनस्तावत्प्रमाणा यावत्योऽनन्तान् लोकान-पहरन्ति। अथेत्यर्थान्तरसमुच्चये पदम् उत्तरगाथार्द्धेन सह सम्बन्ध्य व्याख्यास्यते।।५४।।

तच्चेदम्-

[मूल] पोग्गलपरट्ट ते पुण, आवलियसमयअसंखभागंमि ।

[व्याख्या] ततोऽयमर्थः- ताभिः पुनरनन्ताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः पुद्गलपरावर्ता भवन्ति। ते चावलिका-समया(य)राशेरसङ्ख्येयभागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणाः। उक्तं च-

वणस्सइकाइएणं भंते ! वणस्सइकाइय त्ति कालओ केवचिरं होइ ? जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं। अणंताउ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखिज्जा

पोग्गलपरियट्टा (ते णं पोग्गलपरियट्टा) आवलियाए असंखेज्जइभागे। (जीवाभिगम प्र.५, सूत्र-२२८, जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-४३) इति जीवाभिगमे।।५४ पू.।।

अथ क्रमप्राप्तामसञ्ज्ञिकायस्थितिं गाथोत्तरार्द्धेनाह-

[मूल] असन्नीतिरियाणंय, पुव्वकोडीओ सत्तेव ।।५५।।

[व्याख्या] असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चामुत्कृष्टा कायस्थितिः सप्तैव पूर्वकोटयो, यत उत्कृष्टायाः कायस्थितेर्भण्यमानत्वात्। सप्ताप्यसञ्ज्ञिभवा निरन्तरा उत्कृष्टायुष एव गृहीताः। असञ्ज्ञिनो ह्युत्कृष्टतोऽपि पूर्वकोट्यायुष एव भवन्ति। तथा यद्यप्युत्कर्षतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां नैरन्तर्येणाष्टौ भवा भवन्ति तथाप्यष्टमभवोऽवश्यं युगलधार्मिकेषु सञ्ज्ञिरूप एव भवतीति।।५५।।

तथा-

[मूल] सन्निसु तिरिसु नरेसु य, सतिपल्ला सत्तपुव्वकोडीओ ।
भवठिइ जा सुरनरए, दुहावि सच्चेव कायठिई ।।५६।।

[व्याख्या] इह सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च ये सप्ताष्टौ भवा कायस्थितिरुक्ता तत्र सप्तसङ्ख्यातायुर्भवाः। तेषु चोत्कृष्टेषु सप्तपूर्वकोटयो अष्टमस्त्ववश्यम् असङ्ख्यातायुर्भवो भवतीति। स चोत्कृष्टस्त्रिपल्य इति। तथा नारकसुराणां यका जघन्या उत्कृष्टा च भवस्थितिः सैव कायस्थितिः, न पुनर्भवद्वितयादिका। यतस्तावनन्तरमेव न निजनिजभवे स्यातामिति।।५६।।

अथ संहननद्वारम्। तल्लक्षणं चेदम्-संहन्यन्ते सह विशेषं प्राप्यन्ते शरीरास्थ्यवयवाः कपाटफलकानीव लोहपट्टिकादिनिचयेन तत्संहननम् अस्थिरचनाविशेषात्मकः शरीरे सन्धेर्बन्धः। स चौदारिकशरीर एव तद्व्यतिरिक्त-शरीरेष्वस्थ्यभावात्। तच्च षोढेत्याह-

[मूल] वज्जरिसहनारायं, पढमं बीयं च रिसहनारायं ।
नारायमद्धनाराय, कीलिया तह य छेवट्टं ।।५७।।

[व्याख्या] सुगमा।।५७।।

अथास्यैव संहननषट्कस्य स्वरूपव्याख्यानं गाथाद्वयेन सार्द्धेनाह-

[मूल] कीलियपट्टयमक्कडबंधा इह वज्जरिसहनाराया ।
एयतियजुत्त पढमं, बिइयमवज्जं अरिसहं वा ।।५८।।
वज्जयरिसहदुगूणं, मक्कडबंधदुगसंजुयं तइयं[1] ।
तुरियमिगपासबद्धं[2], बिइयंते कीलियाविद्धं ।।५९।।

---

१ {नाराचं तृतीयम् । एकतो मर्क्कटबन्धबद्धं द्वितीयपार्श्वे कीलिकाविद्धमर्द्धं नाराचं चतुर्थम् । ऋषभनाराचवर्जं कीलिकाविद्धास्थिद्वयसञ्चितं कीलिकाख्यं पञ्चमम् । सेवट्टंति । अस्थिद्वयपर्यन्तं स्पर्शलक्षणम् । सैवाङ्कृतं(तदेव ऋतं) गतं निपातनात् सेवार्तम् । अथवा नित्यमपि सेवया स्नेहाभ्यङ्गादिपरिशीलनरूपया ऋतं व्याप्तं निपातनात् सेवार्तम् । च्छेवट्टंति पाठे दकारस्य लुप्तस्येह दर्शनात् छेदानामस्थिपर्यन्तानां वृत्तं परस्परसम्बन्धमात्रलक्षणं वर्तनं वृत्तिर्यत्र तच्छेदवृत्तं वज्रादित्रयरहितमस्थिपर्यन्तमात्रसंस्पर्शीत्यर्थः । च्छेवट्टंति पाठे छेदाभ्यां स्पृष्टम्-इति शतकसार्द्धशतकलघुसङ्ग्रहिणीवृत्तित्रयसङ्ग्रहः । अथ प्रपञ्चितज्ञानुग्रहायामुमेवार्थं किञ्चित् सविशेषम् गाथाद्वयेन सार्द्धेनाह-
कीलियपट्टयमक्कडबंधा इह वज्जरिसहनाराया । एयतिगजुत्त पढमं बितियमवज्जं अरिसंह वा ।।५८।।}

२ मूले 'वद्धं' इत्यस्य स्थाने 'जुत्तं' इति दृश्यते ।
अत्र व्याख्याकृता गाथेयं पूर्वव्याख्यातापि कुतश्चित्कारणात् निष्काषितेति सम्भाव्यते। निष्कासितः पाठश्चायम् ।

पंचममबद्धपट्टं, सकीलियं छट्ठमं तदुगपुट्ठं ।

[व्याख्या] इह कीलिकापट्टकमर्कटबन्धशब्दैर्वज्रऋषभनाराचाः समभिधीयन्ते। ततोऽयमर्थः– इह सन्धिबन्धकारिणो मूलास्थिद्वयस्य ऊर्ध्वाधोभावेन व्यवस्थितस्योभयपार्श्वयोरेकैकास्थिपर्यन्ते द्विधाभूताभ्यामस्थ्यवयवाभ्यां निजनिजद्वितीयास्थ्योर्यः संदंशकाकारेण सङ्ग्रहः स नाराचापरपर्यायो मर्कटबन्धः। यश्च तस्यैव मूलास्थिद्वयस्य ऊर्ध्वाधोभावेन व्यवस्थितस्य पूर्वोक्तस्वरूपाभ्यां मर्कटबन्धाभ्यामुभयतो बद्धस्य मध्यविभागे च वलयाकारेण वेष्टकविधायी योऽस्थिविशेषः ऋषभापरपर्यायः स पट्टकः। यश्च तस्यैवास्थिद्वयस्योभयतो मर्कटबन्धबद्धस्य पूर्वोक्तस्वरूपेण पट्टकेन मध्ये वेष्टितस्य तदस्थित्रयस्य भेदकारी कीलिकापरपर्यायोऽस्थिविशेषः स वज्राभिधः। एतैश्च त्रिभिर्विशेषैर्युगपद् विशेषितं वज्रर्षभनाराचम्, वज्रऋषभाभ्यां युक्तो नाराचो यत्रेति कृत्वा। **बीयेत्यादि**। यत्र [त]देवास्थिद्वयम् उर्ध्वाधोभावेन व्यवस्थितं वज्ररहितम् ऋषभनाराचाभ्यां सहितं तद् ऋषभनाराचाभिधं द्वितीयम्। अथवा ऋषभरहितं वज्रनाराचाभ्यां सहितं वज्रनाराचसञ्ज्ञम्। तथा यत्र तदेव मूलास्थिद्वयं वज्रऋषभद्विकोनं केवलेनैव मर्कटबन्धद्विकेनोभयपार्श्वयोः संयुक्तं तन्नाराचाभिधानं तृतीयम्। यत्र पुनस्तदेव मूलास्थिद्वयं वज्रऋषभाभ्यां रहितम् एकस्मिन् पर्यन्ते मर्कटबन्धेन बद्धं द्वितीयपर्यन्ते च कैवलयैव कीलिकया विद्धं तदर्द्धनाराचाख्यं चतुर्थम्।।५९।।

तथा यत्र तदेव मूलास्थिद्वयमूर्ध्वाधोभावेन स्थितं मर्कटबन्धद्वयेन पट्टकेन च रहितं मध्यभागे च केवलकीलिकाविद्धं तत्कीलिकाख्यं पञ्चमम्। यत्र पुनः सन्धिबन्धकारिणोऽस्थिद्वयस्योर्ध्वाधोभावाभावेन निजनिजविभागयोरेवावस्थितस्य पर्यन्तभागमात्राभ्यां स्पृष्टं स्पर्शनमात्रमेवास्ति तत्षष्ठम्। तथेह षष्ठं सेवट्टं छेवट्टं छेवट्टं चाभिधीयते। तत्रास्थिद्वयपर्यन्तसंस्पर्शलक्षणां सेवाम् ऋतं गतं निपातनात् सेवार्तम्। अथवा नित्यमपि सेवया स्नेहाभ्यङ्गादिपरिशीलनरूपया ऋतं व्याप्तं निपातनात् सेवार्तम्। **छेवट्टं ति** पाठे दकारस्य लुप्तस्येह दर्शनात् छेदानामस्थिपर्यन्तानां वृत्तं परस्परसम्बन्धलक्षणं वर्तनं वृत्तिर्यत्र तत् छेदवृत्तं वज्रादित्रयरहितमस्थिपर्यन्त-मात्रसंस्पर्शीत्यर्थः। **छेवट्टं ति** पाठे छेदाभ्यां स्पृष्टम्।।६० [पू.]।।

अथ संहननानि पादचतुष्टयेन पृथिव्यादिषु दर्शयति–

[मूल] चरिमभिगविगलअमणे, सन्नीतिरि माणवा छद्धा ।।६०।।

[व्याख्या] चरमं षष्ठसंहननं छेदस्पृष्टाख्यमेकेन्द्रियेषु पृथिव्यादिषु पञ्चसु विकलेषु त्रिषु अमनस्के च सम्मूर्च्छजजलचरादिपञ्चके च भवति। तथा सञ्ज्ञितिर्यञ्चो = गर्भजजलस्थलखचरोरःपरिसर्पभुजपरिसर्परूपाः पञ्चापि, तथा मानवाश्च। **छद्ध त्ति**। षड्विधसंहनना भवन्ति।।६०।।

[मूल] सुरनिरय असंघयणी, जीवाभिगमम्मि भणियमेयं तु ।
संघयणि कम्मगंथे, इगिंदिया वि असंघयणा ।।६१।।

[व्याख्या] तथा सुरा नारकाश्च अस्थ्यभावात् षड्विधेनापि संहननेन रहिताः। अयं च पृथिव्यादीनां सुरान्तानां यः संहननविभागः स जीवाभिगमप्रथमप्रतिपत्तौ। तथाहि–

तेसि णं भंते ! जीवा णं सरीरा किं संघयणा पन्नत्ता ? गो[यमा]! च्छेवट्टसंघयणा पन्नत्ता।

(जीवाभिगम प्र.१, सूत्र–१३)

अयं चालापकः पञ्चानामप्येकेन्द्रियाणां सूक्ष्मबादररूपदण्डकदशकेऽपि। तथा द्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छज-जलचरादिदण्डकेषु

च्छेवट्ठ संघयणी (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-२८,३५)

इत्येक एव आलापकः। तथा गर्भजजलचरादिपञ्चकदण्डकेषु-

तेसि णं भंते ! जीवा णं कइसंघयणा पन्नत्ता ? गो[यमा] ! छसंघयणा पण्णत्ता। तं जहा- वइरोसभनारायसंघयणे, रिसहनारायसंघयणे, नारायसंघयणे, अद्धनारायसंघयणे, कीलियासंघयणे, छेवट्ठसंघयणे। (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-१३)

तथा मनुष्यदण्डके-

छच्चेव संघयणा (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-४१) इति।

तथा नैरयिकदण्डके देवदण्डके च-

तेसि णं जीवाणं सरीरा किंसंघयणी(णा) पन्नता ? गो[यमा] ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी। नेवट्ठी नेवसिरा नेव ण्हारुं [१] नेव संघयणमत्थि त्ति। (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-३२,४२)

अथ गाथोत्तरार्द्धं- **संघयणीत्यादि**। तत्र लघुसङ्ग्रहण्याम्-

छग्गब्भतिरिनराणं, संमुच्छपणिंदिविगल छेवट्ठं। सुरनेरइया एगिंदिया य सव्वे असंघयणा।।

(लघुसङ्ग्रहणी?, बृहत्सङ्ग्रहणी-१६१)

सुरनारकैकेन्द्रिया अस्थ्यभावादसंहननाः। यत्तु क्वचिदेकेन्द्रियाणां सेवार्त्तं क्वचिच्च देवानां वज्रऋषभनाराचमुक्तं तदौपचारिकम्। तथाहि- अस्थ्यात्मनः संहननाद्यः शक्तिविशेषः सोऽप्युपचारात्संहननम्। शक्तिविशेषश्चात्यन्तमल्पीयानेकेन्द्रियाणामप्यस्ति। जघन्या च शक्तिः सेवार्तविषयः इति तेषां सेवार्तमुक्तम्। देवानां तु चक्रवर्त्यादिभ्योऽप्यत्यन्तमहती शक्तिः। सा चाद्यसंहननविषय इति तेषामाद्यमुक्तम् इति तद्वृत्तिभावार्थः।

ननु यो विकलेन्द्रियाणां पिपीलिकादीनां च्छेदवृत्तसंहननोदयोऽभ्युपगतः सोऽस्थ्यभावे कथं सङ्गच्छते ? **इत्यत्रोच्यते,** योऽयमस्थिविन्यासप्रयत्नोऽभिहितोऽसौ बलप्रकर्षख्यापकोऽत एव सूत्रे शक्तिविशेषः संहननमुक्तम्, अन्यथोभय-मर्कटग्रहपट्टकीलिकाप्रयत्ने सति गात्रसङ्कोचविकाशा(सा)भावो भाव्येत, अतः पिपीलिकादीनां क्षुद्रसत्त्वानां यद्यप्यस्थीनि न भाव्यन्ते तथापि कायबलम(धि)कृत्य संहननमुच्यते। तथाहि लोकेऽस्थिसद्भावेऽप्यल्पबलः पुरुषोऽसंहनन एव व्यपदिश्यते। अतः शक्तिमपेक्ष्य तेषां संहननं वेदितव्यम्। अथवा शङ्खादीनां द्वीन्द्रियाणामपि दृश्यन्त एवास्थीनि, पिप्पीलिकादीनां तु सूक्ष्मत्वात् केवलिगम्यानीति न कश्चिद्विरोध इति पञ्चसङ्ग्रहाभिप्रायः सार्द्धशतकवृत्तौ।

तथा- **कम्मगंथि त्ति।**

सुत्ते सत्तिविसेसो संघयणमिहट्ठिनिचउ त्ति। सार्द्धशतके।।६१।।

अथ संस्थानद्वारम्। तत्र सन्तिष्ठन्ते प्राणिन एतेष्वाकारविशेषेष्विति संस्थानानि। अवयवरचनात्मकशरीराकृतिस्वरूपाणि शरीरेषु त्रिष्वपि स्युरिति सण्टङ्कः। तानि च किमभिधानानि कति सङ्ख्यानि च भवेयुरिति गाथापादत्रयेणाह-

[मूल] समचउरंसे नग्गोहमंडले साइखुज्जवामणए ।
हुंडित्ति छ संठाणा

---

१ ण्हारु=स्नायुः।

[व्याख्या] समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि कुब्जं वामनं हुण्डं चेति षट् संस्थानानि भवन्ति। तत्र समा = शरीरलक्षणशास्त्रोक्तप्रमाणलक्षणाविसंवादिन्यः, अस्रयश्चेह चतुर्दिग्विभागोपलक्षिताः शरीरावयवास्ततः समाश्चतस्रोऽस्रयो यस्येति समासान्तात्प्रत्यये समचतुरस्रमिति। किमुक्तं भवति ? यस्य शरीरस्य सर्वेऽप्यवयवाः शास्त्रोक्तलक्षणप्रमाणाव्यभिचारिणो, न तु न्यूनाधिकप्रमाणा अपलक्षणा कुलक्षणा वा तत्समचतुरस्रम्। यद्वा समं नाभेरुपरि अधश्च सकललक्षणोपेतावयवतया तुल्यं तच्च तच्चतुरस्रं च प्रधानं समचतुरस्रम्। अत एव सर्वावयवेषु लक्षणादिभिस्तुल्यत्वात् तुल्यमपीदमुच्यते। अथवा अस्रयः पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम्, आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरम्, दक्षिणस्कन्धश्च(स्य) वामजानुनश्च अन्तरम्, वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति। ततः समा अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽपि अस्रयो यत्र तत्र(त्) समचतुरस्रमिति।

तथा न्यग्रोधवत्परिमण्डलं न्यग्रोधमण्डलम्। यथा न्यग्रोधो = वटवृक्ष उपरि सम्पूर्णावयवोऽधस्तनभागे तु न तथा, तथेदमपि नाभेरुपरि विस्तरबहुलं सम्पूर्णलक्षणादिभागम्, अधस्तु हीनाधिकप्रमाणमिति।

आदिरिहोत्सेधाख्यो नाभेरधस्तनो देहभागो गृह्यते। तेनादिना शास्त्रोक्तशरीरलक्षणप्रमाणभाजा सह वर्तते यच्छरीरं तत्सादि। सर्वमेव शरीरमविशिष्टेनादिना सह वर्तते इति सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्तेरधस्तनकायस्य समचतुरस्रलक्षणं वैशिष्ट्यं लभ्यते। सा हि उत्सेधबहुलं चोच्यते। इदमुक्तं भवति– नाभेरधः परिपूर्णलक्षणादियुक्तोत्सेधं, नाभेस्तूपरि प्रमाणलक्षणविसंवादीति।

कुब्जं मडहकोष्ठम्। यत्र पाणिपादशिरोग्रीवं यथोक्तलक्षणादियुक्तम्, शेषं तु कोष्ठं शरीरमध्यमुरउदरपृष्ठादिरूपं मडहं लक्षणादिरहितं न्यूनाधिकप्रमाणं च भवति तत् कुब्जमिति।

वामनम् अधस्तनकायमडहम्। यत्र पाणिपादादिकोऽधस्तनकाय उपलक्षणत्वादुपरितनश्च शिरोग्रीवादिको मडहो लक्षणादिविसंवादी भवति, शेषं तु मध्यकोष्ठं यथोक्तलक्षणादियुक्तं तद्वामनम्। अन्ये तु सादि वामनं कुब्जमिति क्रममभिमन्यमानाः कुब्जवामनयोः प्रदर्शितं लक्षणं मडहकोष्ठं वामनमधस्तनकायमडहं कुब्जमिति व्यत्ययेन योजयन्ति। हुण्डं सर्वावयवेषु प्रायो लक्षणादिविनिर्मुक्तं यस्यैकोऽप्यवयवः प्रायो लक्षणादियुक्तो न भवति तत्सर्वत्रासंस्थितं हुण्डमिति।

अथ संस्थानमाश्रित्य पर्यायगाथेयम्–

तुल्लं वित्थडबहुलं, उस्सेहबहुलं च मडहकोट्ठं च। हेट्ठिल्लकायमडहं, सव्वत्थासंठियं हुंडं।।

(त्रैलोक्यदीपिका,बृहत्सङ्ग्रहणी–२६४) इति।। ६२ [पू.]।।

तदेवं संस्थानषट्कस्याभिधानमाश्रित्य व्युत्पत्तिः प्रादर्शि। सम्प्रति पुनस्तस्यैवाव्युत्पन्नविनेयानुग्रहाय सङ्क्षेपादेकैकमर्थमात्रं पादपञ्चकेनाह–

[मूल] सव्वत्थ सलक्खणं पढमं ।।६२।।
नाभुवरि नाभिअहो, उरपुट्ठिउयरवज्जवयवेसु ।
करपयसिरगीवविणा, सलक्खणं कत्थवि न छट्ठं ।।६३।।

[व्याख्या] सव्वथि त्ति। यत् सर्वशरीरस्य पूर्वापरवामेतरोर्ध्वाधोभागव्यवस्थितेषु समग्रावयवेषु सामुद्रिकशास्त्रोक्तैः प्रमाणैर्लक्षणैर्व्यञ्जनैश्च युक्तं सर्वत्र सलक्षणं तत्प्रथमं समचतुरस्रमिति।। ६२।।

नाभु गाहा। इह चतुर्णामपि संहननानां गाथाचतुर्थपादोक्तं सल्लक्षणशब्दं संयोज्य व्याख्या क्रियते– **नाभुवरिं ति**। यन्नाभेरूपरि सर्वावयवेषु सम्पूर्णैः लक्षणैः प्रमाणैश्च युक्तं न पुनर्नाभेरधो विभागेषु (तद्) द्वितीयं न्यग्रोधपरिमण्डलम्।

तथा **नाभिअहो त्ति**। यन्नाभेरधस्तात् सर्वावयवेषु सम्पूर्णलक्षणं नाभेरूर्ध्वं च सर्वत्र हीनलक्षणं तत्तृतीयं सादीति।

तथा **उरपुट्ठीत्यादि**। यत्(द्) उरःपृष्ठजठरवर्जितेषु शेषेषु करचरणशिरोग्रीवाद्यवयवेषु लक्षणोपेतं तच्चतुर्थं कुब्जम्।

तथा **करपयेत्यादि**। यत् करचरणशिरोग्रीवाद्यवयवान् मुक्त्वा मध्यकोष्ठे यथोक्तलक्षणोपेतं तत्पञ्चमं वामनमिति।

तथा **कत्थवि न छट्ठं ति**। सर्वावयवाना(नां) मध्ये यत् प्रायेण न = नैव क्वापि लक्षणोपेतं तत्षष्ठं हुण्डमिति।।६३।।

अथ संस्थानानि पृथिव्यादिषु प्रयोजयन्नाह–

[मूल] हुंडं चिय पुढवाइसु, नियय विविहं तरुसु विगलमणे ।
समणतिरिमणुसु छप्पिय, नरए भवजेयरे हुंडे ।।६४।।

[व्याख्या] सामान्यरूपतया हुण्डमेव संस्थानं पृथिव्यादिषु चतुर्षु **नियय ं ति**। प्रतिनियतं निश्चिताकारेण व्यवस्थितम्। यथा पृथिवीकायोऽर्द्धमसुरचन्द्रकाकार एव। अप्कायः स्थिबुकाकार एव। तेजस्कायः सूचीकलापाकार एव। वायुर्वातोद्भूतपताकाकार एवेति। तथेह प्रसङ्गात् वनस्पतिरनित्थंस्थसंस्थान एवेति। तत्र इत्थं = नियतेनैवाकारेण तिष्ठतीति इत्थंस्थम्, न इत्थंस्थमनित्थंस्थं = विचित्रम्, तदेवंरूपं संस्थानं यस्य स(तद्) अनित्थंस्थसंस्थानं तथेति।

अद्धमसूरं थिवुगो, सूइकलावो पडागणित्थंत्थं। पुढवाइसु संठाणं, भगवइजीवाभिगमपमुहेसु।। **( )** इति।

विविहमित्यादि। तरुषु, विकलेषु त्रिषु, अमनस्केषु च सम्मूर्च्छजजलचरादिषु पञ्चषु तदेव पूर्वोक्तमेव हुण्डं संस्थानं विचित्रम् = अनेकाकारं भवतीति। **निरयेत्यादि**। नरके। **भवज त्ति**। भवधारिशरीरम्। **इयर त्ति**। उत्तरवैक्रियम्। द्वे अपि शरीरे हुण्डे इति।।६४।।

तथा–

[मूल] देवे समचउरंसं, भवधारिसरीरमुत्तरं नाणा। दारं।

[व्याख्या] सुगमा। नवरं **नाणे त्ति** नानाप्रकारम्। अयं हि पृथिव्यादीनां सुरान्तानां संस्थानविभागो जीवाभिगमाद्यप्रतिपत्तावित्थमभाणि। तद्यथा– सूक्ष्मबादरपृथिवीकायदण्डकयोः–

तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरा किंसंट्ठिया पण्णत्ता ? गोयमा! मसूरचंदसंठिया पन्नत्ता।

(जीवाभिगम प्र.१, सूत्र–१३,१४)

एवमप्कायदण्डकद्विको(के)ऽपि, नवरम्– **थिबुगसंठिया पन्नत्ता।** (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र–१६,१७)

तेजस्कायदण्डकद्विकेऽपि– **सरीरगा सूइकलावसंठिया** (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र–२४,२५)

वायुकायदण्डकद्विके– **सरीरगा पडागासंठिया।** (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र–२६)

वनस्पतिकायदण्डकद्विके– **अणित्थंत्थसंठिया।** (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र–१८,२१)

तथा विकलत्रिकसम्मूर्च्छजजलचरादिपञ्चकदण्डकेषु– **हुंडसंठिया।** (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र–२८,३५)

इत्येक आलापकः।

तथा गर्भजजलस्थलखचरोर[ग]भुजसर्पदण्डकेषु पञ्चस्वपि-

छव्विहसंठिया पण्णत्ता। (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-३८)

मनुष्यदण्डकेऽपि- **छव्विहसंठिया** (छस्संठाणा इति- जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-४१)

नारकदण्डके-

तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरा किंसंठिया पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता। तं [जहा] भव-धारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया। तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पन्नत्ता। (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-३२)

देवदण्डके-

किं संठिया पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता। तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते समचउरंससंठिया पन्नत्ता। तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया ते नाणासंठाणसंठिया।। (जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-४२)

अथावगाहनाद्वारम्। तत्रोत्तरार्द्धम्-

[मूल] अवगाहो तणुमाणं, उरले तह दुविह विउव्वे य ।।६५।।

[व्याख्या] अवगाहस्तनुमानम्। तत्र सङ्ग्रहण्यामवगाहनाद्वारव्याख्याने शरीरप्रमाणस्योक्तत्वाद् अत्रावगाहः तनुमानमिति पर्यायोऽदायि। तच्च द्विधा जघन्यमुत्कृष्टं च। तच्च द्विधापि पुनर्विषयभेदात् त्रिधा। तद्यथा- औदारिकशरीरविषयम्, भवधारिवैक्रियविषयम्, उत्तरवैक्रियविषयं चेति।

अथैतत्तनुप्रमाणं पृथिव्यादिषु मनुजान्तेषु द्विविधमपि गाथाद्वयेनाह-

[मूल] पुढवाइकार लहुयं, उरलं भूदग्गिमरुसु गुरुयं पि ।
अंगुलअसंखभागो, अह गुरुजोयणसहस्सहियं ।।६६।।
तरुसुं विगले जोयण, बारसकोसतिग जोयणं एक्कं ।
समणामणतिरि जोयणसहसं मणुएसु कोसतिगं ।।६७।।

[व्याख्या] पृथिव्यादिषु मनुजान्तेषु एकादशसु गृहेषु जघन्यमौदारिकशरीरप्रमाणम्। तथा भूदकाग्निवायुषु उत्कृष्टमपि शरीरप्रमाणम् अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रम्। केवलमसङ्ख्येयस्यासङ्ख्येयभेदत्वात् जघन्यशरीरसम्ब-न्धिनोऽ ङ्गुलासङ्ख्येयभागादुत्कृष्टशरीरसम्बन्धी अङ्गुलासङ्ख्येयभागोऽसङ्ख्यातगुणो द्रष्टव्यः। अत्र च सूक्ष्माणां च बादरानां च पृथिव्यादीनां पञ्चानां प्रत्येकतरुवर्जितानां शरीरप्रमाणं लघुसङ्ग्रहिण्यामेवमभ्यधायि।

अंगुलअसंखभागो, सुहुमनिगोओ असंखगुणि वाऊ। तो अगणि तओ आऊ, तत्तो सुहुमा भवे पुढवी।। (लघुसङ्ग्रहणी-२२४)

तो बायर-वाय-अगणी-आऊ-पुढवी-निगोय अणुकमसो। पत्तेयवणसरीरं, अहियं जोयण-सहस्सं तु।। (लघुसङ्ग्रहणी-२९४)

द्वेधा वनस्पतिः प्रत्येकः साधारणश्च। साधारणो निगोदोऽनन्तकायिक इत्येकार्थाः। तत्र प्रत्येको बादर एव, पृथिव्यप्तेजोवायुनिगोदास्तु सूक्ष्मा बादराश्च। तत्राद्यं तयोर्निगोदपृथिव्योः सूक्ष्मविशेषणात्तदन्तवर्तिनां वाय्वग्निजला-

नामपि सूक्ष्मानां ग्रहणादयमर्थः- सूक्ष्मनिगोदशरीरमङ्गुलासङ्ख्येयभागः अङ्गुलासङ्ख्यातभागप्रमाणमित्यर्थः। तदसङ्ख्यातगुणमेकं सूक्ष्मवायुकायिकशरीरम्। ततोऽसङ्ख्यातगुणमेकं सूक्ष्मतेजस्कायिकशरीरम्। ततोऽसङ्ख्यात-गुणमेकं सूक्ष्माप्कायिकशरीरम्। ततोऽप्यसङ्ख्यातगुणमेकं सूक्ष्मं पृथ्वीकायिकशरीरम्। ततोऽप्यसङ्ख्यातगुणमेकं बादरवायुशरीरम्। ततोऽप्यसङ्ख्यातगुणमेकं बादराग्निशरीरम्। ततोऽप्यसङ्ख्यातगुणमेकं बादराप्कायशरीरम्। ततोऽप्यसङ्ख्यातगुणमेकं बादरपृथ्वीशरीरम्। तस्मादप्यसङ्ख्यातगुणमेकं बादरनिगोदशरीरम्। स्वस्थाने तु सर्वा-ण्यप्यङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्राणीति।

तहेवेत्यादि। तथैव- योजनसहस्रं समधिकम्। **तरुसुमि**त्युत्तरगाथावयवेन सम्बन्ध इति प्रथम-गाथार्थः।।६६।।

अथ द्वितीया- **तरुसुमित्यादि**। व्यक्ता च। नवरमिह सञ्ज्ञ्यसञ्ज्ञितिर्यक्षु द्वारद्वयेऽपि सामान्येन योजन-सहस्रमुक्तम्। विशेषः पुनरयम्-

जलथलउरभुयपक्खिसु, तणुमाण मुच्छिमेसु जहकमसो। जोयणसहस्स-गाउय-जोयण-धणु-धणुपुहत्ताइं।।

जोयणसहस्समेगं, गाउयछक्कं च जोयणसहस्सं। कमसो सन्निसरीरं, कोसपुहुत्तं धणुपहुत्तं।।

(ईर्यापथिकीमिथ्यादुष्कृतकुलकम्-५)

मनुष्यगृहेऽप्युत्कृष्टशरीरमाने विशेषोऽस्ति। स चायम्- पञ्चसु भरतेषु पञ्चसु चैरवतेषु सङ्ख्यातजीविनां पञ्चधनुःशतानि। तथा एतेष्वेव क्षेत्रेष्वसङ्ख्यातजीविनां त्रीणि गव्यूतानि। तथा विदेहपञ्चकेऽपि युगलभावात् सदैव पञ्चधनुःशतानि। तथा युगलधर्मिणां नियतमेव तनुप्रमाणम्। तत्रान्तरद्वीपेषु षट्पञ्चाशत्सु अष्टौ धनुःशतानि, हैमवतैरण्यवतदशके गव्यूतमेकं, हरिवर्षरम्यकदशके द्वे गव्यूते, देवकुरु-उत्तरकुरुदशके त्रीणि गव्यूतानि।। ६७।।

अथ भवधारिवैक्रियतनुमानमाह-

[मूल] निरसुरभववेउव्वं, लहुयं अंगुलअसंखभागो उ ।
निरए पंचधणुस्सय, सुरेसु करसत्त उक्कोसं ।।६८।।

[व्याख्या] सुगमा।।६८।।

अथ वैक्रियलब्धिमतां बादरवायूनां सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च, तथा देवनारकाणां चोत्तर-वैक्रियतनुमानमाह-

[मूल] उत्तरवे(वि)उव्वि पवणे, अंगुलभागो असंखु दुविहं पि ।
सन्नितिरिमणुयनिरसुर, अंगुलसंखं सलहु सतणू ।।६९।।

[व्याख्या] दुविहं पि त्ति। जघन्यमुत्कृष्टं चेति। नवरं लघुतनुसत्कादङ्गुलासङ्ख्येयभागाद् उत्कृष्टोऽसौ समधिक इति। शेषं सुगमम्।।६९।।

अथ सञ्ज्ञितिर्यगाद्युत्तरवैक्रियाणां गुरुप्रमाणमाह-

[मूल] गुरु सन्नितिरिसु जोयणसयपोह(पुहु)त्तं नरेसु लक्खहियं ।
नरएसु धणुसहस्सं, जोयणलक्खं तु देवेसु ।।७०।।

[व्याख्या] सुगमा।।७०।।

अथ कर्मणां मूलप्रकृतिबन्धद्वारम्–

[मूल] नाणस्स दंसणस्स य, आवरणं वेयणीयमोहणीयं ।
आउयनामं गोयंतराय इय मूल अडपयडी ।।७१।।

[व्याख्या] सुगमा।।७१।।

अथैतास्वष्टसु मूलप्रकृतिषु पृथिव्यादीनां द्विविधां बन्धस्थितिमाह–

[मूल] आवरणदुगे विग्घे, बंधहि एगिंदिया हु अयरस्स ।
सत्तं सगतिगमूणं, जहन्नमुक्कोसओ पुन्नं ।।७२।।

[व्याख्या] आवरणद्विके ज्ञानावरण–दर्शनावरणलक्षणे। **विग्घ त्ति।** विघ्ने ह्यन्तरायके। तस्य चाद्यकर्मद्वयेन बन्धस्थित्या बन्धोदयोदीरणासत्ताव्यवच्छेदैश्च समानत्वाद् व्यतिक्रमेण अपीह ग्रहणम्। एकेन्द्रियाः पृथिव्यादयः पञ्चापि। **हुरिति** निश्चये। यादृशैः सप्तभिर्भागैः सागरं सम्पूर्णं भवति तादृशमतरस्य सप्तांशकत्रयं जघन्यपल्या–सङ्ख्येयभागेनोनम्। उत्कृष्टतस्तु सम्पूर्णं बध्नन्तीति सम्बन्धः।।७२।।

तथा–

[मूल] दस इगवीस बिचत्ता, चउसयअडवीस अयर विगलमणे ।
सत्तंस पण ति छ चऊ, किंचूण लहू गुरू पुन्ना ।।७३।।

[व्याख्या] सागराणि दश–एकविंशति–द्विचत्वारिंशत्–चत्वारिशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि उपरि च सागरसप्तांशकात् पञ्च त्रीन् षट् चतुरश्च क्रमेण द्वित्रिचतुरिन्द्रियामनसः कर्मत्रये बध्नन्ति। नवरं सागर–सागरभागादिकं निजनिजं यथोक्तमानम्। पल्यासङ्ख्येयभागेनोनं सज्जघन्यस्थितित्वेन। तदेव सम्पूर्णं सदुत्कृष्ट–स्थितित्वेनेति विशेषः[१]।।७३।।

अथायं बन्धस्थितेर्विषयविभागः कुतो लभ्यते?, **उच्यते,** करणवशात्। तच्च गाथाद्वयात्मकमिदम्–

[मूल] मूलियर पयडि नियनियगुरुठिइ हर सयरिकोडिकोडिए ।
जं लद्धं तमिगिंदियगुरुठिई किंचूण सा लहुई ।।७४।।
एयं चिय एगिंदियबंधं विगलामणेसु जाणाहि ।
पणुवीसा पन्नासा, सएण सहसेण गुणिऊणं ।।७५।।

[व्याख्या] इहैकेन्द्रियादीनां गरीयस्या लघीयस्याश्च बन्धस्थितेरानयनाय करणमिदम्। अस्यार्थः–मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च यका यका निजनिजा गुरुस्थितिस्तस्याः सागरकोटीकोटीसप्तत्या भागे दत्ते यल्लभ्यते तत्सम्पूर्णं बादरपर्याप्तैकेन्द्रियाणां गरीयसी बन्धस्थितिस्तदेव पल्यासङ्ख्येयभागोनं लघीयसीति। तद्यथा–ज्ञानावरणस्य गुरुस्थितेः सागरत्रिंशत्कोटीकोटीरूपायाः सागरकोटीकोटीसप्तत्या भागे दत्ते भागाभावाच्च समशून्यापगमे कृते आगतं सागरस्य त्रयः सप्तभागाः ततोऽयमर्थो बादरपर्याप्तैकेन्द्रिया ज्ञानावरणस्य कर्मण उत्कृष्टतः सागरस्य सप्तमांस्त्रीन् भागान् सम्पूर्णान् बध्नन्ति, जघन्यतस्तु तानेव त्रीन् सप्तभागान् पल्यासङ्ख्येयभागेनोनानिति। **ननु** किमिति सूत्रे निरुपपदे एकेन्द्रियोपादाने सति तेषां बादरा इति पर्याप्ता इति च वृत्तौ विशेषणद्वयं क्रियते ? कथं वा सर्वैकेन्द्रियभेदसङ्ग्रहाय सामान्येन निर्विशेषणा एव ते नाद्रियन्त ? इति,

१ व्याख्याकर्तुः टिप्पणी– एतच्च एकविकलामनोगृहनवकं यथेह कर्मत्रये प्रादर्शि । तथा वेद्य–मोह–नाम–गोत्रेष्वपि पृथक् पृथग् दर्शयिष्यते । सञ्ज्ञितिर्यगादिगृहचतुष्टयं तु कर्मसप्तकेऽपि लाघवार्थं पश्चादिहैव भणिष्यते ।

सत्यम्, इहैकेन्द्रियबन्धोऽष्टधा समस्ति, ततश्च यथोक्तौ बन्धौ यथोक्तविशेषणेष्वेवैकेन्द्रियेषु लभ्येते, न पुनः शेषेष्वपीति ज्ञापनार्थम्। अयं चार्थः-

अमणुक्कोसा य विरय उक्कोसो। (सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-८२)

इति गाथाव्याख्याने सार्द्धशतकवृत्तावुक्तः। तथाहि- बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धः स्तोकः, ततो बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यबन्धो विशेषाधिकः, ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यबन्धो विशेषाधिकः, ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य उत्कृष्टस्थितिबन्धोऽपि विशेषाधिकः, ततो बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः, ततः सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिकः, ततो बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्ट-स्थितिबन्धो विशेषाधिकः इति। ततोऽत्र प्रथमाऽष्टमबन्धभेदसङ्ग्रहार्थमेकेन्द्रियाणां बादरः पर्याप्तश्चेति विशेषणद्वयमुक्तम्।

अथ **'एयं चिय'** इत्यादिका द्वितीया करणगाथा व्याख्यायते। एतदेवैकेन्द्रियलब्धसागरभागत्रयं पञ्चविंशतिगुणम्, द्वीन्द्रियाणां पञ्चाशद्गुणम्, त्रीन्द्रियाणां शतगुणम्, चतुरिन्द्रियाणां सहस्रगुणम्, सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां बन्धस्थितौ जानीहीति सम्बन्धः। एतेषां च त्रयाणां पञ्चविंशत्यादिगुणितागतभागानां सप्तभिर्भागे हृते जातमिदम्- सागराणि दश, एकविंशतिः, द्विचत्वारिंशत्, चत्वारिशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि, एतदुपरि सागरसप्तभागाः पञ्च त्रयः षट् चत्वारश्च इति। एतदपि यथावस्थितं गुरुस्थितित्वेन, पल्यासङ्ख्येयभागेन हीनं तु जघन्यस्थितित्वेनेति।

तदेवं मूलप्रकृतित्रये करणं भावितम्, शेषं मूलप्रकृतिषूत्तरप्रकृतिष्वप्येवमेव भावयितव्यम्। **ननु** जघन्या स्थितिर्मूलप्रकृतीनां-

मुत्तुमकसाय हुस्सा, ठिइ वेयणीयस्स बारसमुहुत्ता। अट्ठट्ठ नामगोयाण सेसयाणं मुहुत्तंतो।।

(सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-६५)

इत्येवंरूपा अन्यत्रोच्यते तत्कथमत्र किञ्चिदूनसागरभागत्रयादिकेति ?, सत्यम्, सा जघन्या स्थितिः क्षपक-मनुष्याश्रिता, इयं त्वेकेन्द्रियाद्याश्रितेति विशेषः।

अथात्रायमेवानन्तरोक्तकरणप्रतिपादितोऽर्थो मूलोत्तरप्रकृतिसमुदयसत्कस्थितिबन्धद्वयप्रदर्शनद्वारेण व्यासतः चतुःपञ्चाशद्गाथाभिः प्रदर्श्यते। तथाहि-

भवभवदुहदवनीरं, नमिउं वीरं सुरिंदगिरिधीरं। मूलियरपयडिसमुदयठिइबंधमहं लिहे दुविहं।।१।।

मुत्तुमकसायि हुस्सा, ठिइ वेयणियस्स बारसं मुहुत्ता। अट्ठट्ठनामगोयाण, सेसयाणं मुहुत्तंतो।।२।।

मोहे कोडाकोडीउ, सत्तरई वीस नामगोयाणं। तीसियराण चउण्हं, तेतीसयराइं आउस्स।।३।।

(प्रवचनसारोद्धार-१२८०, सूक्ष्मार्थसारोद्धार-६४)

इति मूलप्रकृतिषु ओघतः स्थितिबन्धद्वयमुक्तम्, विभागतस्तु स्वयमेव ज्ञातव्यमेकेन्द्रियादिस्वामितया ।

चऊयाले पगडिसए, इगविगला सन्निणं दुविहबंधं। नाउं गुरुठिइसहिया, पढमं लिह पयडि बारसहा।।४।।

करणावि सया तित्थाहारगसगसम्ममीसआउचऊ। चउदस मुत्तुं अडवनसया भुयालं सयं गहियं।।५।।

सुगमा। अथ पूर्वगाथापक्रान्ताः सगुरुस्थितिका द्वादशधा प्रकृतय इमाः-

बावीसं दसिगाउ दु, बार दु द्धतेर दुन्नि चउदसिगा। छ पन्नार दु सोला, दु द्धठारा अट्ठ अट्ठारा।।६।।

इगसट्ठी वीसिक्का, वीसंतीसिक्क सोल चालीसा। एगा उ सत्तरिक्का, सगुरुठिई पयडि बारसिमा।।७।।

अथैतस्य द्वादशविधप्रकृतिसमुदयप्रतिपादकस्य द्वारगाथाद्वयस्य विवरणरूपं गाथासप्तकमाह-

आइमसंघयणागिइहासरइपुमुच्चसुगइथिरछक्कं। सियमुहुसुरहिमिउलहुरसुरदुगनिदुण्ह बावीसा।।८।।

नग्गोहरिसहनारा, हालिद्दं विलय अद्ध तेराओ। नाराय सादि चउदस अरुणित्थिकसायमणुयदुगं।।९।।
सायं छप्पन्नारा, सोलसिगं कुज्जमद्धनारायं। नीलकडुयद्धठारा, कीलियवामणयसुहुमतिगं।।१०।।
विगलतिगं अट्ठारा, तसचउ तिरिजुयल निरयजुयलं च। तेयविउव्विय उरलाण सत्तगा हुंडसंठाणं।।११।।
पढमंतजाइ कुखगइ, कुवन्ननवगं च नीलकडुवज्जं। पत्तेया य अतित्था, थावर अथिराइछक्कं च।।१२।।
छेवट्टं सोगारइ, भयकुच्छनपुंसनीयगोयं च। इगसट्ठी वीसेक्का, विग्घावरणाइं अस्सायं।।१३।।
वीसंतिसेक्काओ, सोलकसायाउ हुंति चालीसा। मिच्छेगसत्तरिक्का, पयडिविभागे स बारसहा।।१४।।

अथैतदेव विवरणगाथासप्तकं गाथाद्वयसत्कद्वारोच्चारपूर्वकं क्वापि समग्रां विवरणगाथां क्वापि क्वापि विवरणगाथानां एकैकान् अवयवान् क्वापि च तासामेव बहून् पादान् अभिगृह्य विव्रियते। तद्यथा–

बावीसं दसिगाउ त्ति। आइम गाहा। आदिमं संहननं वज्रर्षभनाराचम्। आदिमा आकृतिः समचतुरस्रसंस्थानम्। स्थिरषट्कमिदं– स्थिरं सुभगं सुस्वरम् आदेयं यशःकीर्तिश्चेति। तथा सुरद्विकं देवगतिः देवानुपूर्वी चेति। एवमेता द्वाविंशतिप्रकृतयो दशसागरकोटीकोटीस्थितिका।

दु बार त्ति। नग्गोहरिसह बार त्ति। न्यग्रोधमण्डल–ऋषभनाराचरूपे द्वे प्रकृती द्वादशातरकोटीकोटी–स्थितिके।

दु धतेर त्ति। हालिद्देत्यादि। हारिद्रवर्ण–आचाम्लरसरूपे द्वे प्रकृती अर्द्धत्रयोदशातरकोटीकोटीस्थितिके।

दुन्नि चउदसिग त्ति। नारायेत्यादि। नाराचसंहनन–सादिसंस्थानरूपे द्वे प्रकृती चतुर्दशातरकोटीकोटी–स्थितिके।

छ पन्नार त्ति। अरुणेत्यादि। अरुणवर्ण–स्त्रीवेद–कषायरस–मनुष्यगति–मनुष्यानुपूर्वी–सातवेदनीयरूपाः षट् प्रकृतयोऽतरपञ्चदशककोटीकोटीस्थितिकाः।

दु सोल त्ति। सोलसिगेत्यादि। अर्द्धनाराचसंहनन–कुब्जसंस्थानरूपे द्वे प्रकृती षोडशातरकोटीकोटी–स्थितिके।

दु द्धठार त्ति। नीलेत्यादि। नीलवर्ण–कटुकरसरूपे द्वे प्रकृती सार्द्धसप्तदशातरकोटीकोटीस्थितिके।

अट्ठ अट्ठार त्ति। कीलियवामणयेत्यादि। कीलिकासंहनन–वामनसंस्थान–सूक्ष्म–अपर्याप्त–साधारण–विकलत्रिकरूपा अष्टौ प्रकृतयोऽष्टादशातरकोटीकोटीस्थितिकाः।

इगसट्ठी वीसिक्क त्ति। तसचउतिरिजुयल इत्यादि गाथापाददशकम्। त्रसं बादरं पर्याप्तं प्रत्येकं चेति त्रसचतुष्कम्। तथा तिर्यग्गतिः, तिर्यगानुपूर्वी, नरकगतिः, नरकानुपूर्वी चेति चतस्रः। तथा तैजससप्तकमिदं– तैजसशरीरम्, कार्मणशरीरम्, तैजसः सङ्घातः, कार्मणः सङ्घातः, तैजसतैजसबन्धनम्, कार्मणकार्मणबन्धनम्, तैजसकार्मणबन्धनं चेति। वैक्रियसप्तकं तु– वैक्रियं शरीरम्, वैक्रियाङ्गोपाङ्गम्, वैक्रियः सङ्घातः, वैक्रियवैक्रियबन्धनम्, वैक्रियतैजसबन्धनम्, वैक्रियकार्मणबन्धनम्, वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनं चेति। औदारिक सप्तकमिदम्– औदारिकं शरीरम्, औदारिकाङ्गोपाङ्गम्, औदारिकसङ्घातः, औदारिकऔदारिकबन्धनम्, औदारिकतैजसबन्धनम्, औदारिककार्मणबन्धनम्, औदारिकतैजस–कार्मणबन्धनं चेति। तथा कुवर्णनवकमिदम्– नीलम्, कृष्णम्, दुर्गन्धं(न्धः), त्य(ति)क्तम्, कटुकम्, गुरु, खरम्, रूक्ष्यं(क्षम्), शीतं चेति। अशुभनवकमपीदमुच्यते– एतन्मध्यान्नीलं कटुकं च वर्जयित्वा शेषं प्रकृतिसप्तकं गृह्यते। तथा प्रत्येकप्रकृतयोऽष्टाविमाः– पराघातम्, उद्योतम्, आतपम्, उच्छ्वासम्, अगुरुलघु, तीर्थकरम्, निर्माणम्, उपघातं चेति।

एता अपि तीर्थकररहिताः सप्त प्रकृतयो गृह्यन्ते। तथा अस्थिरषट्कमिदम्- अस्थिरम्, अशुभम्, दुर्भगम्, दुःस्वरम्, अनादेयम्, अयशःकीर्तिश्चेति। छेदस्पृष्ट-शोकारति-भय-जु[गु]प्सा-नपुंसकवेद-नीचैर्गोत्रमित्येवमेता एकषष्टिप्रकृतयो विंशत्यतरकोटीकोटीस्थितिकाः।

वीसं तीसिक्क त्ति। विग्घा इत्यादि। विघ्नानि पञ्च, ज्ञानावरणानि पञ्च, दर्शनावरणानि नव, असातं चेत्येता विंशतिप्रकृतयस्त्रिंशदतरकोटीकोटीस्थितिकाः।

सोल चालीस त्ति। सोल कसायेत्यादि। अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-सञ्ज्वलन-स्वभावाः क्रोध-मान-माया-लोभरूपाः षोडश प्रकृतयः चत्वारिंशदतरकोटीकोटीस्थितिकाः।

एगा उ सत्तरिक्क त्ति। मिच्छेग त्ति। मिथ्यात्वमोहनीयरूपा एका प्रकृतिः सप्तत्यतरकोटी-कोटीस्थितिकाः(का)। प्रकृतिविभाग एष द्वादशधापि व्याख्यातः। ततः-

बारसहठावियाणं, पुव्वुत्तप्पयडिगुरुठिईणं तु। हर भाग मिच्छठिइए, एगिंदियमाइबंधकए।।१५।।

अथैतासां द्वादशानां गुरुस्थितीनां मिथ्यात्वस्थित्या भागे दत्ते यद्विधेयं तद्गाथाद्वयेनाह-

सव्वत्थवि समसुन्नावगमे सइ बारसोलसठारेसु। दोहिं कुण उवट्टं

सर्वत्रापि- द्वादशस्वपि प्रकृतिसमुदयगृहेषु यथास्वं निजनिजगुरुस्थितीनां मिथ्यात्वस्थितेश्च प्रत्येकं समशून्यापगमे कृते सति ततोऽपि द्वादशषोडशाष्टादशातरकोटीकोटीस्थितिकप्रकृतिसमुदयगृहत्रिके द्विकेन भाज्य-भागहारकराश्योरपवर्तनां कुरु।

तथा-

पयडिचउक्कंमि पुण एवं।।१६।।

अधतेरें पणवीसाए, चउदसे चउदसेहिं उवट्टे। पंचहिं पन्नरसे अधठारे पणसत्तरिसएणं।।१७।।

अर्धत्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशसार्धसप्तदशातरकोटीकोटीस्थितिके प्रकृतिसमुदयगृहचतुष्के पुनः पञ्चविंशत्या चतुर्दशकेन पञ्चकेन पञ्चसप्ततिशतेन च भाज्य-भागहारकराशिद्वयस्यापि पञ्चविंशतिशतसप्तशतीरूपस्य, चतुर्दशक-सप्ततिरूपस्य, पञ्चदशकसप्ततिरूपस्य, पञ्चसप्ततिशतसप्तशतीरूपस्य चापवर्तनां कुरु। तदेवं गृहद्वादशकेऽपि समशून्यापगमे गृहत्रिके च द्विकापवर्तने गृहचतुष्के च पञ्चविंशत्यादिभिरपवर्तने कृते सति द्वादशस्वपि गृहेषु यज्जातं तद्गाथाद्वयेनाह-

दस वीस तीस चत्ता, सयरि सुलद्धेग दु ति च सगअंसा। बारस सोलट्ठारे, पणतीसंसा छ *[सत्त]* अट्ठ नव।।१८।।

अडवीसंसा पंच उ, अधतेरे चउदसेसु पंचंसो। चउदसमअंस तिन्नि उ, पन्नारे पाउ अधठारे।।१९।।

एयं इगिंदियेहिं, लद्धं इणमेव विगल अमणावि। कमसोलहं ति पणवीस, पन्न सय सहसगुणियं तु।।२०।।

इय करणवसादागय, बंधट्ठिईण पच्चयनिमित्तं। मुद्धाण जं तयमिणं, पदंसिमो सुहविबोहत्थं।।२१।।

अह लिह जंतं तिरि नव, उट्ठाहो चउदरेह अट्ठगिहं। पयडीसंखा पयडी, गुरुठिई भागो य तइयगिहे।।२२।।

तुरि एगिंदियबंधं, पंचमि बेइंदि छठि तेइंदी। सत्तमि चउरिंदिठिइं, अमणठिइं अट्ठमे लिहसु।।२३।।१

यन्त्रकस्थापनेयम्–

प्रकृतीनां संख्या	२२	२	२	२	६	२	२	८	६१	२०	१६	१
प्रकृत्युत्कृष्ट स्थितयः सागर कोटा(टी)कोटि	१ मू १५ (सू,स्त मू)	१२ मू १४	१२५ मू १३	१४ मू १४	१५ मू १४	१६ मू १४	१७५ मू १३	१८ मू १४	२ मू १५	३ मू १५	४ मू १५	७ मू १५
भागहारः सागर सप्तति कोटिकोटि	७ मू १५	७० मू १४	७०० मू १३	७० मू १४	७० मू १४	७० मू १४	७०० मू १३	७० मू १४	७ मू १५	७ मू १५	७ मू १५	७ मू १५
एकेन्द्रियबन्धः	सा। भा १/७	६/३ ५	पञ्चविंशत्या अपवर्तने कृते २८	चतुर्दशभिरपवर्तने १/५	पञ्चभिरपवर्तने ३/१४	८/३ ५±	पञ्च सप्ततिशते नापवर्तने१/४	९/३ ५*	२/७ औ	३/७ औ	४/७ औ	सप्तति सागरमेक
द्वीन्द्रियबन्धः	सा ३ भा४/	४।भा १०/ ३५	४।भ १३/ २८	सागर५	५।भा ५/१ ४	५।भा १४	६।भा १/१४	६।भा १५/ ३५	७।भा १/७	१०। भा ५/७	१४। भा २/७	२५
त्रीन्द्रियबन्धः	सा ७ भा१/ ७	८।भा २०/ ३५	८।भा २६/ २८	सा १०	१०। भा १०/ १४	१०। भा १०/ १४	१२। भा २/४	१२। भा २०/ ३५	१४। भा २/७	२१। भा ३/७	२८। भा ४/७	५०
चतुरिन्द्रियबन्धः	सा १४। भा २/७	१७। भा ५/ १३	१७। भा २४/ २८	सा २०	२१ भा ६/१ ४	२२ भा ३०/ ३५	२५	२५। भा २५/ ३५	२८। भा ४/ ७	४२। भा ६/ ७	५७। भा १/ ७	१०० भा
अमनस्क-तिर्यग् बन्धः	सा १४२/ भा ६/७	१७१। भा १५/ ३५	२७८। भा १६/ २८	सा २००	२१४। भा ४/१ ४	२२८। भा २०/ ३५	२५०	२५७। भा ५/ ३५	२८५। भा ५/ ७	४२८। भा ४/ ७	५७१। भा ३/ ७	१०००

१ २४–२५ तमं गाथाद्वयं न दृश्यते।, ± = एकेनापवर्तने कृते * द्वाभ्यामपवर्तने कृते

अथ करणवशादेकविकलामनोभिर्यल्लब्धं तत् सुखावबोधाय सङ्कलय्य गाथाद्वादशकेनाह–

दसिगासिगविगलमणा, सत्तं समयर तिसत्तचउदसगं। बायालसयं उवरिं, चउ इग दुग छच्च सत्तंसे।।२६।।
बारसिसिग विगलमणा, छप्पण तीसंस अयर चउ अट्ठ। सतरस इगसयरि सय, दसवीसं पंच पन्नरसा।।२७।।
अधतेरिगविगलमणा, पणअडवीसं सअयर चउ अट्ठ। सतरस अड सयरिसयं, तेर छवीस चउवीस सोलंसा।।२८।।

गीतिरियम्।

चउदसिगिगविगलमणा, पंचंसो अयर पंच दस वीसं। दुन्नि सया संपुन्ना, अंसा उवरिं इहं नत्थि।।२९।।
पणदसि सिगविगलमणा, तिन्नि उ चउदंस अयरपणदसगं। इगवीस चउदसुत्तर, बिसई पणदस च्छ चउरंसा।।३०।।
सोलसिसिगविगलमणा, अडपणतीसं सअयरपणिगारा। बावीसडवीसहिया, दुसई पणवीस पनर तिस वीसं।।३१।। गीतिः।
अधठारिगविगलमणा, पाउ छच्चयर पायसंजुत्ता। सट्ठा बारस पणवीस, सट्ठदुसई उ संपुन्ना।।३२।।
अट्ठारिगविगलमणा, नव पणतीसं सअयर च्छ ब्बारा। पणवीस दुसयसगवन्न, पनर तीस पणवीस पण अंसा।।३३।।
वीसिसु इगविगलमणा, सत्तंस दुगं च अयरसगचउदा। अडवीसं पणसीया, दुसई इग दु चउ पंच सत्तंसा।।३४।। गीतिः।
तीसिसु इगविगलमणा, सगंस तिगमयर दसिगवीसं च। बायालडवीसहिया, चउसय पण तिग च्छ चउरंसा।।३५।।
चत्तासिगविगलमणा, सगंस चउमयर चउद अडवीसं। सगवन्निगसयरिजुया, पणसय दुग चउ इग तिगंसा।।३६।।
सइसिसु इगविगलमणा, अयसिगपणवीस पन्न सयसहसं। संपुन्नं बंधंति, भागा इह नत्थि उवरिं तु।।३७।।
इगविगला सन्नीहिं, करणवसा जमिह लद्ध तं पुन्नं। गुरुठिइ तेसिं सच्चिय पलियासंखं सऊणलहू।।३८।।

अथ यन्त्रोक्त एवामनस्कबन्धे कश्चिद्विशेषमाह–

इगविगलाऽबंधा उ, विउव्विए पढमु बंधु अमणकओ। दुन्नि सया पणसीया, अंसा पंचेव उवरिं तु।।३९।।

एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां वैक्रियैकादशके बन्धनिषेधात् प्रथमत एव तद्बन्धोऽमनस्ककृत एव स्यात्। स च वैक्रियसप्तकस्य नरकद्विकस्य च विंशतिकोटीकोटीस्थितिकत्वाद् अतरसप्तमभागसहस्रद्वयरूपः तस्य च सप्तभिर्भो(र्भा)गे जाते द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके सप्तमभागपञ्चकं च। देवद्विके पुनर्दशकोटीकोटीस्थितिकत्वाद् अतरसप्तमभागैकसहस्ररूपः तस्यापि सप्तभिर्भागे जातं द्विचत्वारिंशतं अतरशतं सप्तमभागषट्कं चेति।

एतच्च बन्धद्वयमपि उत्कृष्टम्, जघन्यन्तु द्वितयमपि पृथक् पृथक् पल्यासङ्ख्येयभागेनोनं ज्ञातव्यम्।[१]

सम्प्रति प्रसङ्गत एव ये जीवा यकाः प्रकृतीः स्वभावादेव न बध्नन्ति ता गाथाद्वयेनाह–

बंधंति न इगविगला वेउव्वियछक्क देवनिरयाउं। तिरिया तित्थाहारं गइत्तसा नरतिगुच्चं च।।४१।।(४०)

विउव्वियछक्कं ति। वैक्रियशरीरम्, वैक्रियाङ्गोपाङ्गम्, देवगतिः, देवानुपूर्वीम्, नरकगतिः, नरकानुपूर्वीं चेति वैक्रियषट्कम्। गतित्रसास्तेजोवायवः। नरत्रिकं मनुष्यगतिः, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु(यू)रूपम्। तथा–

नरयसुरसुहुमविगलत्तिगाणि आहारदुग विउव्विदुगं। बंधहि न सुरा सायव, थावरेगिंदिनेरइया।।४२।।(४१)

एतत्प्रकृतिषोडशकं देवा न बध्नन्ति। नारकाः पुनरेतदेव प्रकृतिषोडशकं आतप-स्थावर-एकेन्द्रियजातिसहितं स्वभावादेव न बध्नन्तीति।

अहुणा भणिमो मूलियरपयडिण ठिइबंधदुविहं पि। सन्निहिं पणिंदिएहिं जह कइ कीरइ करिस्सइ य[।।४२।।]

---

१ न दृश्यते चत्वारिंशत्तमी गाथा । क्रमः विस्मृतो दृश्यते । बंधंति न ।।४०।। नरयसुर ।।४१।। अहुणा भणिमो ।।४२।। इत्येवंप्रकारः क्रमः भाव्यः ।

अथ सञ्ज्ञिभिर्बध्यमानस्य मूलप्रकृत्यष्टकस्य गाथाद्वयेन, उत्तरप्रकृतीनां च चतुश्चत्वारिंशच्छतस्य गाथाषट्केन च बन्धस्थितिद्वयमाह–

मुत्तुमकसाय हुस्सा गाहा।

(मुत्तुमकसायि हुस्सा, ठिइ वेयणियस्स बारसं मुहुत्ता। अट्ठट्ठनामगोयाण, सेसयाणं मुहुत्तंतो।।४३।।)

मोहे कोडाकोडीउ सत्तरी गाहा।

(मोहे कोडाकोडीउ, सत्तरई वीस नामगोयाणं। तीसियराण चउण्हं, तेतीसयराइं आउस्स।।४४।।

(प्रवचनसारोद्धार–१२८०, सूक्ष्मार्थसारोद्धार–६४))

दंसण चउविग्घावरणलोहसंजलणहुस्स ठिईबंधो। अंतमुहुत्तं ते अट्ठ जसुच्चे बारसयसाए।।४५।।

(सूक्ष्मार्थसारोद्धार–६४)

दर्शनानि चत्वारि चक्षुरचक्षुरवधिकेवलरूपाणि, विघ्नानि पञ्च, दर्शनानि चत्वारि चक्षुरचक्षुरवधिकेवल–रूपाणि, विघ्नानि पञ्च, आवरणानि मतिज्ञानावरणादीनि पञ्च।

दो मासा अद्धद्धं, संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि। बावीसा पयडीणं, लहु ठिइ सन्नीण खवगाणं।।४६।।

(सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार–७४, कर्मप्रकृति–७७)

द्वौ मासौ तस्यार्धं मासस्तस्याप्यर्धं पक्षः सञ्ज्वलनक्रोधमानमायास्थितिः।

सेसे सए इगारे, वेउव्विक्कारसे य सन्नीणं। अयरंतकोडिकोडी, लहुठिइ नियमा इहं जम्हा।।४७।।

वैक्रियैकादशकस्य एकविकलेन्द्रिययोः बन्धाभावात् प्रथमतोऽपि अमनस्ककृत एव बन्धो भवतीति विशेषज्ञापनाय पृथगुपादनम्। तच्च वैक्रियैकादशकमेतद्– वैक्रियशरीरम्, वैक्रियाङ्गोपाङ्गम्, वैक्रियः सङ्घातः, वैक्रियवैक्रियबन्धनम्, वैक्रियतैजस–वैक्रियकार्मण–वैक्रियतैजसकार्मणरूपं बन्धनचतुष्टयमिति, देवगतिदेवानुपूर्वी, नरकगतिः, नरकानुपूर्वी चेति। **ननु** द्वाविंशत्यधिकस्य प्रकृतिशतस्य जघन्याद् अतरान्तःकोटीकोटीरूपाद् अपरः कोऽपि लघुतरः स्थितिबन्धः कस्मान्नोक्त ? **उच्यते, इह जम्ह त्ति**। इह स्थितिबन्धाधिकारे यस्मात् कारणात् सर्वप्रकृतिविषये सञ्ज्ञिनामभव्यानां भव्यानामपि सञ्ज्ञिमिथ्यादृष्टीनां अतरान्तःकोटीकोटीतो हीनतरोऽपरः सर्वोऽपि स्थितिबन्धो निषिद्धोऽस्तीत्याह–

सन्नीणमभव्वाणं, भव्वाणं वि सन्निमिच्छदिट्ठीणं। अयरंतकोडीहीणु, [अत्थि ?]***जहन्नो वि नो बंधो।।***

नन्वयमपि निषेधः कुतः ? **उच्यते,** सार्धशतकात्।

तथाहि–

अयरंतो कोडाकोडीउ अहिगो सासणाइसु न बंधो। हीणो न अपुव्वंतेसु नेव य अभव्वसन्निमि।।

(सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार–८१)

अत्र पादत्रयं सुगमम्, तुर्यस्तु व्याख्यायते। **नेव येत्यादि**। अभव्ये सञ्ज्ञिन्यायुर्वर्जितानां सप्तानां कर्मणां सागरोपमान्तःकोटीकोटीतो हीनो बन्धो नैव भवति। **नेव य त्ति** चशब्देन भव्येऽपि मिथ्यादृष्टौ सञ्ज्ञिनि न भवतीत्याचष्टे इति तद्वृत्तिः। अथ पूर्वोक्तः चतुश्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्याप्रकृतीनां गुरुस्थितिमाह–

चउयाले पयडिसए, गुरुयं तं सन्निणो कुणंति ठिइं। बावीसं दसिगाओ इच्चाइण जा भणियपुव्विं।।४७।।

अत्र पूर्वार्द्धेन तां स्थितिं कुर्वन्तीत्युक्तम्, तत्र सा किंरूपेत्याह–

बावीसमित्यादि। बावीसं दसिगाओ, दुवार दुध(द्ध)तेर दुन्नि चउदसिगा।

इत्यादिना द्वारगाथाद्वयेन (गा. ६, ७) अत्रैव प्रकरणे पूर्वप्रदर्शितेन यका यका भणितपूर्वास्तामिति सम्बन्धः।

अथ भागानर्हप्रकृतिचतुर्दशकस्य बन्धद्वयं गाथाषट्केनाह–

अंतो कोडाकोडी, तित्थाहाराण जिट्ठठिइबंधो। अंतमुहुत्तमबाहा इयरो संखिज्जगुणहीणो।।४८।।

(सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार–७०, शतकप्रकरणभाष्यम्–३४०,३५६)

ननु तीर्थकरनाम्नः सागरान्तःकोटीकोटीरूपा स्थितिरुक्ता, सा च तिर्यग्गतिगमनं विना न पूर्यते, तिर्यग्गतौ च **तिरिया तित्थाहारमिति** ( ) वचनात् तस्य बन्धनिषेधः, तत्कथमिदम् ? **अत्रोच्यते,** तीर्थकरनाम हि द्विधा– अवश्यवेद्यम् अनवश्यवेद्यं च। तत्र यदवश्यवेद्यं त्रिभुवनाधिपत्यरूपतया तत्तिर्यग्गतौ न प्राप्यते। अनवश्यवेद्यं तु प्राप्यत एव, यतस्तत्प्रभृतस्थितिकम् अपि अपवर्तनाकरणेन लघुस्थितिकं क्रियते, उद्वर्तनया वा तदन्यप्रकृतित्वेनावस्थाप्यते। तदुक्तं–

जमिह निकाइय तित्थं, तिरियभवे तं निसेहियं संतं। इयरंमि नत्थि दोसो, उव्वट्टोवट्टणासज्झो।।

(पञ्चसङ्ग्रहः–२५१)

निकाचितमित्यवश्यवेद्यं = तीर्थकरभवात्प्राक् तृतीयभवे यद्दृढबन्धनीकृतम् इत्यर्थः। तस्य च द्विधाप्यबाधा = बन्धोत्तरमनुदयावस्थारूपा अन्तर्मुहूर्तमाना। ततः परं दलिकरचनायाः सद्भावेनावश्यं प्रदेशोदयस्य सम्भवादिति। केचित्पुनः तीर्थकरनामान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं कस्यचित्प्रदेशत उदेति, तदुदये चाज्ञैश्वर्यादय ऋद्धिविशेषा अन्यजीवेभ्यो विशिष्टतरास्तस्य भवन्तीति सम्भावयाम इति व्याचक्षते।

इयरो इत्यादि[१]। तीर्थकराहारकद्विकयोरुत्कृष्टस्थितिबन्ध एव सङ्ख्येयगुणहीनः सन् इतरो जघन्यस्थितिबन्धो भवतीति। इदमुक्तं भवति– यावता पल्योपमासङ्ख्येयभागेन ऊनः सागरोपमकोटीकोटीरूप उत्कृष्टस्थितिबन्ध उक्तः स एव तेनैव पल्योपमासङ्ख्येयभागेन सङ्ख्येयगुणेन हीनः सन् इतरो भवतीति।

अथ चतुर्गतिगतजीवानां यथासम्भवं गतिचतुष्टयविषयं आयुर्बन्धद्वयमाह– तत्रापि प्रथमं जघन्यम्।

सुरनिरयमिहुणवज्जा, जीवा बंधंति आउलहु खुड्डुं। सुरनिरया अंतमुहू, दसवाससहस्समिहुणा वि।।४९।।

सुरनारकमिथुनकवर्जिताः सङ्ख्यातायुषः सर्वतिर्यञ्चो मनुष्याश्च तिर्यङ्मनुष्यगतिद्वयविषयं क्षुल्लकभवग्रहणरूपम्, देवाः पृथिव्यब्वनस्पतिसञ्ज्ञितिर्यक्सञ्ज्ञिमनुष्यविषये, नारकास्तु सञ्ज्ञितिर्यक्सञ्ज्ञिमनुष्यविषयम् एवान्तर्मुहूर्तरूपम्, मिथुनका अपि भवनपतिव्यन्तरविषयं वर्षसहस्रदशकरूपं जघन्यं परभवायुर्बध्नन्तीति।

अथ तेषामेव उत्कृष्टमाह–

इगविगल पुव्वकोडिं, परायु अमणो असंखपल्लंसं। संखाओ तिरियमणुया, तिरिनरविसयं तु पल्लतिगं।।५०।।

(शतकनामा पञ्चमप्राचीनकर्मग्रन्थः–३४)

ते दोवि तितीसयरे, निरए मणुया सुरेसु तेतीसं। तीरियाठार सुरेसु, जं तग्गइ जा सहस्सारं।।५१।।

एकेन्द्रियाः पञ्चापि विकलेन्द्रियास्त्रयोऽपि भवस्वभावात् तिर्यङ्मनुष्यविषयम् आयुर्द्वयमेव बध्नन्ति।

---

१ 'अंतो कोडाकोडी' इत्यादि गाथायाम् ।

तच्चोत्कृष्टं पूर्वकोटिरूपम् अमनस्कोऽसञ्ज्ञितिर्यगुत्कृष्टतश्चस्तसृष्वपि गतिषु पल्यासङ्ख्येयांशरूपम्, तथा सङ्ख्यातायुषः सञ्ज्ञितिर्यञ्चो मनुष्याश्च तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ च पल्यत्रयरूपम्, नरकगतौ तु एते उभयेऽपि त्रयस्त्रिंशदतररूपम्, देवगतौ पुनः मनुष्याः त्रयस्त्रिंशदतररूपम्, तिर्यञ्चस्तु सहस्रारान्तगामित्वात् सागराष्टादशकरूपम् उत्कृष्टं परभवायुर्बध्नन्तीति सम्बन्धः। सम्मूर्च्छिममनुष्यास्तु जघन्यतोऽपि उत्कृष्टतोऽपि अन्तमुहूर्तरूपमेव परभवायुर्बध्नन्तीति। अथ मिथुनकनारकसुरानधिकृत्याह–

तिरिनरमिहुण सुराउं, एकं चिय तं परं तिपल्लमियं। सुरनिरया उको(क्को)सं, पुव्वकोडि तिरिनरेसु [पुण]।।५२।।

तत्र तिर्यञ्चो नराश्च मिथुनका सुरायूरूपमेकमेवायुर्बध्नन्तीति। तच्च पल्यत्रयमितम्। एते भवस्वभावादेव तिर्यङ्मनुष्यनारकायूंषि न बध्नन्त्येव। देवनारका पुनः तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ वा पूर्वकोटिरूपमेवायुर्बध्नन्तीति। एतेऽपि भवस्वभावादेव देवनारकायुषां द्वे अपि न बध्नन्तीति।

अथ सम्यक्त्वमिश्रयोर्बन्धद्वयमाह–

सम्मे लहु अंतमुहू, समहिय छावट्ठि अयर गुरुठिई। अंतमुहु दुह विमीसे, भणियं पन्नवण तीवीसपए।।५३।।

तच्चेदम्–

सम्मत्तवेयणिज्जस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाणि साइरेगाइं। तथा– सम्मामिच्छत्तवेयणिजस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तमिति।

(प्रज्ञापना पद–२३,सूत्र–१७००)

सम्यक्त्ववेदनीयस्य यतो(त्) जघन्यतः स्थितिपरिमाणमन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि तत् वेदनमधिकृत्य वेदितव्यम्, न बन्धमाश्रित्य, सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्बन्धाभावात्। मिथ्यात्वपुद्गला एव हि जीवेन सम्यक्त्वानुगुणविशोधिबलतस्त्रिधा क्रियन्ते। तद्यथा– सर्वविशुद्धा, अर्धविशुद्धा, अविशुद्धाश्च। तत्र ये सर्व विशुद्धास्ते सम्यक्त्ववेदनीयव्यपदेशं लभन्ते, ये अर्धविशुद्धास्ते सम्यङ्मिथ्यात्ववेदनीयव्यपदेशमविशुद्धा मिथ्या–त्ववेदनीयव्यपदेशमतो न तयोर्बन्धसम्भवः। यदा तु तेषां सम्यक्त्वस्य सम्यग्मिथ्यात्वपुद्गलानां च स्वरूपतः स्थितिश्चिन्त्यते तदा अन्तर्मुहूर्तोनसप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा वेदितव्या। सा च तावती यथा भवति तथा कर्मप्रकृतिटीकायां सङ्क्रमकरणे भावितेति ततो अवधार्या। इति प्रज्ञापनासूत्रयोर्मलयगिरिवृत्तिः।

अथोपसंहारमाह–

एगिंदिमाइबंधो, दुहावि लिहिओऽडवन्नपयडिसए। पन्नवणतिवीसपया तिउद्देसा सिरिमहिंदेहिं।।५४।।

गतं प्रसङ्गागतम्।। ७४।। ७५।।

अथ प्रस्तुततमिदम्– कर्मत्रये एकेन्द्रियादीनां बन्धस्थितिद्वयमुक्तम्। तत्र च लघुस्थितौ किञ्चिदूनत्वमभाणि तच्चोनत्वं कियत्प्रमाणमित्याह–

[मूल] कम्मा असंखुगिंदिसु, संखो विगलामणेसु ऊणत्ते ।
पन्नवण तिवीसपए, सव्वेसि असंखु पल्लंसो ।।७६।।

[व्याख्या] कार्मग्रन्थिका एकेन्द्रियाणां स्थितेरूनत्वे पल्यासङ्खेयं भागम्, विकलामनसां तु पल्यस्य सङ्ख्येयं भागमाहुर्भणन्ति च–

एस एगिंदिय जेट्ठो, पल्ला संखंसहीण लहुबंधो। (सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-७५)

तथा-

कमसो विगल असन्नीण, पल्लं संखसऊणओ डहरु त्ति। (सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-७६, कर्मप्रकृतिः-८१)

सिद्धान्ते त्वेकेन्द्रियविकलामनसां सर्वेषामप्यूनत्वे एक एव पल्यस्यासङ्ख्येयभाग उक्तः।

तथाहि-

एगिंदिया णं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गो[यमा!] जहन्नेणं सागरोवमस्स तिन्नि सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधंतीत्यादि।

(प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७०५)

तथा द्वीन्द्रियदण्डके-

बेइंदिया णं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमपणुवीसाए तिन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोस्सेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधंति इत्यादि। (प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७१५)

तथा- **तेइंदिया णं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमपन्नासाए तिन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया इत्यादि।** (प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७२१) एवं चतुरिन्द्रियदण्डकेऽपि।**(सूत्र-१७२५)** असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियदण्डकेऽपि। **(सूत्र-१७२८)** सर्वासामपि प्रकृतीनां जघन्यस्थितेरूनत्वं पल्यासङ्ख्येयभागेनैवोक्तम्, न तु क्वापि सङ्ख्येयभागेनेति।

प्रज्ञापनायास्त्रयोविंशपदे-

सागरोवमपणुवीसाए तिन्नि सत्तभागि त्ति। (प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७१५)

अस्य वाक्यस्यायमर्थः- दशसागराणि पञ्च सप्तभागा इति। कथमिदमिति चेत्, उच्यते, सागरपञ्चविंशतेः सप्तभिर्भागे त्रिकेन चोत्थापितैर्लब्धं सागरत्रिकं चत्वारश्च सागरसप्तभागाः(३×४/७) तत एतत्त्रिगुणितं यथोक्तमानं भवतीति। एवम्-

तेंदिया णं सागरपन्नासाए सत्ततिन्निभागि[1] त्ति। (प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७२१)

त्रीन्द्रियाणां सागरपञ्चाशतोऽपि सप्तभिर्भागः, लब्धं सागरसप्तकम् एकश्च भाग इति। एतदपि त्रिगुणितमेकविंशतिसागराणि सप्तमभागत्रयं च भवतीति। एवम्-

चतुरिंदिया णं सागरसयस्स सत्ततिन्निभागि[2] त्ति। (प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७२५)

चतुरिन्द्रियाणां सागरशतस्यापि सप्तभिर्भागे लब्धं चतुर्दशसागराणि सप्तमभागद्वयं च। पुनरेतत् त्रिगुणितं द्विचत्वारिंशत्सागराणि षट् च सप्तभागा भवन्तीति। एवम्-

असन्नीणं सागरसहस्स सत्त तिन्निभागि[3] त्ति। (प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७२८)

असञ्ज्ञिनां **सागरसहस्सस्स सत्त तिन्निभागि त्ति।**

---

१ तिण्णिसत्तभागा इति पाठः ।

२ सागरोवमसयस्स तिण्णि सत्तभागा इति पाठः । मु.

३ सागरोवमसयस्स तिण्णि सत्तभागा इति पाठः । मु.

असञ्ज्ञिनां सागरसहस्रस्यापि सप्तभिर्भागे लब्धं द्विचत्वारिंशदधिकं सागरशतं सागरभागाश्च षट्, पुनरेतत्त्रिगुणितं सागरशतानि चत्वारि अष्टाविंशत्यधिकानि सागरभागाश्चत्वार इति।। ७६।।

उक्तं सप्रसङ्गं कर्मत्रयम्, अथ क्रमप्राप्तं वेदनीयमाह-

[मूल] चउदसंगतिगमूणं, सत्तंसा पुन्न तिन्नि वेयणीए ।
लहुगुरुठिइ इगिंदिसु, विगलमणे अयर पण दस य ।।७७।।

इगवीसा चउ द(दु)त्तर, दुसई चउदंस पंच दस छ चऊ ।
किंचूणा हुस्सठिई, गुरुई जा णाणवरणिज्जे ।।७८।।

सा पुण दस इगवीसा, अयरपि(बि)चत्ता तह ट्ठवीसहिया ।
सयचउरो उवरिं पण, ति छ चउ सत्तंसया पुण्णा ।।७९।।

[व्याख्या] तिस्रोऽपि गाथा सुगमा। नवरमत्र गाथोक्ताङ्कानामनयने करणमिदम्। वेदनीयस्य प्रथमगृहे सातसत्कसागरकोटीकोटीपञ्चदशकस्य, द्वितीयगृहे असातसत्कत्रिंशत्कोटीकोटेरुभयत्रापि कोटीकोटीसप्तत्या भागे, भागालाभाच्च समशून्यापगमे प्रथमगृहे च राशिद्वयेऽपि पञ्चभिरपवर्तने कृते लब्धं सागरस्य चतुर्दशांशकत्रयम्। द्वितीये त्वपवर्तनाभावेऽपि सप्तांशकत्रयम्। तदेव च पृथक् पृथक् पञ्चविंशत्यादिभिः चतुर्भिर्गुणकारैर्गुणितं यथोक्तमङ्कमानं भवतीति।।७७।।७८।।७९।।

अथ मोहनीये-

[मूल] सत्तंसो किंचूणो, मोहे एगिंदि बंधठिई हुस्सा ।
गुरु अयरं संपुन्नं, विगलमणे अयर तिग सत्त ।।८०।।

चउदस बायालसयं, अंसा चउ इग दु छच्च ऊण लहू ।
पुन्नं पर्णिवीस पन्ना, सयं सहस्सं च अयर गुरू ।।८१।।

[व्याख्या] सुगमे। नवरमत्रापि प्रथमगृहे हास्यरत्यादिसत्कसागरकोटीकोटीदशकस्य, द्वितीयगृहे मिथ्यात्व-सत्ककोटीकोटीसप्ततेरुभयत्रापि कोटीकोटीसप्तत्या भागे, भागाभावाच्च समशून्यापगमे कृते लब्धं प्रथमगृहे सप्तांशक एको द्वितीयगृहे सप्तमांशाः सप्त। ततस्तत्रैकेनोत्थापिते लब्धं सागरमेकं ततस्तद्वयमपि पृथक् पृथक् पञ्चविंशत्यादिश्चतुर्भिर्गुणितं यथोक्तमेकमानं स्यादिति।।८०।।८१।।

अथ बहुवक्तव्यत्वादायुषः तदतिक्रम्य नामगोत्रे आह। तत्रापि गाथात्रयेण नामकर्मउच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्राणां लघुस्थितिम्, चतुर्थगाथया तु नामगोत्रकर्मणोर्द्वयोरपि समुदितयोर्गुरुस्थितिं च प्रतिपादयितुमाह-

[मूल] नामे इगि सत्तंसं, विगलमण अयर तिसत्त चउदसगं ।
बायालसयं उवरिं, चउइग दु छ अंस ऊन लहू ।।८२।।[१]

[व्याख्या] इह गाथात्रयेऽपि **इगीति** शब्देन एकेन्द्रियाः पञ्चेति ज्ञातव्यम्।।८२।।

[मूल] भूदवणा सत्तंसं, उच्चे विगलमण अयरतिगसत्त ।

---

१ केवलं मूले भिन्नानि गाथाक्षराणि दृश्यन्ते । तद्यथा -
नामे सत्तं सेगं पंचवि एगिंदि गोयकम्मेसु । भूदगतरवो इक्कं सिहितरवो दुन्नि सत्तंसे ।।८२।।

चउदस बायालसयं, लहु चउ इग दु छ य ऊणंसा ।।८३।।[१]

[व्याख्या] अत्र तेजोवायुद्विकं नाभाणि। तयोरुच्चैर्गोत्रस्य बन्धाभावात्।।८३।।

[मूल] तीइगि सत्तंसदुगं, विगलमणा अयरसत्त चउदसगं ।
अडवीस दुसय पणसी, इग दु चउपणं सऊणलहू ।।८४।।[२]

गुरु नामि गोइ इगि दो, सगंस विगलमण अयर सग चउद ।
अडवीस सपणसीया दुसई पुन्नं सइग दु चउ पंच ।। ८५।।[३]

[व्याख्या] गीतिः।।८४।।८५।।

इत्येवं सप्तस्वपि कर्मस्वेकेन्द्रियविकलासञ्ज्ञिनां द्विधापि बन्धस्थितिरुक्ता। सम्प्रति नरसञ्ज्ञितिर्यङ्नारकसुराणां द्विधापि तामाह–

[मूल] नरि घाइसुं अंतमुहू, मुहुत्त अड नामगोय बारेगे ।
अयरंतकोडिकोडी, सत्तसु लहु तिरियनिरयसुरे ।।८६।।

[व्याख्या] नरि त्ति। मनुष्यगृहे घातिषु ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहान्तरायरूपेषु चतुष्षु कर्मसु जघन्यबन्धोऽन्तर्मुहूर्तम्। तथा मुहूर्ता अष्टौ नामगोत्रे च। तथा– **बारेग त्ति**। षण्णां भणितत्वाद् आयुषश्च भणिष्यमाणत्वाद् उच्चरितन्यायादेकस्मिन्वे(न्नपि, वे)दनीयकर्मणि द्वादशमुहूर्ता लघु बन्धस्थितिरिति सम्बन्धः। तथा– **अयरंत इत्यादि**। अतराणामन्तःकोटा(टी)कोटी एकैका सप्तसु कर्मसु प्रत्येकं लघुबन्धः। सञ्ज्ञितिर्यग्गृहे, नारकगृहे, सुरगृहे चेति।। ८६।।

तथा–

[मूल] गुरु अयरकोडिकोडी सयरी, मोहंमि नामगोएसु ।
वीसं तीसं चउसुं, सन्नी तिरिमणुनिरसुराणं ।।८७।।

[व्याख्या] सुगमा।। ८७।।

अथायुषोर्बन्धस्थितिद्वयं बिभणिषुरादौ तावत्तस्य नवभङ्गिकामाह–

[मूल] लहु मज्झ गुरु अबाहा, आउ त्ति बंधेहिं हुंति नवभंगा ।
पढम चउ पंचमट्ठम, नवमे मुणे[४] **सयं चउरो ते ।।८८।।**[५]

[व्याख्या] अत्र सूचकत्वात् सूत्रस्येति पदाध्याहारः। ततोऽयमर्थः– लघुमध्यगुरुरूपस्याबाधात्रयस्य प्रत्येकं लघुमध्यगुरुरूपैरायुर्बन्धैस्त्रिभिः सह सम्बन्धात् नवभङ्गा भवन्ति। ते चेह न सामान्येन पदद्वयमीलनमात्रेणैव

---

१ केवलं मूले भिन्नानि गाथाक्षराणि दृश्यन्ते । तद्यथा –
ऊण लहुगुरू पंचवि कम्मदुगे पुन्नदुन्नि सत्तंसे । विगलमणा कम्मदुगे अयरतिगं सत्त चउदसगं ।।८३।।

२ केवलं मूले भिन्नानि गाथाक्षराणि दृश्यन्ते । तद्यथा –
बायालसयं उवरिं, चउरो एग दुग छच्च सत्तंसा । किंचूण लहू अह गुरू अयरा सत्तेव चउदस य ।।८४।।

३ केवलं मूले भिलाति गाथाक्षराणि दृश्यन्ते । तद्यथा –
अट्ठावीसं तत्तो, पणसीसं जुत्तया सया दुन्नी । सत्तंसा एगदुगं, चउरो पंचेव से पुन्ना ।।८५।।

४ मूले यद्यपि 'भणिहं' पाठो दृश्यते, परन्तु व्याख्याकारस्य 'मुणे' पाठ एव अभीष्टः द्रष्टव्या गाथा – ९४ ।

५ मूले भिन्नानि गाथाक्षराणि दृश्यन्ते । तद्यथा–
लहु मज्झ गुरू अबाहा आउत्तिबंधेहिं हुंति नवभंगा । पढमंतिमे भणिस्सं, सुणिज्ज सयमेव सत्तत्ते ।।८८।।

भणितव्या, किं त्वबाधाकालोदयकालोभयात्मकत्वविशेषिता एव। तद्यथा- जघन्या अबाधान्तर्मुहूर्तात्मिका जघन्यश्चायुर्बन्धो लघ्वबाधान्तर्मुहूर्तसहितपारभविकलघ्वन्तर्मुहूर्तमानायुर्बन्धरूपः।

जघन्याबाधा अन्तर्मुहूर्तात्मिका[१] आयुर्बन्धस्तु उत्कृष्टो लघ्वबाधासहितस्त्रयस्त्रिंशदतररूपः।

मध्यमा अबाधा अनियतमाना आयुर्बन्धस्तु (ज)घन्यो अनियता(त)अबाधासहितपारभविकान्तर्मुहूर्त-मानायुर्बन्धरूपः।

मध्यमा अबाधा अनियतरूपा आयुर्बन्धोऽपि मध्यमो अनियताबाधसहित अनियतायुर्बन्धरूपः।

मध्यमा अबाधा अनियतरूपा आयुर्बन्धस्तु उत्कृष्टो मध्यमाबाधासहितत्रयस्त्रिंशदतररूपाः(पः)।

उत्कृष्टाबाधा पूर्वकोटित्रिभागरूपा आयुर्बन्धस्तु जघन्यः पूर्वकोटित्रिभागसहितः पारभविकान्तर्मुहूर्तमा-नायुर्बन्धरूपः।

उत्कृष्टाबाधा पूर्वकोटित्रिभागरूपा आयुर्बन्धस्तु मध्यमः पूर्वकोटित्रिभागसहित अनियतायुर्बन्धरूपः।

उत्कृष्टाबाधा पूर्वकोटित्रिभागरूपा आयुर्बन्धोऽप्युत्कृष्टः पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशदतररूपः।

अत्र च येन कारणेनैते भङ्गका एवं वैषम्येन व्याख्यातास्तत्कारणमत्रैवाग्रे भङ्गकनवकोदाहरणानन्तरं स्वयमेव व्यक्तीकरिष्यते।

नन्वबाधाकालोदयकालयोः कः प्रतिविशेषः? **उच्यते-** इह वर्तमानभवस्य त्रिभागनवमभा(गा)दौ यावदन्तिमान्तर्मुहूर्ते वा सर्वेऽपि प्राणिनः परभवायुर्बध्नन्तीति स्थितिः। परं न तदायुर्बन्धानन्तरं तत्क्षणमेव उदेति, किं त्विह भवादूर्ध्वं परभवाद्यसमय एव समुदेति। ततश्चेहत्यायुर्बन्धस्य पारभविकायुरुदयस्य च यो यो व्यवधानकालो जघन्यतो अन्तर्मुहूर्तमात्र उत्कृष्टतस्तु पूर्वकोटित्रिभागरूपः स सर्वोऽपि अबाधाकालोऽभिधीयते। उदयकालः पुनस्तस्मिन्नेव पूर्वभवबद्धे परभवायुंषि अनुभूयमाने जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमात्र उत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशदतररूप इति महान् विशेषस्तयोरिति।

ननु अंत्तमुहुत्तमबाहा सव्वासिं सव्वहिं डहरबंधे। ( ) इति वचनाद् अत्र नवभङ्गिकायां यका द्वितीयतृतीयभङ्गयोर्जघन्या अबाधा मध्यमोत्कृष्टायुर्बन्धयोर्या च चतुर्थभङ्गे मध्यमाबाधा जघन्यायुषि य(या)पि च सप्तमे भङ्गे उत्कृष्टाबाधा जघन्यायुषि सा न युज्यत इति चेत्, **सत्यम्,** एतदबाधालक्षणं आयुषोऽन्यत्र ज्ञेयम्। यत उक्तं सार्द्धशतकवृत्तौ-

आयुषस्तु चतुर्भिर्भङ्गकैरबाधेति। तद्यथा- ज्येष्ठे ज्येष्ठा, ज्येष्ठे जघन्या, जघन्यो(न्ये) ज्येष्ठा, जघन्ये जघन्या अबाधेति। ( )

गाथोत्तरार्द्धं तु व्यक्तमेव।।८८।।

अथ प्रथमभङ्गोदाहरणमाह-

[मूल] पुढवाइ एक्कारस, बंधहिं लहु परभवाऊ अंतमुहू ।
पुव्वभव लहु अबाहा, अंतमुहुत्तं पि इह मज्झे ।।८९।।

[व्याख्या] पृथिव्यादयो मनुष्यपर्यन्ता एकादशापि परभवायुर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं बध्नन्तीति सम्बन्धः। **ननु** जघन्याऽन्तर्मुहूर्तात्मिका अबाधा आयुर्बन्धोऽपि जघन्योऽन्तर्मुहूर्तरूप एतद्वितयरूपस्य जघन्यान्तर्मुहूर्तद्वयात्मकस्य

---

१ अत्रायं पाठः सम्भाव्यः - आयुर्बन्धोऽपि मध्यमो लघ्वबाधासहित अनियतायुर्बन्धरूपः । जघन्याबाधान्तर्मुहूर्तात्मिका...

प्रथमभङ्गस्य प्रस्तुतत्वात् कथमेकमेवान्तर्मुहूर्तमुक्तम्?, **उच्यते, पुव्वभवेत्यादि**। पूर्वभवसम्बन्धिनी या लघ्वी अबाधा तस्याः सम्बन्धि यज्जघन्यमन्तर्मुहूर्तं तदप्यस्य मध्ये अस्त्येव। परमन्तर्मुहूर्तानामसङ्ख्येयभेदत्वात् जघन्याभ्याम् अबाधापरभवायुरन्तर्मुहूर्ताभ्यां द्वाभ्यामप्येकमेवान्तर्मुहूर्तं विवक्षितमिति भावः।।८९।।

अथवा [पञ्च]चमाष्टमनवमभङ्गान् बिभणिषुः प्रथमं तावत् पृथिव्यादीनामुत्कृष्टान् परभवायुर्बन्धान् पृथिव्यादिसम्बन्धिवक्ष्यमाणस्वरूपाबाधासूचां चाह–

[मूल] इगविगल पुव्वकोडिं, पराउ अमणो असंखपल्लंसं ।
तिरिनरतेतीसयरे, बंधहिं एसिं अबाह इमा ।।९०।।[१]

[व्याख्या] अत्र तावत् त्वमेतान् पृथिव्याद्युत्कृष्टपरभवायुर्बन्धान् तथा पृथिव्यादिसम्बन्ध्यबाधाश्चेमा वक्ष्यमाणस्वरूपा पृथक् पृथग् जानीहि इति सम्बन्धः।।९०।।

ताश्चैताः–

[मूल] सतिभागसत्तसहसा, वासाणं दुन्नि सहस सतिभागा ।
दिणमेग वाससहसो, सतिभागा तिन्नि समसहसा ।।९१।।
वासचउक्कं सोलस, सतिभागदिणा तहेव मासदुगं ।
पुव्वकोडितिभागो, दुहतिरि मा(म)णुए सस अबाहा[२] ।।९२।।

[व्याख्या] ।। ९१।। ९२।।

एवमेताः पृथिव्यादीनां यथास्वं निजनिजपूर्वभवत्रिभागरूपा अबाधा प्रदर्श्य विवक्षितभङ्गकानां योजनामाह–

[मूल] एयाण उ अबाहाण, जोगिभंगा भवंति तिन्नेए ।
अट्ठसु गिहेसु पंचसु, नवमिट्ठसु गिहिदुगे नवमो ।।९३।।[३]

[व्याख्या] एतेषां पूर्वगाथात्रयोक्तायुर्बन्धाबाधानां यथास्वं योगे सति पृथिव्यादीनां गृहाष्टके भङ्गकनवक–मध्यात् मध्यमाबाधा मध्यमायुर्बन्धरूपः पञ्चमो भङ्गः, नवमगृहे च उत्कृष्टाबाधा मध्यमायुर्बन्धरूपोऽष्टमो भङ्गः, दशमैकादशगृहयोस्तु उत्कृष्टाबाधा उत्कृष्टायुर्बन्धरूपो नवमश्च भङ्गकः स्यादिति।

अथायमेवार्थः सव्यक्ततरः पुनः प्रदर्श्यते। पृथिवीकायिकाः सत्रिभागवर्षसहस्रसप्ताधिकां पूर्वकोटिमुत्कृष्टं परभवायुर्बध्नन्तीति। एवमप्कायिकाः सत्रिभागवर्षसहस्रद्वयाधिकां पूर्वकोटिम्, तेजसोऽहोरात्राधिकां पूर्वकोटिम्, वायवो वर्षसहस्राधिकां पूर्वकोटिम्, तरवः सत्रिभागवर्षसहस्रत्रयाधिकां पूर्वकोटिम्, तरवः सत्रिभागवर्ष–सहस्रत्रयाधिकां पूर्वकोटिम्, द्वीन्द्रिया वर्षचतुष्टयाधिकां पूर्वकोटिम्, त्रीन्द्रियाः सत्रिभागदिनषोडशाधिकां पूर्वकोटिम्, चतुरिन्द्रिया मासद्वयाधिकां पूर्वकोटिम्, असञ्ज्ञितिर्यञ्चः पूर्वकोटित्रिभागाधिकं पल्योपमासङ्ख्येयभागम्, सञ्ज्ञितिर्यञ्चो मनुष्याश्च पूर्वकोटित्रिभागाधिकानि त्रयस्त्रिंशसागराण्युत्कृष्टं परभवायुर्बध्नन्तीति सण्टङ्कः।।९३।।

---

१ मूले भिन्नानि गाथाक्षराणि दृश्यन्ते । तद्यथा –
इगविगल पुव्वकोडिं, पराउ अमणो असंखपल्लंसं । तिरिनरतेतीसयरे, सव्वेसुवरिं गुरु अबाहा ।।९०।।

२ दुहतिरि मणुए गुरु अबाहा । इति मूले ।

३ एषा गाथा मूले न दृश्यते ।

अथ नारकदेवयोर्मध्यमाबाधा जघन्यायुर्बन्धरूपं चतुर्थं भङ्गं मध्यमाबाधा मध्यमायुर्बन्धरूपं पञ्चमं च भाग(भङ्ग)माह–

[मूल] नारयसुरा जहन्नं, परभव आउं करिंति अंतमुहू ।
गुरुयं पि पुव्वकोडिं, दुविहे वि अबाह छम्मासा ।।९४।।

[व्याख्या] सुगमा। केचित् पुनर्देवनारकयोः परभवायुर्बन्धे अबाधामन्तर्मुहूर्तरूपामपीच्छन्ति इति तेषां मते देवनारकाणां प्रथमोऽपि भङ्गः स्यादिति उदाहृताः प्रथमचतुर्थपञ्चमाष्टमनव(म)भङ्गकाः। अथ यदुक्तं– **मुणे सयं चउरो ते। इति**। (गा.८८) इमे क्षुल्लकभवग्रहणी(णे) अनियतं परभवायुर्बध्नन्ति द्वितीयो भङ्गः। अन्तर्मुहूर्ता–युस्तन्दुलमत्स्यस्त्रयस्त्रिंशदतराणि बध्नातीति तृतीयः। मध्यमायुस्तिर्यङ्मनुष्यो वा त्रयस्त्रिंशदतराणि बध्नातीति षष्ठः। पूर्वकोटित्रिभागुशेषायुः तिर्यङ्मनुष्यो वा जघन्यमन्तर्मुहूर्तं बध्नातीति सप्तमः।।९४।।

अथायुर्बन्धगतमेव किञ्चिद्विशेषमाह–

[मूल] आउसि जइवीय पायं, सुव्वइ पडिवयणमुदयमित्तेणं ।
तहवि य पन्नवणाए, अबाहउदएहिंतो इह वि ।।९५।।

[व्याख्या] ननु आयुषि कियती परभवबन्धस्थितिरिति प्रश्ने परभवगतानां य एव आयुःकर्मदलिकान् भवनकालस्तेनैवैकेनाबाधारहितेन प्रायेण स्थानस्थानेषु प्रतिवचनं श्रूयते। तद्यथा– पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पति–द्वित्रिचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञिसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्या सर्वेऽपि परभवायुर्जघन्यमन्तर्मुहूर्तं बध्नन्ति, उत्कृष्टं तु क्रमेण पृथिव्यादयो अष्टौ पूर्वकोटिम्, असञ्ज्ञितिर्यञ्चस्तु तिर्यङ्मनुष्यनारकदेवायुषां पल्यासङ्ख्येयभागम्, सञ्ज्ञितिर्यञ्चो मनुष्याश्च तिर्यङ्मनुष्येषु पल्यत्रयम्, नारकदेवेषु पुनर्जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि उत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागराणीति, नारकदेवाः तिर्यङ्मनुष्येषु जघन्यतो अन्तर्मुहूर्तम् उत्कृष्टं तु पूर्वकोटिम्। एते च नारकदेवेषु स्वभावादेव नोत्पद्यन्त इति तदायुषी न बध्नन्ति इति। तदेवम् इयतापि यदि साध्यसिद्धिः तत्कथमत्र पृथिव्यादीनां देवान्तानाम–बाधाकालोदय कालद्वयात्मक एव परभवायुस्थितिबन्धः प्रादर्शि ? **सत्यमेतत्**, परं प्रज्ञापनायां सर्वोऽपि परभवायुस्थितिबन्धाबाधोदयकालद्वयात्मक एवाभ्यधायि तत इहापि प्रकरणे तथैवासौ प्रत्यपादीति। तथा च प्रज्ञापनात्रयोविंशतिपदद्वितीयोद्देशके कर्माष्टकस्यापि जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धप्रतिपादि(द)काः ओघ–एक–द्वि–त्रि–चतुरिन्द्रियासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिय–सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्रिताः सप्त दण्डकाः सन्ति। तत्र इह प्रस्तुते एकस्यैवायुःकर्मणो दण्डकसप्तकाश्रिते जघन्योत्कृष्टस्थिती प्रदर्श्येते। तत्रौघदण्डके–

नेरइयाउयस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिइ पन्नत्ता? गो[यमा]! जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं। उक्कोसेणं तेतीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडितिभागमब्भहियाइं।

तिरिक्खजोणियाउयस्स पुच्छा गो[यमा]! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडितिभागमब्भहियाइं।

एवं मणुस्साउयस्स वि। देवाउयस्स जहा नेरइयाउयस्स ठिइ। (प्रज्ञापना पद २३.२, सू.१७०१) इत्यादि।

एकेन्द्रियदण्डके–

तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिं सत्तहिं वाससहस्सेहिं वाससहस्सतिभागेण य अहियं बंधंति। एवं मणुयाऊयस्स वि। (प्रज्ञापना पद २३.२, सू.१७१०)

द्वीन्द्रीयदण्डके।

तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिं चउहिं वासेहिं अहियं बंधंति। एवं मणुयाउयस्स वि। (प्रज्ञापना पद २३.२, सू.१७१९)

तेइंदियदंडके (त्रीन्द्रियदण्डके)।

तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिसोलसहिं राइंदिएहिं रातिंदितिभागेण य अहियं बंधंति। एवं मणुस्साउयस्स वि। (प्रज्ञापना पद २३.२, सू.१७२३)

चउरिंदियदंडके (चतुरिन्द्रियदण्डके)।

तिरिक्खजोणियाउयस्स कम्मस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिं दोहिं मासेहिं अहियं। एवं मणुस्साउयस्स वि। (प्रज्ञापना पद २३.२, सू.१७२६)

असङ्ज्ञिपञ्चेदि(द्रि)यदण्डके–

नेरयाउयस्स जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तं अब्भियाइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडितिभागहियं बंधंति। एवं तिरिक्खजोणियाउयस्स वि। नवरं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं। एवं मणुयाउयस्स वि। देवाउयस्स जहा नेरइयाउयस्स। (प्रज्ञापना पद २३.२, सू.१७३०)

सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियदण्डके।

चउण्ह वि आउयाणं जा ओहिया ट्ठिइ भणिया तं बंधंति। (प्रज्ञापना पद २३.२, सू.१७३८)

सा च ओघस्थितिरेवम्–

नेरइयाउयस्स णं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडित्तिब्भागमब्भहियाइं।

तिरिक्खजोणियाइं तिरिक्खजोणियाउयस्स पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्निपलितोवमाइं पुव्वकोडित्तिब्भागमब्भहियाइं।

एवं मणुयाउयस्स वि देवाउयाउयस्स नेरइयाउयस्स ठिई। (प्रज्ञापना पद २३.२, सू.१७०१)

इत्येवं दण्डकसप्तकेऽपि आयुर्बन्धोऽबाधोदयकालद्वयात्मकः एवोक्तः।।९५।।

इत्येवं प्रज्ञापनानुसारेण पूर्वभवसम्बन्धिनं अबाधाकालं भविष्यद्भवसम्बन्धिनं आयुरुदयकालं च सम्पिण्ड्य तत एतद्द्वयात्मकः परभवायुर्बन्ध उक्तः। अथ मुग्धमत्यपेक्षया अपरशास्त्रानुसारेण अबाधां विमुच्य केवलमेवागामिभवसत्कम् आयुःपुद्गलानुभवरूपम् उदयकालमाशृ(श्रि)त्य त्रयोदशस्वपि पदेषु जघन्यमुत्कृष्टं चायुर्बन्धं गाथाद्वयेनाह–

[मूल] अह उदयमित्तविक्खं, भन्नय अंतमुह कुणहि तेरा वि ।
लहु परभवाओ अह गुरु, इगविगला पुव्वकोडिं तु ।।९६।।
पल्लस्स [उ] असंखं, असन्नितिरियाउ सन्नितिरिमणुया ।
तेतिसयरे निरसुर, पुव्वकोडिं तु बंधंति ।।९७।।

[व्याख्या] गाथाद्वयमपि व्यक्तम्। नवरं **तेरा वि त्ति**। त्रयोदशविधा अपि पृथ्वीजलादिजन्तवः ।।९६।।९७।।

[मूल] इय कम्मसु बंधट्ठिती, वुत्ता तिविहं भणामि अहुणा ऊ ।
ठीबंधाबाहोदय, विसयकालप्पमाणं तु ।।९८।।

[व्याख्या] इय त्ति। इत्येवमष्टानामपि कर्मणां स्थितिबन्धस्तावत् पूर्वोक्तप्रकारेण द्विधापि प्रदर्शितः। अधुना स्थितिविषयमबाधाविषयमुदयविषयं च त्रिविधमपि कालप्रमाणं भणामीति सम्बन्धः।।९८।।

तच्चेदम्-

[मूल] ठिइबंधु अबाहुदया, दुन्नि वि बंधोदयंतरमबाहा ।
उदओ अबाहु उवरिं, कम्मणु पुग्गलरसाणुभवो ।।९९।।

[व्याख्या] इह सूचामात्रकारित्वात् सूत्रस्य यथायुक्तपदाध्याहारेण क्रियाकारकसम्बन्धं कृत्वा गाथार्थः प्रतन्यते। अबाधाकालोदयकालौ द्वावपि समुदितौ स्थितिबन्धकालः। तथा कर्मणां बन्धकालादुत्तरं उदयकालाच्च पूर्वं यदन्तरं स अबाधाकालः। तथा अबाधाकालादुपरि यः कार्मणपुद्गलानां तद्रसस्य चानुभवनाद्वा स उदयकाल इति गाथा सङ्क्षेपार्थः। व्यासः पुनरयं- स्थितिबन्धकालो जघन्यस्तावदायुषि क्षुल्लकभवग्रहणम्, घातिचतुष्टये अन्तर्मुहूर्तः, नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्तम्, सकषायवेदनीयस्य द्वादशमुहूर्ता इति। अयमेव च यथास्वं समयोत्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानस्तावद् वर्द्धते यावदायुषि पूर्वकोटित्रिभागाधिकानि त्रयस्त्रिंशतराणि। तथा सागरकोटीकोटीनां विंशतिर्नामगोत्रयोः, त्रिंशत् ज्ञानावरणदर्शनावरणवेद्यविघ्नेषु, सप्ततिर्मोहनीये। इत्येवंरूप अबाधाकालोदयकाल-द्वयात्मक उत्कृष्टस्थितिबन्धकालो भवतीति अबाधाकालः।

इह निजनिजहेतुभिः कर्मणां यथास्वं जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितिबद्धानां च बन्धानन्तरमेव उदयो न भवति। किन्तु कियतापि व्यवधानेन, यच्च व्यवधानं सोऽबाधाकालः। स च जघन्यः सर्वेषामपि कर्मणां जघन्यायां स्थितौऽन्तर्मुहूर्तरूपो। यदाह-

अंतमुहुत्तमबाहा, सव्वासिं सव्वहिं डहरबंधे इति। ()

ततः स एव समयोत्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानस्तावद्वर्द्धते यावदायुषि पूर्वकोटित्रिभागरूपः। नामगोत्रयोर्द्वे वर्षसहस्रे। ज्ञानदर्शनावरणवेद्यविघ्नेषु त्रीणि वर्षसहस्राणि। मोहनीये सप्तवर्षसहस्राणि उत्कृष्टोऽबाधाकाल इति।

अथोदयकालः। तत्र कर्माष्टकस्य यथास्वं जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितिभिर्बद्धस्य सम्बन्धी योऽबाधाकालो-दयकालद्वयात्मकस्थितिबन्धकालः। स एव यथास्वम् अबाधाकालेनोनीकृतो निजनिजकर्मदलिकतद्रसानुभवन-विशेषित उदयकालोऽभिधीयते। स च-

मुत्तुमकसाय हुस्सेत्यादि (सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-६५) गाथोक्तो यथास्वं लघीयसा अबाधान्तर्मुहूर्तेनोनो जघन्यः। ततः सोऽपि यथास्वमष्टस्वपि प्रकृतिषु समयोत्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानस्तावद्वर्द्धते यावदायुषि सर्वाबाधारहितः आयुःकर्मदलिकतद्रसानुभवनरूपसम्पूर्णः त्रयस्त्रिंशदतरात्मक उत्कृष्ट उदयकालो भवतीति। एवं नामगोत्रयोर्वर्ष-सहस्रद्वयरूपाबाधोनो विंशतिविंशतिसागरकोटीकोटीरूपः। तथा ज्ञानदर्शनावरणवेद्यविघ्नेषु वर्षसहस्रत्रयात्मक अबाधोनस्त्रिंशदतरकोटीकोटीरूपः। तथा मोहे वर्षसहस्रसप्तकस्वरूपाबाधोनः सप्तप्त्यतरकोटीकोटीरूप इति गाथार्थः।।९९।।

अथोत्तरप्रकृतिबन्धसङ्ख्याद्वारम्-

[मूल] पण नव दुग छव्वीसा, चउरो सत्तट्ठि दुन्नि पंचेव ।
उत्तरपयडीणेवं, वीससयं बंधमासज्ज ।।१००।।

[व्याख्या] कण्ठ्या। नवरं सम्यक्त्वमिश्रयोर्बन्धाभावान्मोहे षड्विंशतिः। तथा पिण्डप्रकृत्युत्तरभेदैकोनचत्वारिंशतः प्रकृत्यष्टकस्य त्रसादिविंशतेश्च मीलने नामकर्मणि सप्तषष्टिः।।१००।।

इह पृथिव्यादीनामुत्तरप्रकृतिबन्धसङ्ख्याद्वारे भण्यमाने स्थाने स्थाने मिथ्यात्वान्तेन प्रकृतिषोडशकेन सास्वादनान्तेन च प्रकृतिपञ्चविंशतिकेन प्रयोजनं भावीति। ततः प्रथमत एव प्रकृतीनां षोडशकस्य पञ्चविंशतेश्चैकैकगाथया सङ्ग्रहमाह–

[मूल] मिच्छं नपुनिरयतिगं, हुंडं छेवट्ठ थावरचउक्कं ।
इगिविगलतिगं आयवमिइ पयडी सोल मिच्छंता ।।१०१।।

[व्याख्या] कण्ठ्या। नवरं **निरयतिगं ति।** नरकगतिनरकानुपूर्वीनारकायूरूपम्। **थावरचउक्कं ति।** स्थावरसूक्ष्म–अपर्याप्त–साधारणरूपम्। **मिच्छंत त्ति।** मिथ्ये = मिथ्यात्वे अन्तो यासां ता मिथ्यात्वान्ताः।।१०१।।

[मूल] थीणतिगित्थीतिरितिग, अण नी कुखगइ उजोय दुभगतिगं ।
मज्झिमसंघयणागिइ, चउ चउ पणवीस साणंता ।।१०२।।

[व्याख्या] सुगमा। नवरं **थीणतिगं ति।** निद्रानिद्रा–प्रचलाप्रचला–स्त्यानर्द्धिरूपम्। **तिरतिगं** च तिर्यग्गति–तिर्यगानुपूर्वी–तिर्यगायूरूपम्। **दुभगतिगं ति।** दुर्भग–दुस्वरानादेयरूपम्। **मज्झीत्यादि।** प्रथमषष्ठवर्जानि द्वितीय–तृतीय–चतुर्थ–पञ्चमानि संहननानि मध्यमानि चत्वारि। **आगिइ त्ति।** आकृतयोऽपि संस्थानापरपर्याया मध्यमाश्चतस्रः। इत्येवं पञ्चविंशतिः प्रकृतयः **साणंत त्ति।** सास्वादनगुणस्थानेऽन्तो यासां तास्तथा। अयमभिप्रायः–सास्वादनगुणस्थाने विरमति सति एताः पञ्चविंशतिप्रकृतयो बन्धमासृ(श्रि)त्य व्यवच्छिद्यन्त इति।। १०२।।

तथेह सूत्रादौ सप्तमगाथायाम्– **उत्तरपयडि तह दुहा, हेऊ य कसाय पइगुणं चउरो।** ***(मनःस्थिरीकरणम्–७)***

इत्यनेनोत्तरप्रकृतयो मूलहेतवः उत्तरहेतवः कषायाश्चेति चत्वार्यपि स्थानानि निजनिजद्वारेषु पृथिव्यादिगृहत्रयोदशके यथासम्भविषु गुणेषु यथा भूदगतरूणां सूत्राभिप्रायेण[१] गुणद्वये, तेजोवाद्यो(य्वो)र्मतद्वयेऽपि मिथ्यात्वे, विकलासञ्ज्ञितिरश्चां गुणद्वये, सञ्ज्ञितिरश्चां गुणपञ्चके, नराणां गुणचतुर्दशके, नारकदेवानां गुणचतुष्टये प्रत्येकं वक्तव्यानीति कृत्वा प्रथम(मं) भूदकतरूणां सूत्राभिप्रायेण मिथ्यात्वे, कर्मग्रन्थाभिप्रायेण गुणद्वये चोत्तरप्रकृतिबन्धसङ्ख्यामाह–

[मूल] निरयसुराउविउव्वियछक्काहारदुगतित्थ मुत्तूण ।
बंधहिं नवअहियसयं, भूदवणा उत्तरा पयडी ।।१०३।।
कम्मा भूदगतरूसुं, साणे चउणवइ सा तिरिनराऊ ।
नरयतिगूणा मिच्छंतसोल मुत्तुं नवसयाओ ।।१०४।।

[व्याख्या] द्वे अपि सुगमे। नवरं मिथ्यात्वे मतद्वयेऽपि नवाधिकं शतम्।।१०४।।

अथ तेजोवायूनां द्वीन्द्रियादिदेवान्तसर्वपदानां च गाथापञ्चदशकेन प्रकृतिबन्धसङ्ख्यामाह–

[मूल] गइतस अनरतिगुच्चं, पंचहियसयं तहा विगलमिच्छा ।
नवहियसयमह साणा, चउणवइं दो वि जह पुव्विं ।।१०५।।

---

१ मिथ्यात्वे कर्मग्रन्थाभिप्रायेण

[व्याख्या] इह द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः त्रसा अभिधीयन्ते। गतित्रसास्तु तेजोवायवः। तथाहि– त्रसनामकर्मोदयात् त्रस्यन्ति = उष्णाद्यभितप्ताः तस्मादुद्विजन्ते च्छायाद्यभिसर्पन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादयः। तेजोवायूनां तु स्थावरनामोदये चलनं स्वाभाविकमेव, न तूष्णाद्यभितापेन द्वीन्द्रियादीनामिव विशिष्टमिति, अतस्ते गत्या = चलनमात्रेण, न तु त्रसनामकर्मोदयेन त्रसाः गतित्रसाः। ते चात्र पूर्वोक्तमेव नवोत्तरं शतं नरत्रिकोच्चैर्गोत्ररहितं सत् पञ्चोत्तरम् उत्तरप्रकृतिशतं बध्नन्तीति सण्टङ्कः। तथा **तहा विगलेत्यादि** सुगमं च। नवरं **दोवि त्ति** नवोत्तरशतचतुर्नवतिरूपे द्वे अपि पदे यथा पूर्वमेकेन्द्रियेषूक्ते तथात्रापि वाच्ये इति।।१०५।।

तथा–

[मूल] तित्थाहारदुगुज्झिय, सतरसयं अमणमिच्छ अह साणा ।
मिच्छंतसोल सुरनरतिरियाउं मुत्तु अडनवइं ।।१०६।।
नणु साणगुणे आउगबंधे सत्थंतरे स किं नेह।
भन्नइ एए साणा, भवाइए नाउ बंधंसि ।।१०७।।

[व्याख्या] ननु

अणुबंधोदयमाउगबंधं कालं च सासणो कुणइ। उवसम्मदिट्ठी चउण्हमेक्कंपि नो कुणइ।।()

इत्यादिना शास्त्रान्तरेषु सास्वादनभावे आयुर्बन्धोऽभ्युपगतोऽपि किमित्यत्र **कम्माभूदेत्यादि** गाथात्रयेऽपि (१०४/१०५/१०६) सास्वादनवतां भूदगतरुविकलामनसामसौ निषिध्यत ? **इत्यत्रोच्यते,** एते एकेन्द्रिया विकलाः अमनसश्च पारभविकेनात्यन्ताल्पकालभाविना सास्वादनभावेन वर्तमानभवानामादिक्षणेष्वपर्याप्ता-वस्थायामेव **साण त्ति**। सास्वादनगुणोपेता **नाउ बंधंसि त्ति**। न पुनस्तेषां पर्याप्तावस्थायां आयुर्बन्धांशे = आयुर्बन्धविभागे, भवति भागादौ तत्सद्भाव इति। तस्माद्युक्त एव निषेधः। किञ्च, येयमेकेन्द्रियेषु सास्वादन-भावनिषेधयुक्तिः सा कर्मग्रन्थाभिप्रायेणैव। यत आगमे– **उभयाभावो पुढवाइएसु त्ति ( )** वचनात् सर्वथा-प्येकेन्द्रियेषु सास्वादनं निषिद्धमेव। यस्तु सास्वादनभावे आयुर्बन्धोऽभाणि स सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां भवत्रिभागादिके आयुर्बन्धकाले सास्वादनवतां सतां बोद्धव्य इति।।१०६।।१०७।।

तथा–

[मूल] तित्थाहारदुगविणा, सतरसयं सन्निणो तिरियमिच्छा ।
साणा एगहियसयं, मिच्छंता सोल मुत्तूणं ।।१०८।।
साणंतं पणवीसं, उसभोरलदुगसुराउ मणुयतिगं ।
मुत्तु गुणसयरि मीसा, ससुराउं सत्तरिं सम्मा ।।१०९।।

[व्याख्या] गाथे सुगमे।।१०८।।१०९।।

[मूल] बीयकसाए वज्जिय, छसट्ठि देसा तिरिव्व गुण पंच ।
मणुए वि नवरि तित्थं, अजए देसे य खिव अहियं[१] ।।११०।।

[व्याख्या] तिरिव्वेत्यादि। यथा तिरश्चां गुणपञ्चकमुक्तं मनुष्याणामपि तत्तथैव वक्तव्यम्। अयमभिप्रायः– यका यावन्त्यश्च तिरश्चां गुणपञ्चके प्रकृतय उक्ता मनुष्यगुणपञ्चकेऽपि ता एव तथैवावगन्तव्या इति। नवरम् अयते देशे च तीर्थकरनामकर्माधिकं क्षिप, ततो लब्धमिदम्– मनुष्याणामपि मिथ्यादृष्टिगुणे सप्तदशोत्तरं शतम्, सास्वादने

१ मूलेऽधिकः पाठः दृश्यते । नराणां मि ११७ सा १०१ मि ६९ अ ७१ दे ६७ ।

एकोत्तरं शतम्, मिश्रे एकोनसप्ततिः, अयते एकसप्ततिः, देशे सप्तषष्ठिरिति।।११०।।

[मूल] तइयकसाऊण तिसठि, छट्ठए सोगअरइअथिरदुगं ।
अजसअसाए हिच्चा, आहारदुगंमि खित्तम्मि ।।१११।।

[व्याख्या] स्पष्टा।।१११।।

[मूल] अपमत्तो जो सुराउं, पमत्त आरद्धयं तु जा पुरे ।
ताव गुणट्ठिं तदुवरि, अडवनमियरो य तामेव ।।११२।।

[व्याख्या] अप्रमत्तो हि मूलत एकमप्यायुर्नो बध्नाति। केवलं प्रमत्तावस्थायां बद्धुमारब्धं ततोऽप्रमत्तः सन् एकमेव सुरायुः स्वगुणस्थानकालस्य सङ्ख्येयभागेन समापयतीति स्थितिः। इति गाथार्थः । अप्रमत्तो यः प्रमत्तारब्धं सुरायुर्यावत्पूरयति तावदसावेकोनषष्ठिम्। **तदुवरि त्ति**। सुरायुर्बन्धसमाप्तेरनन्तरं अष्टपञ्चाशतं बध्नातीति। इतरस्तु योऽप्रमत्तः सर्वथाप्यायुरबन्धकः स तामेवैकामष्टपञ्चाशतं करोतीति।।११२।।

तथा–

[मूल] अपुव्वे सत्तंसा, एसेव डवन्न पढमभागंमि ।
बितिचउपणछट्ठेसुं, निद्दुगं मुत्तु छप्पण्णा ।।११३।।
सुरविउव्वाहारदुगा, जसूणतसदसगतित्थसुहखगई ।
अगुरुव्वग्घाउस्सास, परघाय पणिंदि नमिण समचउरं।।११४।।

[व्याख्या] गीतिरियम्।।११३।।११४।।

[मूल] वन्नचउ तेयकम्मि, त्तितीस मुत्तुं छव्वीस चरिमंसे ।

[व्याख्या] एतद् गुणस्थानमन्तर्मुहूर्तमानमपि कर्मस्तवटीकाभिप्रायेण सामान्येन सप्तभागान् कृत्वा व्याख्यानम्। तथेह यशःकीर्तेर्दशमगुणे व्यवच्छेदो भविष्यतीति कृत्वा तदूनं त्रसदशकमुक्तम्। शतकाभिप्रायेण तु सङ्ख्येयान् भागान् क्रियते। ततः प्रथमे सङ्ख्येये भागेऽष्टपञ्चाशतो बन्धस्तदनु सङ्ख्येयेषु सङ्ख्येयतमभागेषु पृथक् पृथक् षट्पञ्चाशतस्ततोऽपि चरिमे सङ्ख्येयभागे षड्विंशतेरिति। तथोत्तरार्द्धम्–

[मूल] भयकुच्छरइहासूण, बावीसा नवमपढमंसे ।।११५।।

तथा–

[मूल] अनर इगवीस बीए, तइए वीसा अकोड अह तुरिए ।
माणूणा गुणवीसा, मोऊणट्ठार पंचमए ।।११६।।

[व्याख्या] एतदपि गुणस्थानकम् अन्तर्मुहूर्तमानमपि कर्मस्तवटीकाकूतेन सामान्येन पञ्चभागान् कृत्वा व्याख्यातम्। शतकटीकाभिप्रायेण तु सङ्ख्येयान् भागान् एकेन चरमेण सङ्ख्येयभागेनोनान् यावद् विंशतेर्बन्धस्ततः सोऽपि चरमः सङ्ख्येयो भागः पुनः पञ्चभागीक्रियते, ततस्तेषु पञ्चसु भागेषु यथाक्रमं द्वाविंशत्यादीनामष्टादशान्तानां प्रकृतीनां बन्ध इति।।११६।।

तथा–

[मूल] लोभूण सतर सुहुमे, जसुच्चचउदंसविग्घनाणविणा ।
उवसंत खीणजोगा, सा एग अजोगि न हु बंधो ।।११७।।

[व्याख्या] सुगमा।।११७।।

तथा–

[मूल] विगलसुरसुहमनारयतिगाणि आहारदुगविउव्विदुगं ।
तत्थ इगि थावरायव, मुत्तूण सयं नरि य मिच्छा ।।११८।।
वेउव्वाहारदुगं, नारयसुहुमविगलतियगाणि ।
तित्थं च मुत्तु तिगहियसयमिह बंधंति मिच्छसुरा ।।११९।।

[व्याख्या] ननु नारकाणां सास्वादनादिन्यनभिधाय कथं देवानां मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकम् उच्यते? **सत्यम्,** एतेषां प्रथमगुण एव सङ्ख्याविशेषो न तु सास्वादनादित्रये। अतोऽसौ प्रथमं पृथक् पृथक् प्रादर्शीति ।।११८।।११९।।

[मूल] हुंछेनपुमिच्छ विणा, छन्नवई निरय[१] साण सुरसाणा ।
नपुमिच्छायवहुंछे, इगथावरऊण छन्नवई।।१२०।।
मीसा निरसुरसयरिं, नराउ साणंत पंचवीस विणा।
तित्थनराउगसहियं, पिगसयरिं सम्मनिरयसुरा।।१२१।।

[व्याख्या] स्पृ(स्प)ष्टाश्चतस्रोऽपि।।१२०।।१२१।।

अथ समुद्घातद्वारम्। ते च सप्तामी–

[मूल] वेयणकसायमरणा वेउव्वितेयहारकेवलिया ।
समुग्घाया नरि सत्त वि, भूदतरुविगलअमण आइतिगं ।।१२२।। गीतिः।।
सविउव्वं मरुनिरए, सतेयसमुग्घाय पंच तिरियसुरे ।
अडसमया केवलिए, असंखसमयंतमुह छसु वि ।। १२३।।[२]

[व्याख्या] अथ समुद्घात इति कः शब्दार्थः? उच्यते, समित्येकीभावे उत् = प्राबल्ये। एकीभावेन प्राबल्येन च घातः समुद्घातः। केन सह एकीभावगमनमिति चेद् ? उच्यते, अर्थाद्वेदनादिभिः। तथाहि– यदा आत्मा वेदनादिसमुद्घातगतो भवति तदा वेदनाद्यनुभवज्ञानपरिणत एव भवति, नान्यज्ञानपरिणतः।

प्राप(ब)ल्येन कथं घात इति चेद् ? उच्यते, इह वेदनीयादिसमुद्घातपरिणतो बहून् वेदनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभवयोग्यानुदीरणाकरणेनाकृष्य उदयावलिकायां प्रक्षिप्यानुभूय च निर्जरयति = आत्मप्रदेशैः सह संश्लिष्टान् शातयतीति भावः।

एते च समुद्घाताः सप्तापि क्रमेणाऽसद्वेद्यक्रोधादिकषायचारित्रमोहनीय–अन्तर्मुहूर्तशेषायुःकर्म–वैक्रियशरीर–नामकर्म–तेजस–शरीरनामकर्म–आहारकशरीरनामकर्मणाम्, सदसद्वेद्यशुभाशुभनामोच्चैनीचैर्गोत्रकर्मणां च परि–शातकारिणः।

तत्र वेदनासमुद्घातगत आत्माऽसद्वेद्यकर्मपुद्गलानाम्, तथा क्रोधादिकषायसमुद्घातगतः क्रोधादिक–षायचारित्र–मोहनीयपुद्गलानाम्, तथा मरणसमुद्घातगतोऽन्तर्मुहूर्तायुःशेषकर्मपुद्गलानां परिशातं करोति। तथाहि– वेदनार्तो जीवस्तथा कषायाकुलस्तथा मरणसमुद्घातगतश्च स्वप्रदेशाननन्तानन्तकर्मस्कन्धवेष्टितान् शरीराद्बहिर्विक्षिप्य

---

१ मूले 'निरय' शब्दो न दृश्यते।
२ टीकायाम् एषा गाथा न दृश्यते ।

वक्त्रोदरादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यपान्तरालानि चार्पूयाऽऽयामतो विस्तरतश्च शरीरमात्रं क्षेत्रमभिव्याप्यान्तर्मुहूर्तं यावदवतिष्ठते। तस्मिंश्चान्तर्मुहूर्ते यथास्वं प्रभूतासद्वेद्यकर्मपुद्गलानां कषायकर्मपुद्गलानामायुःकर्मपुद्गलानां च परिशातं करोति। एतत्सर्वं त्रिष्वपि समम्।

मरणसमुद्घाते त्वयं विशेषः- आयामतः स्वशरीरातिरेकं जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागम् उत्कर्षतोऽ-सङ्ख्ये-ययोजनान्येकदिशि क्षेत्रमभिव्याप्य वर्तत इति। वैक्रियसमुद्घातगतः पुनर्जीवप्रदेशान् शरीराद्बहिर्निका-(ष्का)श्य शरीरविष्कम्भबाहुल्यमानमायामतः सङ्ख्येययोजनप्रमाणं दण्डं निसृजति। निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रिय-शरीरनाम-कर्मपुद्गलान् प्राग्वच्छातयति। तथा चोक्तम्-

वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसरइ निसरित्ता अहाबायरे पोग्गले परिसाडेइ। (कल्पसूत्रम्-२६) इति।

एवमाहारकतैजससमुद्घातावपि भावनीयौ। तथाहि- आहारकसमुद्घातगतो जीवप्रदेशान् शरीराद्बहिर्निःष्काश्य शरीरविष्कम्भबाहल्यमानमायामतः सङ्ख्येययोजनप्रमाणं दण्डं निसृजति। निसृज्य च यथास्थूलानाहारकशरीरनाम-कर्मपुद्गलान् प्राग्वच्छातयति। तथा च(चो)क्तम्-

आहारगसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं दंडं निसरइ। ( )

[एवं तैजससमुद्घातेऽपि तथाहि- तैजससमुद्घातगतो जीवप्रदेशान् शरीराद्बहिर्निःकाश्य शरीरविष्कम्भ-बाहल्यमानमायामतः सङ्ख्येययोजनप्रमाणं दण्डं निसृजति[१]।] निसृज्य च यथास्थूलान् तैजसशरीर-नामकर्मपुद्गलान् प्राग्वत् शातयति। तथा चोक्तम्-

तेय(स)समुग्घाएणं समोहन्नइ समोहन्नित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं दंडं निसरइ निसरित्ता अहा बायरे पुग्गले परिसाडेइ इति। ( )

इह च समुद्घातत्रयो(यं) **यं(अं)तमुहु छसु वि। सविउव्वं ति।** आद्यमेव समुद्घातत्रयं वैक्रियसहितं पवननारकयोः। तथा पूर्वोक्ता एव चत्वारस्तैजससमुद्घातसहिताः पञ्च तिर्यक्सुरयोः।

अथ प्रसङ्गतः समुद्घातानां कालप्रमाणमाह- **अडेत्यादि**। अष्टौ समयाः केवलिसमुद्घाते। उक्तं च स्थाना-ङ्गाष्टमाध्ययने-

अट्ठसमईए केवलि समुग्घाए पं तं /पन्नत्ते तंजहा-/। पढमे समए दंडं करेइ, बितिए समए कवाडं करेइ, तइए समए मंथं करेइ, चउत्थे समए लोगंतं पूरेइ, पंच(मे) समए लोगं पडिसाहरेइ, छट्ठे समए मंथं पडिसाहरेइ, सत्तमे समए कवाडं पडिसाहरेइ, अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरेइ। (स्थानाङ्गम् अ.८, सू.६५२)

अट्ठे(डे)त्यादि। तत्र समुद्घातं प्रारभमाणः प्रथममेवावर्जीकरणमभ्येति आन्तर्मौहूर्तिकम् उदीरणावलिकायां कर्मप्रक्षेपव्यापाररूपमित्यर्थः। ततः समुद्घातं गच्छति। तत्र चाद्यसमये स्वदेहविष्कम्भमूर्ध्वमधश्चायतमुभयतोऽपि लोकान्तगामिनं जीवप्रदेशसङ्घातं दण्डमिव दण्डं केवली ज्ञानाभोगतः करोति[१]। द्वितीयसमये पूर्वापरं दक्षिणोत्तरं चात्मप्रदेशानां प्रसारणात्पार्श्वतो लोकान्तगामि कपाटमिव कपाटं करोतीति। तृतीये समये तदेव कपाटं दक्षिणोत्तरं पूर्वापरं वा दिग्द्वयप्रसारणात् मन्थिसदृशं मन्थानं लोकान्तप्रापिणमारचयति। एवं च प्रायो लोकस्य बहु पूरितं भवति मन्थान्तराणि चापूरितानि भवन्ति, अनुश्रेणिगमनाज्जीवप्रदेशानामिति। चतुर्थे तु समये मन्थान्तराण्यपि सकललोकनिष्कुटैः सह पूरयति। ततश्च सकललोकः पूरितो भवतीति। तदनन्तरमेव पञ्चमसमए(ये)

१ टीकायाम् एष पाठो न दृश्यते ।

यथोक्तप्रतिलोमं मन्थान्तराणि संहरति, जीवप्रदेशान् सकर्मकान् सङ्कोचयति। षष्ठे मन्थानमुपसंहरति घनतरसङ्कोचान्(त्), सप्तमे कपाटमुपसंहरति दण्डात्मनि सङ्कोचात्, अष्टमे दण्डमुपसंहृत्य शरीरस्थ एव भवति। उक्तं च–

दण्डः(ण्डं) प्रथमे समये, कपाटमथ चोत्तरे तथा समये। मन्थानमथ तृतीये, लोकव्यापि चतुर्थे तु।।
(प्रशमरतिः–२७३)

संहरति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे। सप्तमके तु कपाटं, संहरति ततोऽष्टमे दण्डम्।।
तत्र च–
औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः। मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु।।
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च। समयत्रयेऽपि तस्मिन्, भवत्यनाहारको नियमात्।।
(प्रशमरतिः–२७५–२७७)

वाङ्मनसोस्त्वप्रयोक्तैव प्रयोजनाभावादिति। परित्यक्तसमुद्घातः कारणवशाद्योगत्रयमपि व्यापारयति। तथाहि– अनुत्तरसुरमनःपर्यवज्ञान्यादिभिः पृष्टः सन् सत्यमसत्यामृषं वा मनो योगं प्रयुङ्क्ते, आमन्त्रणादौ सत्यमसत्यमृषं वा वाग्योगम्, काययोगमप्यौदारिकं प्रातिहार्यपीठफलकादिप्रत्यर्पणादौ व्यापारयति। अन्तर्मुहूर्तमात्रे च काले शेषे भगवान् योगनिरोधं करोति।

अत्र कश्चिदाह– जघन्यत एवा(ता)वता कालेन उत्कर्षतस्तु षड्भिर्मासैः, **तच्चायुक्तम्,** प्रज्ञापनायां समुद्घातपदे एवमभिधानात्– **कायजोगं जुंजमाणे आगच्छिज्ज वा गच्छिज्ज वा चिट्ठिज्ज वा निसीएज्ज वा तुयट्टिज्ज वा उल्लंघिज्ज वा पल्लंघिज्ज वा पाडिहारियं पीढफलगसेज्जासंथारगं पच्चप्पिणिज्ज इति।** (प्रज्ञापना पद–३६, सूत्र–२१७४)

अत्र हि समुद्घातानन्तरं पीठफलकादीनां प्रत्यर्पणमेवोक्तम्, न त्वादानमपि। यदि पुनः षण्मासानपि यावद् भगवाँस्तिष्ठेत् तत आदानमपि वर्षाकालादौ सम्भवतीति तदप्युच्येत, न चोक्तम्, तस्मादपव्याख्यानमेतदिति। तथेह दण्डं कुर्वन् केवली जीवमध्यप्रदेशान् परस्परावियोगिनो रुचकसञ्ज्ञितान् अष्टौ जीवप्रदेशान् **तथाकथञ्चिद्व्रचयति यथा कस्यापि कपाटसमयेऽपि, मन्थानसमये पुनरवश्यमेव सर्वस्यापि ते जीव–मध्यरुचस्यकस्यष्टापि (रुचकस्याष्टावपि**)[२] जीवप्रदेशा मेरुमध्यव्यवस्थितस्य क्षेत्ररुचकस्य सम्बन्धिष्वष्टस्वपि नभःप्रदेशेष्वेकैकभावेन समवयन्तीति। इह च तिर्यग्लोकस्य मध्यभागे आयामविष्कम्भाभ्यां रज्जुप्रमाणौ सर्वप्रतराणां क्षुल्लकौ द्वौ नभःप्रदेशप्रतरौ, तयोश्च मेरुमध्यप्रदेशमध्यम्, तत्र च मध्ये उपरितनप्रतरस्य ये चत्वारो नभःप्रदेशा ये चाधस्तनस्य चत्वारः तेषामष्टानामपि गोस्तनाकाररूपतया व्यवस्थितानामाकाशप्रदेशानां समये रुचक इति परिभाषेति।

सम्प्रति प्रस्तुतमभिधीयते। **असंखे इत्यादि**। केवलिसमुद्घातवर्जितेषु वेदनादिषु षट्स्वपि कालप्रमाणमन्तर्मुहूर्तम्, तानि चान्तर्मुहूर्त्तानि– अष्टौ समयानादि कृत्वा समयोनघटिकाद्वयं यावत्समयोत्तरवृद्ध्या असङ्ख्येयभेदानि अतस्तद्विशेषार्थमाह– **असंखेत्यादि**। इह विभक्तिलोपात् पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्

---

१ अत्र स्थानाङ्गवृत्तिः अभयदेवसूरिकृता – **द्वितीये तमेव दण्डं पूर्वापरदिग्द्वयप्रसारणात् पार्श्वतो लोकान्तगामि कपाटमिव कपाटं करोति । तृतीये तदेव दक्षिणोत्तरदिग्द्वय प्रसारणात् मन्थानं करोति ।** अत्र कपाटसमये पूर्वापरदिग्द्वयम्, मन्थानसमये दक्षिणोत्तरदिग्द्वयस्य प्रसारणं उक्तम्। मनःस्थिरीकरणप्रकरणे पुनः द्वयोरपि समययोः दिक्चतुष्टये प्रसारणं कपाटं चोक्तमिति विशेषः।

२ नावगम्यतेऽस्यार्थः।

व्याख्या। असङ्ख्याः = सङ्ख्यातीताः समया यत्र तदसङ्ख्यसमयं तच्च तदन्तमुहूर्त्तं चेति समासः। तदिह समुद्घातषट्के प्रमाणत्वेन ज्ञातव्यम्। उक्तं च प्रज्ञापनायां समुद्घातपदे–

वेयणासमुग्घाए णं भंते ! कइ समईए पन्नत्ते? गो/यमा!/ असंखेज्जसमईए अंतोमुहुत्तिए एवं जाव आहारसमुग्घाए इति। (प्रज्ञापना पद–३६, सूत्र–२०८७)।।१२२।।१२३।।

अथ केवलिसमुद्घातं कः करोति को वा न करोति ? इत्याशङ्क्याह–

[मूल] छम्मासवसेसाऊ, नियमा न करेइ सो समुग्घायं ।
हीणे करेइ नियमा, अहिए भयणा उ केवलिणो ।।१२४।।

[व्याख्या] यस्य षट्सु मासेषु समयेनाप्यन्यूनाधिकेषु केवलज्ञानमुत्पन्नं सोऽवश्यं समुद्घातं न करोति। यतस्तस्य तथास्वाभाव्यादायुषः शेषकर्मभिर्वैषम्यं नास्ति ततो न करोति। उक्तं च प्रज्ञापनायाम्–

अगंतूण समुग्घायं, अणंता केवली जिणा। जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिवरगइं गया।।

(प्रज्ञापना पद–३६, सूत्र–२१७०, गाथा–२३०)

हीने पुनरायुषि करोति, तस्यावश्यं कर्मणां वैषम्यसम्भवात्। षण्मासेभ्योऽधिके पुनर्भजना। यस्य तथा स्वाभाव्यात्कर्मसाम्यं भवति स न(नै)व करोति। इतरे तु–

नाऊण वेयणिज्जं, अइबहुयं आउयं च थोवागं। गंतूण समुग्घायं, खवंति कम्मं निरवसेसं।। ()।।१२४।।

अथ कर्मबन्धे मूलहेतुद्वारमाह–

[मूल] बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोगो त्ति मूल हेउचऊ ।
पुढवाइतेरसेसु वि, पएसु मिच्छंमि ते सव्वे ।।१२५।।

[व्याख्या] पूर्वार्द्धं सुगमम्। अथैतान् मूलहेतून् पृथिव्यादिगृहेषु प्रतिगुणस्थानं चिन्तयन्नाह– **पुढवाइ** इत्यादि। सुगमं च।। १२५।।

[मूल] कम्मा भूदवणेसुं, साणं पि तहिं अमिच्छया तिन्नि ।
अह बिंदिमाइ अट्ठसु, गिहेसु साणंमि हेउतिगं ।।१२६।।

[व्याख्या] व्यक्ता। नवरं तेजोवाय्वोः सास्वादनाभावान्नात्र सङ्ग्रहः।।१२६।।

तथा–

[मूल] सन्नितिरिमणुयनारयसुराण मीसंमि तह य अजियंमि ।
तह तिरिमणु देसे वि य, हेउतिन्नेव मिच्छ विणा ।।१२७।।

[व्याख्या] स्पष्टा।।१२७।।

[मूल] छट्ठाइ दसंतेसुं, कसायजोगा नरेसु दो हेऊ ।
गुणतियगे जोगु च्चिय, हेउअभावो अजोगम्मि ।।१२८।।

[व्याख्या] सुगमा। इह च पूर्वमेव नारकदेवयोः **पुढवाइ** इत्यादिना (गा. १२५), तथा **बिंदियमाइ** इत्यादिना (गा. १२६), तथा **सन्नितिरियमणुए** इत्यादिना (गा. १२७) च गुणचतुष्केऽपि मूलहेतुभणनान्नेह मनुष्यानन्तरं तौ चिन्तिताविति।।१२८।।

अथ कर्मबन्धोत्तरहेतुद्वारम्। ते च सप्तपञ्चाशदित्याह–

[मूल] मिच्छाइ हेउउत्तरभेया[1] सगवन्न पंचहा मिच्छं ।
आभिग्गह–अणभिग्गह–संसयभिनिवेस–अणभोगा ।।१२९।।

[व्याख्या] मिथ्यात्वादीनां मूलहेतूनां चतुर्णामुत्तरभेदाः सप्तपञ्चाशद्भवन्ति। तत्र मिथ्यात्वम् आभिग्रहिका–नाभिग्रहिकाभिनिवेशिकसांशयिकानाभोगिकभेदात् पञ्चधा। तत्स्वरूपम् इदम्–

आभिग्गहियं किल दिक्खियाण, अणभिग्गहं तु इयराण। गुट्ठामाहिलमाईण, जं अभिनिवेसियं तं तु।।
संसइयं मिच्छत्तं, सासंका जिणवरुत्ततत्तेसु। विगलिंदियाण जं पुण, तमणाभोगं तु निदिट्ठं।।

(नवतत्त्वभाष्यम्–१०१)

न केवलं विकलानामुपलक्षणात्वादेकेन्द्रियाणामसञ्ज्ञिनां च अनाभोगम्।।१२९।।

[मूल] बारसविहा अविरई, मणइंदियअनियमो छकायवहो ।
नव य कसाया किरिया पणवीसं पन्नरस जोगा ।।१३०।।

[व्याख्या] सुगमा। नवरं पञ्चानामिन्द्रियाणां षष्ठस्य च मनसः स्वस्वविषये प्रवर्तमानस्य यदनियमनम् = अनियन्त्रणम्। तथा योगा पञ्चदश ते च पूर्वं तृतीयद्वारे व्याख्याताः सन्ति।।१३०।।

अथैतानुत्तरहेतून् पृथिव्यादिषु प्रतिगुणं योजयन्नाह–

[मूल] अणभोगं मिच्छत्तं, फासिंदिच्छकायअविरईउ य ।
कम्मोरलतम्मिस्सा, अनरित्थि कसायतेवीसा ।।१३१।।
इय चउतीसं हेऊ, इगिंदिपणगंमि मिच्छगुणठाणे ।
वेउव्वियतम्मिस्सयजुत्ता छत्तीस वी मरुसु ।।१३२।।

[व्याख्या] **नवरं**[2] **वेउव्विएत्यादि**। वैक्रियतन्मिश्रद्वयसहिता पूर्वोक्तैव चतुस्त्रिंशद्वादरवायूनाम्, वैक्रियलब्धिमतां षड्त्रिंशद्भवन्ति वैक्रियलब्धिरहितानां तु पूर्वोक्तैव चतुस्त्रिंशदिति।।१३१।।१३२।।

[मूल] कम्मइगा पुण सासणभावे भूदगवणाण इगतीसं ।
चउतीसा[3] उ हिच्चा उरलं फासिंदि मिच्छं च ।।१३३।।

[व्याख्या] सुगमा।।१३३।।

[मूल] नणु हेऊ उदियच्चिय, भन्नंती कम्मबंधिणो तो किं ।
इगबितिचउरमणाण वि, अत्थि हु हासाइणं उदओ ।।१३४।।

[व्याख्या] ननु कर्मबन्धहेतवः सर्वेऽपि उदयप्राप्ता एव सन्तः कर्माष्टकबन्धनिबन्धनत्वेन भण्यन्त इति, तत्किं एकेन्द्रियाणां वक्ष्यमाणानां च विकलामनसामपि हासाद्युदयः समस्ति ? इत्याशङ्क्याह–

---

१ पदं टीकागतगाथायां न दृश्यते ।

२ अत्र प्रपूरितोऽयं पाठः । पञ्चस्वप्येकेन्द्रियादिषु = पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायेषु, मिथ्यात्वगुणस्थानवर्तिष्वेताः चतुस्त्रिंशदुत्तरहेतूनां भवन्ति । तद्यथा – अनाभोगं मिथ्यात्वमेकम्, स्पर्शनेन्द्रियषट्कायवधरूपा सप्तविधाविरतिः कार्मणऔदारिकतन्मिश्ररूपाः काययोगास्त्रयः, पुरुषस्त्रीवेदवर्जास्त्रयोविंशतिकषायाश्चेति ।

३ मूले **चउवीसा** इति पाठो दृश्यते ।

[मूल] सच्चं एसिं उदओ, भणिओ जियठाणमोहसंवेहे ।
सयरीगंथे अट्ठसु, पंचसु एगि त्ति गाहाए ।।१३५।।

[व्याख्या] सत्यम्, एकेन्द्रियविकलामनसः समाश्रित्य एतेषां हास्यादीनामुदयः सत्तरीग्रन्थे जीवस्थानेषु मोहनीयकर्मसम्वेधे विचार्यमाणे। **अट्ठसु पंचसु एगे** इत्यादिगाथायां भणित एवास्ते। तथाहि–

अट्ठसु पंचसु एगे, एगदुगं दस य मोहबंधगए। तिगचउनवउदयगए, तिग तिग पन्नरस संतम्मि।।

(सप्ततिकाभिधः षष्ठः कर्मग्रन्थः–४०)

अस्याश्च गाथाया वृत्तिविस्तरमुपजीव्य कतिचित्पदानामेव प्रस्तुतोपयोगिनां गमनिकामात्रं प्रदर्श्यते। **अट्ठसु त्ति**। अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञिरूपेषु अष्टसु जीवस्थानेषु। तथा– **पंचसु त्ति**। पर्याप्तबादर–एकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञिरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु।

तिगचउनवउदयगए। अत्रैवं सम्बन्धः– अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं मोहस्य अष्टनवदशरूपाणि **तिग त्ति**। त्रीणि उदयस्थानानि भवन्ति। तद्यथा– मिथ्यात्वं कषायचतुष्टयं नपुंसकवेदो हास्यरतिरूपम्, शोकारतिरूपं वा अन्यतरद्युगलं चेति अष्टोदयः, पुनरत्रैव भयजुगुप्सयोरन्यतरप्रक्षेपे नवोदयः। युगपदेतदुभयप्रक्षेपे दशोदय इति।

तथा पञ्चसु पर्याप्तबादरैकेन्द्रियादिषु जीवस्थानेषु प्रत्येकं मोहस्य सप्ताष्टनवदशरूपाणि **चउ त्ति**। चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति। तद्यथा– एषां पञ्चानामपि सासादनभावकाले कषायचतुष्टयं नपुंसकवेदोऽन्यतरद्युगलं चेति सप्तोदयः, पुनरत्रैव भयजुगुप्सयोरन्यतरप्रक्षेपे अष्टोदयः। युगपदेतदुभयप्रक्षेपे नवोदयः।

सासादनाभावेऽपि एतेषां पञ्चानामपि अष्टनवदशरूपास्त्रयो विकल्पास्तव(तद्यथा)– मिथ्यात्वं कषायचतुष्टयं नपुंसकवेदोऽन्यतरद्युगलं चेत्यष्टोदयः। अत्रैव भयजुगुप्सयोरन्यतरप्रक्षेपे नवोदयः। युगपदुभयप्रक्षेपे दशोदय इति।

इत्येवं सास्वादनभावाभावभाव्युदयस्थानसङ्ग्रहेण सप्ताष्टनवदशरूपाणि चत्वारि उदयस्थानानि पञ्चसु जीवस्थानेषु भवन्तीति। नवरं अष्टनवरूपे(ण) द्विधा। सप्तदशरूपे एकधेति। एतेन प्रस्तुतम् एकेन्द्रियविकलामनसां हास्यादीनामुदयोऽस्तीति साधितम्। अपरं चास्या गाथायाः **अट्ठसु पंचसु त्ति। तिग चउ त्ति**। एतावदेव प्रस्तुतोपयोगित्वाद् व्याख्यातम्, शेषपदानि बहुव्याख्येयत्वात् प्रस्तुतानुपयोगित्वाच्च मुक्तानि, तदर्थिना तु सप्ततिकावृत्तिरवलोकनीयेति।।१३५।।

तथा–

[मूल] पुव्वुत्ता चउतीसा, सतुरियवयरसण पुण वि छत्तीसा ।
घाणेण चक्खुसुइणा, सगतीसडतीस गुणचत्ता ।।१३६।।
बितिचउरमणाणं, मिच्छे साणे उ चउहि वि उरलं ।
मिच्छत्ततुरियवयणं, हिच्चा नहइंदियाइं कमा ।।१३७।।
दुगतिगचउपण मुत्तुं, तो सव्वहि होइ हेउइगतीसं ।

[व्याख्या] पुव्वत्त त्ति। या एकेन्द्रियेषु पूर्वमुक्ता चतुस्त्रिंशत् सा तुर्यभाषारसनेन्द्रियाभ्यां सहिता षट्त्रिंशद–जनि। ततस्तस्यामेव घ्राणेन, घ्राणोपरि चक्षुषा, तदुपर्यपि श्रवणेन क्षिप्तेन क्रमेण सप्तत्रिंशत्, अष्टत्रिंशत्, एकोनचत्वारिंशद् भवन्तीति। ताश्च चतस्रोऽपि सङ्ख्या द्वित्रिचतुरिन्द्रिय(या)मनसां मिथ्यात्वगुणस्थाने क्रमेण भवन्तीति। तथा– **साणे उ त्ति**। सासादने पुनः **चउहि वि त्ति**। चतसृभ्योऽपि सङ्ख्याभ्य औदारिकयोगमिथ्यात्वतुर्यभाषारूपं हेतुत्रयं युगपत्त्यक्त्वा। तथा इन्द्रियाण्यपि पर क्रमेण द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च मुक्त्वा ततः पञ्चाच्चिन्त्यमाना **सव्वहिं ति**। चतुर्ष्वपि सङ्ख्यास्थानेषु हेतूनामेकत्रिंशद्भवतीति।।१३५।। १३६।।

[मूल] नणु कह उरलनिसेहो, करणनिसेहो य साणेसु ।।१३८।।

[व्याख्या] गाथार्द्धम्। ननु किमिति पूर्वमेकेन्द्रियेषु ततोऽपीह विकलामनस्केषु सास्वादनभावे वर्तमानेषु औदारिककायस्येन्द्रियाणां च निषेधः क्रिय[त] इति।।१३७।।

अत्रोत्तरम्-

[मूल] भन्नइ इत्थं सुणसु, भणियमिणं जह य बंधसामित्ते ।
इगिविगलिंदियसाणा, तणुपज्जत्तिं न जंति त्ति ।।१३९।।
तो पज्जतिअभावा, किह तणुजोगो कहं च करणाइं? ।
जइ एवं किह तेसिं, एगबिंदियमाइ ववएसो? ।।१४०।।
भन्नइ सो ववएसो, इगिं बिंदियमाइ आउरुदयाउ ।
अह सन्नितिरिय मिच्छे, आहारदुगूण पणपण्णा ।।१४१।।
मिच्छूण पण्ण साणे, अणकम्मोरलविउव्वि मीसदुगं ।
वज्जिय तिचत्त मीसे, कम्मण विउव्वुरलमिस्सदुगं ।।१४२।।
खिविउं छचत्त अजए, तसअविरइ कम्म उरलमीसेहिं ।
बीयकसाएहिं विणा, गुणचत्ता देसजइतिरिए ।।१४३।।
नरि हेउ पणपन्ना, पन्न-ति-चत्ता-छचत्त-गुणचत्ता ।
छच्चउ दुगहियवीसा, सोलस दस नव नवय सत्त ।।१४४।।

[व्याख्या] गाथाषट्कं स्पष्टम्।।१३९।।१४०।।१४१।।१४२।।१४३।।१४४।।

अथ पूर्वोक्तस्य तिर्यग्गुणपञ्चकस्यातिदेशं नराणां गुणपञ्चके गाथाप्रथमपादेनाह-

[मूल] गुणपंच तिरि व नरे,

[व्याख्या] नरे इति(त्ति)। यथा पूर्वं तिरश्चां पञ्चसु गुणस्थानकेषु ये यावन्तश्चोत्तरहेतव उक्तास्तथात्रापि मनुष्यगुणपञ्चकेऽपि ते एतावत्सङ्ख्या एव तथैव वक्तव्या इत्यतिदेशार्थः।

अथ केवलनरसम्बन्धिषु षष्ठादिष्वाह-

[मूल] छट्ठे एक्कार अविरइ कसाए ।
तइए मुत्तु छवीसा, खेत्ते आहारतम्मिस्से ।।१४५।।
साहारमीस विउव्वियमीसे मुत्तु चउवीसमपमत्ते ।
अप्पुव्वे बावीसा, वेउव्वहारतणुऊणा ।।१४६।।
छक्कूण सोल नवमे, तिवेयसंजलतिगूण दस दसमे ।
संजलणलोभऊणा, नव नव उवसंतखीणेसु ।।१४७।।
सच्चं असच्चमोसं, दुविहमणं दुहगई य उरलदुगं ।
कम्मण सत्त सजोगे, हेउअभावे(वो) अजोगम्मि ।।१४८।।

आहारोरलदुगदुग, इत्थीपुरिसूण हेउइगवन्ना ।
निरए मिच्छे साणे, उ मिच्छपणगूण छायाला ।।१४९।।

अण–कम्मण–वेउव्वियमीसं चइऊण मीसए चत्ता ।
सवेउव्वि मीसकम्मा, बायाला सम्म नेरईए ।।१५०।।

उरलदुगाहारदुगं, नपुवेयं चइय हेउबावन्नं ।
मिच्छसुरे साणे पुण, सगचत्ता मिच्छपणगूणा ।।१५१।।

कम्मणऽणंत–वेउव्वियमिसूणा मीसयम्मि इगचत्ता ।
वेउव्वि मीसकम्मणजुत्ता तिगचत्त सम्मसुरे ।। १५२।।

[व्याख्या] सर्वा अपि गाथाः स्पष्टाः। नवरं योऽत्र देवनारकेषु पूर्वं च सञ्ज्ञितिर्यङ्मनुष्येषु अनाभोगिकमिथ्यात्वसद्भावो विहितः स तस्यैव अनाभोगिकमिथ्यात्वस्य द्वितीयव्युत्पत्त्यपेक्षया द्रष्टव्यस्तथाहि–

अणाभोगं एगिंदियाईण वि। जम्हा आभोगो नाणं उवओगो भन्नइ। एयं केरिसं ? एयं वत्ति ? एसा पुण तेसिं नत्थि तेण तेसिं अणाभोगं मिच्छत्तं। अहवा सुद्धं परुवइस्सामि अणुवओगाओ असुद्धं परुवियंतं पि अणाभोगं परेसिं मिच्छत्तकारणत्तेणं ति। (षडशीतिकचूर्णिः)

तदेवम् अष्टानामपि कर्मणामविशेषेण बन्धजनकत्वात् सामान्यरूपा मूलहेतव उत्तरहेतवश्च प्रतिपादिताः। अथ ज्ञानावरणादिकाया एकैकस्याः प्रकृतेर्यथास्वं बन्धजनकाज्ञानप्रत्यनीकतादयो विशेषहेतवो द्वारगाथायामनुपात्ता अपि हेतुत्वसामान्येन विनेयानुग्रहाय शतकसूत्रवृत्तिभ्यां प्रदर्श्यन्ते–

पडणीयमंतराइय, उवघाए तप्पओसनिण्हवणे। आवरणदुगं भूओ, बंधइ अच्चासणाए य।।

(बन्धशतकम्–१६)

इह प्राकृतत्वादार्षत्वाच्च विभक्तिव्यत्ययादिना तात्पर्यव्याख्या क्रियते। तत्रावरणद्विकं ज्ञानावरणदर्शनावरणरूपम्। अत्र च ज्ञानस्य = मत्यादेर्ज्ञानिनां = साध्वादीनां ज्ञानसाधकस्य च पुस्तकादेः प्रत्यनीकतया = तदनिष्टाचरणरूपया ज्ञानावरणं कर्म भूयो = अतितीव्रं बध्नातीति सण्टङ्कः। तथा अन्तरायेण = भक्तपानवस्त्रोपाश्रयलाभनिवारणादिरूपेण, उपघातेन = निर्मूलतो विनाशस्वरूपेण, तत्प्रद्वेषेण = ज्ञानादिविषये आन्तराप्रीतिरूपेण, निह्नवेन = 'न मया तत्समीपेऽधीतमिदम्' इत्यादिरूपेण। अत्याशातनया च जात्याद्युद्भट्ट–नादिहीलारूपया तीव्रं ज्ञानावरणं बध्नातीति सर्वत्र द्रष्टव्यम्। एतच्चोपलक्षणमात्रमतो ज्ञानावर्णवादेन, आचार्योपाध्यायाद्यविनयेन, अकालस्वाध्यायकरणेन, काले च स्वाध्यायाविधानेन, प्राणिवधा–नृतभाषणस्तैन्या–ब्रह्मापरिग्रहरात्रिभोजनाविरमणादिभिश्च ज्ञानावरणं बध्नातीत्याद्यपि वक्तव्यमिति।

एवं दर्शनावरणेऽपि वाच्यम्, नवरं दर्शनाभिलापो वाच्यः। तद्यथा– दर्शनस्य चक्षुर्दर्शनादेर्दर्शनिनां साध्वादीनां दर्शनसाधनस्य च श्रोत्रचक्षुर्नासिकादेः प्रत्यनीकतया तदनिष्टाचरणरूपया दर्शनावरणं भूयोऽतितीव्रं बध्नातीत्येवमिहापि सम्बन्धः। एवमन्तरायादयोऽपि हेतवस्तदुचितत्वेनोत्प्रेक्ष्य योजनीयाः। अत्राप्युपलक्षणमात्रममी ततोऽलसतया, स्वप्न(पन)शीलतया, निद्राबहुमानतो, दर्शनिनां दूषणग्रहणेन, श्रवणकर्तननेत्रोत्पाटन–नासाच्छेदनजिह्वाविकर्तनादिना प्राणिवधादिभिश्च दर्शनावरणं बध्नातीत्याद्यपि वाच्यमिति गाथार्थः। वेदनीयस्य द्विविधस्यापि बन्धहेतूनाह–

भूयाणुकंपवयजोगउज्जुओ खंतिदाणगुरुभत्तो। बंधइ भूओ सायं, विवरीए बंधए इयरं।।

(बन्धशतकम्–१७, प्राचीनपञ्चमकर्मग्रन्थ–१९)

भूतेषु = जन्तुष्वनुकम्पा यस्य स भूतानुकम्पः। व्रतेषु = महाव्रतादिषु योगेषु = चक्रवालसामाचार्याद्याचरणरूपेषूद्यतो व्रतयोगोद्यतः। **खंतिदाण त्ति**। लुप्तमत्वर्थीयत्वात्क्षान्तिदानवानित्यर्थः। गुरुभक्तश्च। किमित्याह- बध्नाति भूयोऽतितीव्रं सातवेदनीयम्। उक्तगुणवैपरीत्ये तु बध्नाति, किमित्याह- इतरदसातवेदनीयमित्यर्थः। इदमुक्तं भवति- सानुकम्पतया, दृढधर्मतया, संयमयोगकरणशीलतया, कषायजयतया, यथोदितदानश्रद्धालुतया, बालवृद्धग्लानादिवैयावृत्यकरणशीलतया, मातृपितृधर्माचार्यादिभक्तितो, जिनचैत्यपूजया, शुभपरिणामादिभिश्च सातवेदनीयं बध्नाति इति। तथा निरनुकम्पतया, शीलव्रतादिविलोपतो, हस्त्यश्वबली-वर्दादिनिर्दयदमनवाहननिर्लाञ्छनीकरणादिभिः, परसङ्क्लेशोत्पादनेन, सद्धर्मकृत्यप्रमादितया, कषायोत्कटतया, कार्पण्यभावात्, मातापितृधर्माचार्यादिपूज्यजनावज्ञया प्राणिवधादिभिश्च तीव्रमसातवेदनीयं निवर्तयतीति गाथार्थः।

मोहनीयं दर्शनचारित्रमोहनीयभेदाद् द्विधा। तत्र दर्शनमोहहेतूनाह-

अरहंतसिद्धचेइयतवसुयगुरुसाहुसंघपडणीओ। बंधइ दंसणमोहं, अणंतसंसारिओ जेण।।

(बन्धशतकम्-१८)

अर्हत्सिद्धचैत्यतपःश्रुतगुरुसाधुसङ्घानां प्रत्यनीको = अवर्णवादाद्यनिष्टनिर्वर्तको बध्नाति दर्शनमोहं = मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म। येन किमित्याह- अनन्तसंसारिको येन बद्धेन भवति जीवः। अन्यच्चोन्मार्गदेशनया, मार्ग-विप्रतिपत्त्या, धार्मिकजनसन्दूषणया, अदेवगुरुतत्त्वेषु देवगुरुतत्त्वबुद्ध्या, नारकसुरसिद्धादिविपरीतभावनया चैत्य-द्रव्यापहारमुनिघातप्रवचनापभ्राजनादिभिस्तीव्रं दर्शनमोहमुपरचयतीति गाथार्थः। इदानीं चारित्रमोहस्य-

तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणओ रागदोससंजुत्तो। बंधइ चरित्तमोहं दुविहं पि चरित्तगुणघाई।।

(बन्धशतकम्-१९)

तीव्राः कषायाः क्रोधादयो यस्य स तथा। मोहशब्देन तु विषयगार्द्ध्यालम्बनो मतिविभ्रमो विवक्षित सूत्रश्च(स्ततश्च) बहुमोहपरिणतो विषयगृद्धिविभ्रमितमतिरित्यर्थः। रागशब्देन चेहोद्धरितशेषा हास्यरत्यादयो विवक्ष्यन्ते, द्वेषशब्देन च जुगुप्सादयः। ततश्चोक्तस्वरूपाभ्यां रागद्वेषाभ्यां संयुक्तः। किमित्याह- बध्नाति चारित्र-मोहनीयं वक्ष्यमाणशब्दार्थम्। कतिविधमित्याह- द्विविधमपि कषायचारित्रमोहनीयं नोकषायचारित्रमोहनीयं चेत्यर्थः। यत्कथम्भूतम् ? अत्राह- चारित्रगुणं लब्धमपि हन्तीत्येवंशीलं चरित्रगुणघाति यदिति।

अयं च सामान्यार्थः विशेषतस्त्वेवमवगन्तव्यम्- कषायचारित्रमोहनीये क्रोधादयश्चत्वारः कषायाः। तत्र च तीव्रकोपोपयुक्तस्तीव्रकोपमेव बध्नाति। तीव्रमानोपयुक्तस्तु तीव्रमानमेवोपरचयत्येवं मायालोभयोरपि वाच्यम्। नोकषायचारित्रमोहनीये तु वेदत्रयं हास्यादिषट्कं च। अत्रापि कोपनो, अहङ्कारी, परदाररतिप्रियो, न्य(व्य)लीकभाषी, ईर्ष्यालुर्मायाप्रधानसमाचारः स्त्रीवेदम् उपरचयतीति। ऋजुसमाचारो, मन्दकोपो, मार्दवसम्पन्नः, स्वदाररतिप्रियोऽमायावी पुरुषवेदं निर्वर्तयति। पिशुनो, निर्लाञ्छनबन्धताडनादिरतः, स्त्रीणां नृणामनङ्गसेवनशीलः, शीलव्रतसुस्थितपाखण्डिनां कुयुक्तिभ्यो भोगाभिलाषाद्युत्पादनेन मार्गभ्रंशकारी, तीव्रविषयरतिः नपुंसकवेदं बध्नाति। स्वयं हसनशीलः, परांश्च हासयति, बहुविधं च परविप्लवं करोति, कन्दर्परतिश्च हास्यमोहनीयं बध्नाति। स्वयं च क्रीडति, परांश्च क्रीडयति, दुःखानुत्पादकश्च रतिमोहनीयं बध्नाति। परेषां रतिविघ्नकरोऽरत्युत्पादकः, पापजनसङ्गतिरतिश्चारति[मोह]नीयं बध्नाति। नष्टमृतादिषु स्वयं शोचति, परांश्च शोचयति, परव्यसनशोकाभिनन्दी शोक[मोह]नीयं बध्नाति, स्वयं बिभेति, परांश्च भीषयते भयमोहनीयं बध्नाति। स्वयं साधुजनादिकं जुगुप्सते, परस्य जुगुप्सामुत्पादयति, परपरिवादविधिशीलो जुगुप्सामोहनीयमभिनिवर्तयतीति गाथार्थः। नारकादिभेदे-

नायुश्चतुर्द्धा। तत्र नारकायुषो हेतूनाह–

मिच्छादिट्ठि महारंभपरिग्गहो तिव्वलोह निस्सीलो। निरयाउयं निबंधइ, पावमई रुद्दपरिणामो।।

(बन्धशतकम्–२०)

मिथ्यादृष्टिः = सद्धर्मदूरीकृतस्तथा महान्तौ बहुजीवविघातकत्वेनारम्भपरिग्रहौ यस्य स तथा। तीव्रा(व्रोऽ)नन्तानुबन्धि लोभो, निःशीलो = निर्मर्यादो व्रतनियममार्गदूरीभूतश्चाग्निरिव सर्वभक्षीत्यर्थः। सदैव पापेऽगम्यगमनापेयपानाभक्ष्यभक्षणहिंसादिलक्षणे मतिर्यस्य स तथा। रौद्रपरिणामो गिरिभेदसमकषायै रौद्रध्यान–रुषितचेतोवृत्तिरित्यर्थः। स किमित्याह– नारकायुर्निंतरां बध्नातीति गाथार्थः। तिर्यगायुषः प्राह–

उम्मग्गदेसओ मग्गनासओ गूढहियय माइल्लो। सढसीलो य ससल्लो, तिरियाउं बंधई जीवो।।

(बन्धशतकम्–२१)

उन्मार्गं भवहेतुं मोक्षहेतुत्वेन दिशति, मार्गं च ज्ञानादिकं नाशयति = अपलपति। गूढहृदयो नाम उदायिनृपमारकादिवत्, तथात्माभिप्रायं सर्वथैव निगूहति यथा नापरः कश्चिद्वेत्ति। **माइल्ल** शब्देन तु वक्रबहिश्चेष्टो गृह्यते। शठशीलो नाम वचसा मधुरः परिणामेऽतिदारुणः। **ससल्लो त्ति**। रागादिवशाचीर्णानेकव्रतनियमातिचारः स्खलद्दन्तःशल्योऽनालोचिताप्रतिक्रान्तो जीवः क्षितिभेदसमकषायोऽल्पारम्भोऽपि तिर्यगायुर्बध्नातीति गाथार्थः। मनुष्यायुषः प्राह–

पयइई तणुकसाओ, दाणरओ सीलसंजमविहूणो। मज्झिमगुणेहि जुत्तो, मणुयाऊ बंधई जीवो।।

(बन्धशतकम्–२२)

प्रकृत्या = स्वभावेनैव तनुकषायो रेणुराजिसमानकषाय इत्यर्थः। उपलक्षणं चैतत्ततश्च प्रकृत्या भद्रको विनीतः सदयोऽमत्सर इत्यपि द्रष्टव्यम्। यत्र तत्र वा दानरतः शीलसंयमवियुक्तः, तद्युक्तो हि बन्धसम्भवे देवायुरेव बध्नीयादिति भावः। किं बहुना ? क्षान्तिविनयादिभिर्मध्यमैस्तदुचितैः कैश्चिद् गुणैर्युक्तो जीवो मनुष्यायुर्बध्नाति। ततोऽधमगुणस्य नरकतिर्यगायुःसम्भवाद्, उत्तमगुणस्य सिद्धेः सुरलोकायुषो वा सम्भवादिति भाव इति गाथार्थः। इदानीं देवायुषः प्राह–

अणुव्वयमहव्वएहि य, बालतवाकामनिज्जराए य। देवाउयं निबंधइ, सम्मद्दिट्ठी य जो जीवो।।

(बन्धशतकम्–२३)

अणुव्रतग्रहणेन देशविरतः श्रावकः सूचितः। स चाविराधितविरतिगुणो देवायुर्निंतरां बध्नातीति योगः। महाव्रतग्रहणेन तु सरागसंयतो गृहीतः। सोऽपि देवायुर्बध्नातीति। वीतरागस्त्वतिविशुद्धत्वादायुर्न बध्नात्येव। घोलनापरिणाम एव तस्य बध्यमानत्वादिति। बालतपोग्रहणेन त्वनधिगतपरमार्थस्वभावा अज्ञानपूर्वकनिवर्तित–तपःप्रभृतिकष्टविशेषा मिथ्यादृष्टयो गृह्यन्ते। एतेऽप्यात्मगुणानुरूपं किञ्चिद् देवायुर्बध्नन्ति, न तु सम्यग्दृष्टिवद्वि–शिष्टमिति। तथा अकामस्यानिच्छतो निर्जरा = कर्मविचटनम् अकामनिर्जरा तया च। एतदुक्तं भवति–

अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेरवासेणं
अकामसीययवदंसमसगअण्हाणसेयजल्लमलपंकपरिग्गहेणं दीहरोगचारगनिरोहबंधणयाए
गिरितरुसिहरनिवडणयाए जलजलणपवेसणअणसणाईहिं य। ()

उदकराजिसमानकषायत्वेन तदुचितशुभपरिणामे सति व्यन्तरादिप्रायोग्यं किञ्चिद्देवायुर्बध्यते। सम्यग्दृष्टि–ग्रहणेन त्वविरतसम्यग्दृष्टिर्गृह्यते। सोऽप्यविराधितसम्यक्त्वगुणो देवायुर्बध्नातीति गाथार्थः।

नामकर्म यद्यपि द्विचत्वारिंशदादिभेदाद् अनेकधा तथापि शुभाशुभविवक्षया द्विविधमेवेति द्विविधस्यापि बन्धहेतूनाह–

मण–वयण–कायवंको, माइल्लो गारवेहिं पडिबद्धो। असुहं बंधइ नामं, तप्पडिवक्खेहिं सुहनामं।।

(बन्धशतकम्–२४)

मनोवाक्कायवक्रः कषायचतुष्टयावेशपूर्वकचिन्तनभाषणचेष्टाप्रवृत्तिरित्यर्थः। तत्रापि मायाकषायस्याधिक्य–प्रदर्शनार्थमाह– **माइल्लो त्ति**। सर्वत्र मायाप्रधानसमाचार इत्यर्थः। गौरवेषु = ऋद्धिरससातलक्षणेषु प्रतिबद्धोऽशुभं नरकगत्ययशःकीर्त्येकेन्द्रियजात्यादिरूपं नामकर्म बध्नाति। उक्तदोषप्रतिपक्षैस्तु प्राञ्जलमनोव्यापारादिभि–र्देवगत्यादिकं शुभनाम बध्नाति। एतदुक्तं भवति– क्रोधाद्युत्कटतया प्राणिगणाङ्गोपाङ्गादिकर्तनया, परवैरूप्या–पादनेन, परनिरीक्षितभाषितगत्यादिचेष्टोपहासेन, विशिष्टद्रव्यान्तर्गतकुद्रव्यविक्रयेण, स्वभावतो वर्णगन्धादिरहित–द्रव्याणां कृत्रिमतदुत्पादनेन, कृत्रिमहेमरत्नघुसृणघनसारादिनिर्वर्तनेन, सर्वत्र विसंवादिव्यवहारतया, प्राणिवधादिभि–श्चाशुभं नाम निर्वर्तयति। विपर्यये तु विपर्यय इति गाथार्थः। गोत्रस्य द्विविधस्यापि बन्धहेतूनाह–

अरहत्ताइसु भत्तो, सुत्तरुइ पयणुमाण गुणपेही। बंधइ उच्चागोयं, विवरीए बंधए नीयं।।

(बन्धशतकम्–२५)

अर्हतामादिशब्दात्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुचैत्यानामन्येषां च गुणगरिष्ठानां भक्तो = बहुमानपरस्तथा सूत्ररुचिः, किमुक्तं भवति– जिनवचनमनवरतं स्वयं पठति, परांश्च पाठयत्यर्थतश्च स्वयमभीक्ष्णं विमृशति, परेषां च व्याख्यानयति। असत्यां वा तत्पठनादिशक्तौ तीव्रबहुमानतस्तदुक्तमर्थं श्रद्दधानोऽपि सूत्ररूचिरित्युच्यते। तथा प्रतनुमानो = विशिष्टजातिकुलरूपैश्वर्यादिसम्पन्नोऽपि निरहङ्कारः, पराऽपरिभवनशीलः। तथा गुणप्रेक्षी = यस्य यावन्तं गुणं पश्यति तस्य तमेव प्रेक्षते = पुरस्करोति, दोषेषु सत्स्वपि उदास्ते इत्यर्थः। गुणाधिकेषु च नीचैर्वृत्त्या वर्तमानः, परपरिवादादिदोषरहितश्च उच्चैर्गोत्रं बध्नाति। भणितगुणविपर्यये तु नीचैर्गोत्रं बध्नातीति गाथार्थः। साम्प्रतमन्तरायस्य बन्धहेतूनाह–

पाणिवहाईसु रओ, जिणपूयामोक्खमग्गविग्घकरो। अज्जेइ अंतरायं, न लहइ जेणच्छियं लाभं।।

(बन्धशतकम्–२६)

प्राणातिपातानृतभाषणादिरतो, जिनपूजाविघ्नकरः = 'सावद्यादिदोषोपेतत्वाद्गृहिणामप्येषा अविधेया' इत्यादि कुदेशनादिभिः समयान्तस्तत्त्वदूरीकृतो जिनपूजानिषेधक इत्यर्थः। तथा– मोक्षमार्गस्य ज्ञानादेर्विघ्नकरस्त–द्दोषग्रहणादिना केनचित्प्रकारेण तस्य विघ्नं करोति। साधुभ्यो वा भक्तपानोपाश्रयोपकरणभैषजादिकं दीयमानं निवारयति। तेन चैतत्कुर्वता मोक्षमार्गः सर्वोऽपि विघ्नितो भवति। तथा– अपरेषामपि सत्त्वानां दानलाभ–भोगपरिभोगविघ्नं करोति, मन्त्रादिप्रयोगेण परस्य वीर्यमपहरति, हठाच्च वधबन्धादिभिः परं निश्चेष्टं करोति, छेदनभेदनादिभिश्च परस्येन्द्रियशक्तिमुपहन्ति। स किमित्याह– अर्जयति = निर्वर्तयति पञ्चप्रकारमप्यन्तरायिकं कर्म, येनार्जितेन सता दानभोगादिलाभभिमीप्सितं किञ्चिन्न लभते इति गाथार्थः ।।१४५।।१४६।।१४७।।१४८।।१४९।।१५०।।१५१।।१५२।।

गतं प्रसङ्गागतम्। अथ प्रस्तुतं कषायद्वारम्। ते च कषायाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः, पुनस्त एव प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्व(ञ्ज्व)लनभेदाच्चतुर्द्धेति षोडश। उक्तं च–

कोहो माणो माया, लोभो चउरो य हुंति चउभेया। अण अप्पच्चक्खाणा, पच्चक्खाणा य संजलणा।।

जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो। तिणसलयाकट्ठट्ठिय, सेलत्थंभोवमो माणो।।

माया वलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा। लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसारिच्छो।।

पक्खचउमासवच्छरजावज्जीवाणुगामिणो कमसो। देवनरतिरियनारयगइसाहणहेयवो भणिया।।

(प्रवचनसारोद्धार-५६१,८२८,१२५६; उवएसमाला-३०१)

ननु यदि सञ्ज्वलनादयः क्रमेण देवमानवतिर्यङ्नरकगतिहेतवः तत्कथं सङ्गमादयो नित्यानन्तोदयिनोऽपि स्वर्गम्, श्रेणिकादयस्तु द्वितीयकषायोदयिनोऽपि नरकं जग्मुः? **सत्यम्,** एते अनन्तानुबन्धिक्रोधादयः षोडशापि पुनर्यथास्वं चतुश्चतूरूपत्वात् चतुःषष्टिधा भवन्ति। तद्यथा- अनन्तानुबन्धी क्रोधो अनन्तानुबन्धिक्रोधप्रतिरूपः, अत्यन्ततीव्रतमत्वात्। अनन्तानुबन्धी क्रोधो अप्रत्याख्यानावरणक्रोधप्रतिरूपः, किञ्चिन्मन्दत्वात्। अनन्तानुबन्धी क्रोधः प्रत्याख्यानावरणक्रोधप्रतिरूपः, मन्दतरत्वात्। अनन्तानुबन्धी क्रोधः सञ्ज्वलनक्रोधप्रतिरूपः, मन्दतमत्वात्। एवम् अप्रत्याख्यानावरणोऽपि क्रोधो अनन्तानुबन्धक्रोधप्रतिरूपोऽत्यन्तमुत्कटत्वात्। अप्रत्याख्यानावरणक्रोधः प्रत्याख्यानावरणक्रोधप्रतिरूपः, किञ्चिदुत्कटत्वात्। अप्रत्याख्यानावरणः क्रोधः प्रत्याख्यानावरणक्रोधप्रतिरूपः, किञ्चित् मन्दत्वात्। अप्रत्याख्यानावरणः क्रोधः सञ्ज्वलनक्रोधप्रतिरूपो मन्दतमत्वात्। एवं प्रत्याख्यानावरणक्रोधोऽपि अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधचतुष्कप्रतिरूपतया चतुर्द्धा वाच्यः। एवं सञ्ज्वलनक्रोधोऽपि अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधचतुष्कप्रतिरूपतया चतुर्द्धा वाच्यः। तदेवमयं क्रोधः षोडशधापि प्रादर्शि। एवम् अनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विधमानोऽपि प्रत्येकम् अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-सञ्ज्वलनमान-चतुष्कप्रतिरूपत्वैः षोडशधा वाच्यः। एवम् अनन्तानुबन्याधदिचतुर्विधमायाऽपि प्रत्येकम् अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-सञ्ज्वलनमायाचतुष्कप्रतिरूपत्वैः षोडशधा वाच्या। एवम् अनन्तानुबन्ध्यादि-चतुर्विधलोभोऽपि प्रत्येकम् अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-सञ्ज्वलनलोभचतुष्कप्रतिरूपत्वै-स्तावद्वाच्यो यावन्मूलाभिहितचतुःषष्टिभेदापेक्षया एकषष्टितमभेदे सञ्ज्वलनलोभो अनन्तानुबन्धिलोभप्रतिरूपो, अत्यन्ततीव्रतमत्वात्। सञ्ज्वलनलोभोऽप्रत्याख्यानावरणलोभप्रतिरूपः किञ्चित् तीव्रतमत्वात्। सञ्ज्वलनलोभः प्रत्याख्यानावरणलोभप्रतिरूपो मन्दत्वात्। सञ्ज्वलनलोभः सञ्ज्वलनलोभप्रतिरूपोऽत्यन्तं मन्दतमत्वात्। ततः सङ्गमकादयोऽनन्तानुबन्धिभिरपि सञ्ज्वलनप्रतिरूपैः स्वर्गम्, श्रेणिकादयस्तु अप्रत्याख्यानैरपि अनन्तानुबन्धितुल्यैर्नरकं जग्मुरिति।

अथैतान् षोडशापि पृथिव्यादिगृहेषु बन्धं उदयं सत्तां चाश्रित्य प्रतिगुणस्थानं भावयन्नाह-

[मूल] सोलसकसाय तेसिं, बंधोदय संतए भणे कमसो ।
सव्वगिहेसु वि मिच्छे, बिंदियपमुहट्ठसू साणे ।।१५३।।
मयवसओ भूदवणे, पत्तेयं सोल बंधुदय संते ।
तिरिमणुनिरसुरमीसे, बंधुदए बार सति सोल ।।१५४।।

[व्याख्या] सुगमम्। नवरं **सति सोलस त्ति**। सच्छब्देन सत्तोच्यते। ततश्च सत्तायां षोडशेत्यर्थः ।।१५३।।।।१५४।।

तथा-

[मूल] चउसु वि गिहेसु अजए, बंधुदए बार तह य संतम्मि ।
खयसंमि बार सोलस, उवसमखाउवसमसम्मे ।।१५५।।

[व्याख्या] सञ्ज्ञितिर्यङ्मनुष्यनारकदेवसम्बन्धिषु चतुर्ष्वपि गृहेष्वयतगुणस्थानके बन्धोदययोरप्रत्याख्या-

नादयो द्वादश कषायाः। सत्तायां पुनः क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्द्वादश, क्षायोपशमिकौपशमिकदृष्ट्योस्तु षोडशेति।।१५५।।

[मूल] तिरिमणु देसे अट्ठ उ, बंधुदए संति बार खयसम्मे ।
सोल दुसम्मे नरि चउ, पमत्त अपमत्त बंधुदए ।।१५६।।

[व्याख्या] तिर्यङ्मनुष्यगृहद्वये देशविरतिगुणस्थाने प्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनरूपा(पा अ)ष्टौ कषायाः बन्धोदययोः, सत्तायां पुनः क्षायिके द्वादश। **सोल दुसम्मि त्ति**। औपशमिकक्षायोपशमिकरूपे सम्यक्त्वे द्वये षोडशेति। अत ऊर्ध्वं केवलमनुष्यगृहवक्तव्यतोच्यते- **नरि चउ** इत्यादि।।१५६।।

तथा-

[मूल] सति बार खयगि सोलस, इयर दुसम्मे ह पुव्वबंधुदए ।
चउ तह संते बारस खयगे सोलोवसमसम्मे ।।१५७।।

[व्याख्या] सुगमा। नवरं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वोदयस्य अप्रमत्ते व्यवच्छेदान्न तस्य चिन्तात्र कृतेति ।।१५७।।

तथा-

[मूल] नवमगुणे बंधुदया, भागदुगे तइयतुरियपंचमए ।
चउतदुगिक्काण कमा, अह संते खवगसेढीए ।।१५८।।

[व्याख्या] अस्मिन् गुणस्थानके कर्मस्तवाभिप्रायेण सामान्येन पञ्चभागीकृते, शतकाभिप्रायेण तु सङ्ख्येयभागीकृत्य पुनस्तस्यैव चरमे सङ्ख्येयभागे पञ्चभागीकृते प्रस्तुतौ कषायबन्धोदयौ चिन्त्येते। तत्र नवमगुणस्य प्रथमभागे सम्पूर्णेऽपि द्वितीयभागेऽपि यावत्क्रोधस्य बन्धो न व्यवच्छिद्यते तावच्चतुर्णां प्रस्तावात् कषायाणां बन्धोदयौ सहभाविनौ स्तः। एवं तृतीयभागे यावन्मानस्य बन्धो न व्रुट्यति तावत्त्रयाणाम्, चतुर्थेऽपि यावन्मायाया बन्धो नापसरति तावद् द्वयोः, पञ्चमेऽपि यावद्बादरलोभस्य बन्धो न व्यवच्छिद्यते तावदेकस्यैव लोभस्य बन्धोदयौ स्त इति[१] स्थितिः।

अथ सत्ता चिन्त्यते। सा च सत्ता क्षपकोपशमकसम्बन्धित्वेन द्विधा। तत्र क्षपकाश्रिता तावद् उच्यते। इह हि नवमगुणस्थानके षट्त्रिंशतः प्रकृतिनां सत्ताव्यवच्छेदः। स च न युगपत् किन्तु नवसु भागेषु

सोलस अट्ठेक्किक्कं, छिक्केक्केक्किक्क खीणमनियट्टी। (कर्मस्तवाख्यः द्वितीय प्राचीन कर्मग्रन्थः-७) इति क्रमेण।

एतदेव भावयति- इहानिवृत्तिबादरः प्रथमं तावद् अप्रत्याख्यानावरणक्रोधादिचतुष्कप्रत्याख्यानावरण-क्रोधादिचतुष्करूपं कषायाष्टकं युगपत् क्षपयितुमारभते। तेषु चार्द्धक्षपितेष्वेवातिविशुद्धिवशात्

सव्वत्थ सावसेसे मग्गिल्ले लग्गइ पुरिल्ले। ()

इति वचनाच्च अन्तराल एव स्त्यानर्द्धित्रिकम्, नरकद्विकम्, तिर्यग्द्विकम्, एकेन्द्रियादिजातिचतुष्टयम्, आतपम्, उद्योतम्, स्थावरम्, साधारणम्, सूक्ष्मं चेति षोडशप्रकृतीः क्षपयति प्रथमभागे। ततो द्वितीयभागे कषायाष्टकस्य क्षपितशेषमुच्छेदयति। ततस्तृतीयभागे नपुंसकवेदम्, चतुर्थभागे स्त्रीवेदम्, पञ्चमभागे हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं षट्कम्, षष्ठभागे पुंवेदम्, सप्तमभागे सञ्ज्वलनक्रोधम्, अष्टमभागे सञ्ज्वलन-

१ अत्र पङ्क्तिद्वयप्रमाणः पाठोऽवाच्य आभाति ।

मानम्, नवमभागे सञ्ज्वलनमायां व्यवच्छेदयतीति। इह च षोडशप्रकृतयः कर्मग्रन्थाभिप्रायेणैवोक्ता। आवश्यके तु–

गइ आणुपुव्वि दो दो, जाईनामं च जाव चउरिंदी। आयावं उज्जोयं, थावरनामं च सुहमं च।।
साहारणमपज्जत्तं, निद्दानिद्दं च पयलपयलं च। थीणं खवेइ ताहे, अवसेसं जं तु अट्ठन्हं(ण्हं)।।

(पञ्चसङ्ग्रह–९१६)

इत्यनेन ता एव षोडश अपर्याप्तनामाधिका सप्तदशेति।।१५८।।

सम्प्रति प्रस्तुता कषायसत्तोच्यते–

[मूल] सोलसअट्ठेक्काइसु, छेयविभागेसु नवसु जहकमसो ।
दुसु पंचसु एक्केक्के, बारचउतिगं तह दुगेक्कं ।।१५९।।

[व्याख्या] इह षोडशाष्टादीनां नवानां प्रकृतिछेदविभागानां मध्ये आद्यद्वये कषायाणां द्वादशानाम्, तृतीयादिसप्तमान्ते विभागपञ्चके चतुर्णाम्, अष्टमे त्रयाणाम्, नवमे तु प्रथमं द्वयोः पश्चादेकस्य सत्तेति तदेवाह–

[मूल] नवमंसे जो नियडी, नो छिज्जइ ताव दुन्नि परमेगो ।
पा(बा)यरलोभो चिट्ठइ, जा नवमगुणस्स पज्जंतो ।।१६०।।

[व्याख्या] स्पष्टा।।१५९।।१६०।।

तदेवमुक्ता क्षपकाश्रिता कषायसत्ता। अथोपशमश्रेणिमाश्रित्य बन्धोदयातिदेशपूर्वकं सत्तास्वरूपमाह–

[मूल] उवसमसेढीए वि य, तहेव बंधुदय नवरि संतम्मि ।
उवसमसम्मे सोलस, सयलगुणे बारखयसम्मे ।।१६१।।

[व्याख्या] उपशमश्रेणावपि कषायाणां बन्धोदयौ क्षपकस्येव पूर्ववत् व्याख्येयौ। सत्तायां तु विशेषः, यतः क्षपकस्य नवसु विभागेषु पृथक् पृथक् सत्ताभाणि। इह पुनः समग्रेऽपि नवमगुणस्थानके उपशमसम्यग्दृष्टेः षोडश, क्षायिकदृष्टेस्तु द्वादश कषायाः सत्तायां लभ्यन्त इति।।१६१।।

तथा–

[मूल] दसमे तणुलोभुदओ न हु बंधो तत्थ संति जहसंखं ।
एगो बारस सोलस खवगे खंडे य उवसमगे ।।१६२।।

[व्याख्या] बादरसञ्ज्वलनलोभस्यानिवृत्तिबादरसम्परायगुणे उदयव्यवच्छेदादि(त्) सूक्ष्मस्यैव सञ्ज्वलनलोभस्योदयः, न तु बन्धः। सत्तायां पुनः क्षपकश्रेणावेक एव सूक्ष्मः लोभः। तथा यः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः स तु उपशमश्रेणिं विधत्ते स खण्डश्रेणिकस्तस्मिन् प्रत्याख्यानादयो द्वादश। यस्तूपशमिकसम्यग्दृष्टिः स तूपशमश्रेणिमधिरोहति, तत्र षोडशापि कषायाः सन्तीति।।१६२।।

[मूल] नणु जे वेयइ से बंधइ त्ति तो किमिह लोह न हु बंधो ।
सच्चं एसो नाओ, थूलकसाए न उण सुहुमे ।।१६३।।
न य बंधो न य उदओ, उवसंते बार सोल संतंमि ।
खंडोवसमगसेढिसु, खीणाइतिगं तु अकसायं ।।१६४।।

[व्याख्या] एते स्पष्टे। **नवरं खंडि त्ति**। खण्डश्रेणिके। तथात्र मनुष्यानन्तरं प्रस्तुतावपि नारकदेवौ नाभाणि,

पूर्वमेतयोः **सव्वगिहेसु वि मिच्छे** (गाथा१५३) इत्यादौ ग्रहणात्।।१६३।।१६४।।

[मूल] इय संसारिजियाणं, भणियमिणं इण्हि तव्विवक्खाणं ।
सिद्धाणं जहसंभवमेयाणि पयाणि चिंतेमो ।।१६५।।

[व्याख्या] इत्येवं संसारिजीवानां पृथिव्यादिदेवान्तानामिदं जीवगुणस्थानादिध्येयस्थानकदम्बकं भणितम्। अथ संसारिभ्यो निष्कर्मत्वेन विपक्षाणां सिद्धानां यथासम्भवमेतान्येव जीवस्थानादीनि पदानि चिन्तयामः। एतदेवाह–

[मूल] केवलउवओगदुगं, दिट्ठी सम्मेग आगइ नरेहिं ।
साई अणंता ठिई, दुहावगाहो य सिद्धाणं ।।१६६।।

[व्याख्या] इह सिद्धानामुपयोगद्वारे केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणमुपयोगद्वयमस्ति। दृष्टिद्वारे क्षायिक–सम्यक्त्वरूपा एकैव दृष्टिः। आगतिद्वारे मनुष्यगतेरेवागतिः। स्थितिद्वारे साद्यनन्तकालरूपा स्थितिः। अवगाहद्वारे अवगाहो द्विधा।।१६६।।

स चायं–

[मूल] उक्कोसो धनुतिसई, तेतीसहिया धणुत्तिभागो य ।
सतिभागरयणि लहुओ, सिद्धेसु न सेसु वीसपया ।।१६७।।

[व्याख्या] तत्रोत्कृष्टोऽवगाहो धनुषां त्रिशती त्रयस्त्रिंशदधिका धनुस्त्रिभागश्च द्वात्रिंशदङ्गुलरूपः जघन्यः, पुनरङ्गुलाष्टका एकैव रत्निः। शेषाणि पुनर्जीवगुणस्थानादीनि विंशतिरपि पदानि सिद्धेषु शरीरस्य मिथ्यात्वादीनां चाभावान्नैव सम्भवन्तीति।। १६७।।

अथ प्रकरणसमाप्तौ एतत्प्रकरणार्थस्य सततोद्यततयाध्ययनचिन्तनपरिवर्तनध्यानपरिशीलनश्रवण–व्याख्यानादिषु स्वयं प्रवर्तमानाः परांश्चैतत्प्रकरणाध्ययनादिषु प्रवर्तयन्तो अध्येतारः, श्रोतारः, व्याख्यातारः, ध्यातारश्च यत्फलमाप्नुवन्ति तदाह–

[मूल] इय पुढवाइपएसुं, जियगुणमाईणि चिंतयंताणं ।
कम्मवणगहणदहणं, भवमहणं होइ सुहझाणं ।।१६८।।

[व्याख्या] इत्येवं पृथिव्यादिपदेषु त्रयोदशस्वपि सर्वाण्यपि जीवगुणस्थानादीनि। सिद्धेषु पुनस्तान्येव यथासम्भवं सूत्रादावुक्ततृतीयगाथाव्याख्यानप्रदर्शितध्यानविधिना ध्यायतां भव्यप्राणिनां कर्माण्येवाष्टाष्टपञ्चाश–दधिकशतसङ्ख्यानि मूलोत्तरप्रकृतिरूपाणि वनगहनं तस्य दहनमिव ज्वालाजालजटालकरालज्वलनसदृशम्, अत एव संसारतरुप्ररोहप्रवरबीजभूतस्य चतुर्विधस्यापि नारकतिर्यगङ्नरामररूपस्य भवभ्रमणस्य मथनं = निर्नाशकं भवति शुभं ध्यानं धर्मध्यानरूपम्। ततश्च विशुद्धधर्मध्यानसंसिद्धौ क्रमेण शुक्लध्यानमुपसम्पद्यते। ततोऽपि सयोग्ययोगिगुणस्थानकारोहणक्रमेण अपारसंसारपारावारपारमासाद्य सर्वात्मना निःकर्मीभूय नित्यानन्दमयं महानन्दपदं भव्यजन्तवः सपदि समासादयन्तीति। अत्र च भाष्यमहोदधिभिः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यै–र्ध्यानशतके शुभध्यानस्य फलमिदमभाणि–

संवरविणिज्जराओ, मुक्खस्स पहो तओ पहो तासिं। झाणं च पहाणं गंतव्वस्स तो मोक्खहेऊ तं।।
अंबरलोहमईणं, कमसो जह मलकलंकपंकाणं। सो झावणयणसोसो, साहिंति जलानलाइच्चा।।

तह सो ज्झाइ समत्था, जीवंबरलोहमेइणिगयाणं। झाणजलानलसूरा, कम्ममलकलंकपंकाणं।।

तावो सोसो भेओ, जोगाणं झाणओ जहा निययं। तह तावसोसभेया, कम्मस्स वि ज्झाइणो नियमा।।

जह रोगासयसमणं, विसोसण-विरो(रे)यणोसह-विहीहिं। तह कम्मामयसमणं, झाणाणसणाइजोएहिं।।

जह चिरसंचियमिंधणमनलो पवणसहिओ दुयं डहइ। तह कम्मिंधणममियं, खणेण झाणानलो डहइ।।

जह वा घणसंघाया, खणेण पवणाहया विलिज्जंति। झाणपवणावधूया, तह कम्मघणा विलिज्जंति।।

न कसायसमुत्थेहिं य, बाहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं। ईसाविसायसोगाईएहिं झाणोवगयचित्तो।।

सीयायवाईएहिं य, सारीरेहिं य सुबहुप्पगारेहिं। झाणसुनिच्चलचित्तो, न व(बा)हिज्जइ निज्जरापेही।।

इय सव्वगुणाहाणं, दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं। सुपसत्तं सद्धेयं, नेयं झेयं च निच्चं पि।।

(ध्यानशतकम्- ९६-१०४)

इह च **संवरेत्यादि** गाथाः सप्तापि सूत्रादौ द्वितीयगाथाव्याख्यानोक्ता अपि विस्मरणशीलशिष्याणा-मनुग्रहाय, पटुतरमतीनान्त(नां तु) ध्यानमाहात्म्यप्रकर्षप्रकाशनेन ध्यानाचलचूलिकाशिखराधिरोहे पुनः पुनः प्रवृत्त्यर्थं च पुनरपि लिखिताः। न चैवं पौनरुक्त्यम्, यतोऽभाणि-

अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वस्तई(त्वसूयासु)यासु।
ईषत्सम्भ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम्।। इति।। १६८।।

अथ यदुपदेशाद्यैर्यस्मिन् संवत्सरे मनःस्थिरीकरणप्रकरणमिदं सङ्कलितं तदेतदाह-

[मूल] सिरिधम्मसूरिसुगुरूवएसओ सिरिमहिंदसूरिहिं ।
मणथिरकरणपगरणं, संकलियं बारचुलसीए ।। १६९।।

[व्याख्या] इह हि जगतितले-

यः स्फूर्ज्जत्कलिकालतामसभरच्छन्नां चरित्रक्रियाम्, सिद्धान्तद्युतिभिर्विकाशमनयत्तिग्मांशुतुल्याकृतिः।

सोऽयं तीव्रतपःप्रतापवसतिर्निःसीममेधागृहम्, गोत्रालङ्कृतिरार्यरक्षितगुरुः पूर्वं बभूव क्षितौ।।१।।

यो विंशतिप्रमितवर्यपदप्रतिष्ठाम्, निर्माय निर्ममपतिः प्रतिपक्षजेता।

पीयूषरोचिरिव वारिनिधिं ततान, गच्छं ततः स समभूज्जयसिंहसूरिः।।२।।

तेषां च सद्विनेयाः विद्याचतुष्टयनिष्णातमतयः, सहभाविसूरिषु सिद्धान्तग्रन्थार्थव्याख्यातृत्वे सम्प्राप्ताप्रतिम-ख्यातयः, नानादेशेषु विहाराः, सर्वत्र च स्वपरवादिभिरप्रतिहतसूक्ष्मसूक्ष्मतरविचाराचारप्रचाराः, प्रभूताद्भुतगणि-गुणगणमणिभूरयः श्रीमद्धर्मघोषसूरयः समभूवन्। तेषां च श्रुतान्तेवासिभिरपि तत्पट्टप्रतिष्ठितैः श्रीमहेन्द्रसिंहसूरिभिः तेषामेव सद्गुरूणां पादान्ते शास्त्रोपदेशरहस्यमभिगम्य विक्रमनृपाज्जलधिवसुसूर्यसंवत्सरे (१२८४) पूर्वपूर्वतरश्रुतधर विरचितग्रन्थेभ्यः स्थूलस्थूलतरानव्युत्पन्नमतीनामपि सुखप्रतिपाद्यान् कतिपयविचारलवानभिगृह्येदं प्रकरणं सङ्क-लितम्। न पुनरत्र किमपि स्वमनीषिकाविजृम्भितमस्ति। तद्यद्येवमपि किमपि वितथमजनि तद्विबुधैः सम्यक् परिज्ञाय शोधनीयमिति।।१६९।।

अथैतत्प्रकरणकरणकारणाविःकरणपूर्वकमेतदध्ययनादिषु शिष्यान् प्रवर्तयन्नाह-

[मूल] मणकविचवलो विसएसु धावए तस्स नियमणं परमं ।
मणथिरकरणं एयं, तो पढ गुण चिंत सयकालं ।।१७०।।

[व्याख्या] यथा कपिः प्रकृत्यैव सततमपि चञ्चलस्वभावो भवति। एवं मनःकपिरपि दिवा वा, रात्रौ वा, एकाकी वा, बहुजनपरिवृतो वा, अरण्ये वा, ग्रामादौ वा, रोगे वा, विप्रयोगे वा, हर्षे वा, शोके वा, जाग्रद्वा, निद्रागतो वा, च्छातो वा, ध्रातो वा, प्रायेण सततमपि विषयानुव्रजनशीलो भवति। ततस्तस्य विषयवनं प्रति प्रधावमानस्य सम्यगेतत्प्रकरणमपि युज्यमानं नियमनमिव स्वेच्छाप्रचारनिवर्तकशृङ्खलादामेव। तस्मादायुष्मन् ! त्वमेतत् प्रकरणं पठ = सततमुद्घोषणेन स्वायत्तं विधेहि, गुण = स्वनामेव परिचितं कुरु, चिन्तय = निरन्तरमेतदर्थानां ध्यानमाचर, उपलक्षणत्वाद् व्याख्यानय = अन्यानपि पठनादिषु प्रवर्तय, परम् अयोग्यपरिहारेण योग्यानेव। उक्तं च–

कल्याणाभिनिवेशवानिति गुणग्राहीति मिथ्यापथप्रत्यर्थीति विनीत इत्यशठ इत्यौचित्यकारीति च। दाक्षिण्यीति दमीति नीतिभृदिति स्थैर्यीति धैर्यीति सद्धर्मार्थीति विवेकवानिति सुधीरित्युच्यसे त्वं मया।।

(सङ्घपट्टकः–२)

इति मनःस्थिरीकरणस्य कतिपयानां विषमविषमतरगाथानां भावार्थमात्रप्रदर्शकं सङ्क्षिप्ततरं विवरणमपि तैरेव श्रीमहेन्द्रसिंहसूरिभिर्विहितमिति।।

।। मङ्गलमस्तु एतदध्येतृ–अध्यापय(यि)तृ–श्रोतृ–व्याख्यातृभ्यः।।

।। विजयतां चतुर्विधोऽपि श्रीसङ्घभट्टारक इति।।

यावन्नन्दति सङ्घो यावच्च वर्द्धमानजिनतीर्थम्। तावत्प्रकरणमिदमपि, बुधजनमनसि स्थिरं भवतु।।

ग्रं२३००।। इति मनःस्थिरीकरणविवरणं समाप्तम्।।

।। मङ्गलं महाश्रीः।।

।। शुभं भवतु चतुर्विधसङ्घस्य।।

परिशिष्ट–१

।। मनःस्थिरीकरणप्रकरणमूलमात्रम्।।

नमिऊण वद्धमाणं, चलस्स चित्तस्स किंचि थिरकरणं। सपरोवयारहेउं गुरूवएसेण वोच्छामि।।१।।
कम्मस्स खवणहेऊ, परमो झाणं जिणेहिं निद्दिट्ठो। झेयं च तत्तनवगं, तत्थवि जियतत्तमाइतओ।।२।।
पुढवीजलग्गिमरुतरुबितिचउखदुविहपणिंदितिरिएसुं। मणुनिरसुरेसु झायसु, जियगुणठाणाइ जीवगुणे।।३।।
जियगुणठाणा जोगोवओग तणु लेस दिट्ठि पज्जत्ति। पाणाउ आगइगई, कुल जोणी वेय कायठिई।।४।।
संघयणं संठाणावगाह मूलियरपयडिबंधदुगं। समुघाय दुविहहेऊ, कसाय इइ झेयपणवीसा।।५।।
तत्थ वि गुणउवओगा, दिट्ठी मुण सुत्तकम्मगंथेहिं। आउठिई कायठिई वगाहकम्माणि लहुगुरुत्तेहिं।।६।।
उत्तरपयडि तह दुह, हेऊ य कसाय पइगुणं चउरो। चउदस उट्ठाहगिहा, मंगलपुढवीजलाईया।।७।।
मंगल जियगुणमाई, तिरियं पणतीस जं तिहवगाहो। अडमूलपयडिएगं, मूलगिहं सेस तेवीसा।।८।।
इय भूमिपट्टगाइसु, जंतं लिहिऊं पडं व ठविऊणं। तो गिहअंके दिंतो, चिंतेतो वा सरसु सुत्तं।।९।।
जियठाणा सुहमेयरइगिंदिबितिचउपणिंदिसन्नियरा। पज्जअपज्जा चउदस, अपज्ज दुह लद्धिकरणेहिं।।१०।।
जं निरसुरमिहुणेसुं, जियठाणदुगं पएँ पए भणियं। न य ते लद्धिअपज्जा, तों इह अपज्जत्त दुविहावि।।११।।
नियनियपज्जत्तीणं, अंतं एहिंति न पुण ता पत्ता। ते करणे अपज्जत्ता, जे उण नियनियपज्जत्तीणं।।१२।।
अंतं न जंति अंतरमरंति ते हुंति लद्धिअपज्जत्ता। नियनियपज्जत्तिअंतं, जे पत्ता ते उ पज्जत्ता।।१३।।
आइमचउएगिंदिसु, नियनियजियट्ठाण दु दुगविगलमणे। तिरिनिरयसुरंतदुगं, नरि अंतदुगं तहेक्कारं।।१४।।
गुणमिच्छसाणमीसा, अविरयदेसा पमत्तअपमत्ता। नियट्टिअनियट्टिसुहमोवसंतखीणा सजोगियरा।।१५।।
सुत्ते मिच्छमिगिंदिसु, गुणदुग भूदगवणेसु कम्मइगा। दो विगलमणे पणतिरि, नरि चउदस चउर निरयसुरे।।१६।।
पनरस जोगा सच्चं, मुसमीसमसच्चमोस मणवयणं। उरलविउव्वाहारा, तम्मिस्सतिगं च कम्मो य।।१७।।
कम्मोरल दुगजोगा, तिन्नेगिंदिसु विउव्विदुगजुत्ता। पण मरुसु बि विगलमणे, कम्मुरलदुगं वई तुरिया।।१८।।
आहारदुगं वज्जिय, तेरस तिरिएसु पनरस नरेसु। उरलदुगाहारदुगं, वज्जिय एक्कार निरयसुरे।।१९।।
नाणं पंचविहं तह, अन्नाणतिगं च अट्ठ सागारा। चउदंसणमणगारा, बारस जियलक्खणुवओगा।।२०।।
अन्नाणदुगमचक्खुदंसण एगिंदि तिन्नि उवओगा। मइसुयनाणअनाणा, अचक्खु इय पंच दुतिकरणे।।२१।।
एए सचक्खुदंसा, चउरिंदि असन्निएसु छच्चेव। नरि बारस केवलदुगमूण नव तिरियनिरयसुरे।।२२।।
सुत्ते दुतिकरणाणं, पण पण छ छच्च अमण चउकरणे। कम्म इगा ति ति चउ चउ, नाणदुगूणा जओ तेसिं।।२३।।
सासणभावे नाणं, विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं। नेगिंदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयंपि।।२४।।
उरलविउव्वाहारगतेयसकम्मा तणु त्ति नरि पण वि। नरि पणवि कम्मोरलतेयतिगं अवाउएगिंदिविगलमणे।।२५।।
मरुतिरि तं सविउव्वं, वेउव्वियतेयकम्म सुरनिरए। (दारं) किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्ह सुक्क छल्लेसा।। २६।।
आइचउ भूदगवणे, सिहिमरुविगलेसु अमणनिरएसु। आइतिगं तह सन्नी, तिरिमणुदेवेसु छल्लेसा।। २७।।

सम्मं मिच्छं मीसं, दिट्ठितिगं तत्थ सुत्तआएसा। पुढवाइ पंच मिच्छा, भूदवणे दिट्ठिदुग कम्मा।।२८।।
मिच्छं सासण सम्मं, दिट्ठिदुगं विगलअमणतिरिएसु। सन्नितिरिमणुयनारयदेवेसुं होइ दिट्ठितिगं।।२९।।
आहार तणू इंदिय, ऊसासे वय मणे छ पज्जत्ती। एगिंदिसु आइचउ, पंच उ विगलेसु अमणे य।।३०।।
पण पज्जति सुरेसुं, भासमणा जुगव होंति जं तेसिं। तिरिमणुनिरए छप्पिअय, जीवाभिगमाइ भणियमियं तु।।३१।।
पणइंदियमणवयतणुऊसासाऊणि हुंति दस पाणा। एगिंदिसु ते चउरो, फासाऊतणुबलुस्सासा।।३२।।
सरसणवयणा ते छ उ, सघाण सत्त उ सनेत्त ते अट्ठ। ससवण नव विगलमणे, समणा दस पाण सेसेसु।।३३।।
पुढवाइकारसेसुं, लहु अंतमुहूत्तहा निरसुराणं। दससमसहस्स लहुयं, तेतीसयराइं गुरुमाउं।।३४।।
बावीस सत्त समसहस, तिदिण तिदससमसहस बारसमा। उणपन्नदिण छम्मासा, पुव्वकोडि तिपल्ल पल्लतियं।।३५।।
पुढवाइ इंति जत्तो, सा इह आगइ गई उ जहिं जंति। निरयाइ आगइ चऊ, सन्नितिरिनराण चउरो वि।।३६।।
भूदगतरवो तिरिनरसुरेहिं सेसट्ठ तिरियमणुएहिं। गइ पंचह निरतिरिमणुसुरसिवरूवा पण वि मणुए।।३७।।
सिहिमरवो तिरिगईया, चउगइया सन्नसन्निणो तिरिया। भूदगतरुविगलनारयसुरा य जंति तिरिनरेसुं।।३८।।
उप्पत्तिठाण जोणी, कुलाणि उप्पज्जमाण तणुभेया। जोणेगत्तपुहत्तं, वन्नाइचउविसेसेहिं।।३९।।
एत्तो च्चिय बहुगीण वि, एगा जोणी इगित्थिए णेगा। जोणिकुले चउभंगो, इगबहुवन्नाइजाइकओ।।४०।।
पढमो जह इगछगणे, जीवा इगजाइ एगवन्नाई। बितिओ तम्मि वि बितिचउबहुजाई बहुगवण्णाई।।४१।।
विविहछगणेसु तइओ, समवन्नाई समाणजाइजीया। तुरिओ तेसु वि णेगे, बहुजाई णेगवण्णाई।।४२।।
कुलएगकोडि कोडीसनवई कोडिलक्खपन्नासं। कोडिसहस्सा तत्थिगविगलेसुं कोडिलक्खकमा।।४३।।
बारस सत्त ति सत्तग, अडवीस सत्त अट्ठ नव चेव। मुच्छियरतिरिसु दोसु, सट्ठतिपन्ना जओ सुत्ते।।४४।।
कुलकोडिजोणिलक्खा, गब्भियरतिरीण पिहु पिहु न उत्ता। तेणेह वि न विसेसो, घडंति पुण दोण्हवि सव्वे।।४५।।
अधतेर बार दस दस, नव जलविथलोरुभुज त्ति वण्णेयं। सट्ठाह मणुनिर सुरे, बारस पणवीस छव्वीसा।।४६।।
चुलसीइ जोणिलक्खा, सग सग पुढवीजलग्गिपवणेसु। तरुसु चउवीस जं दस, चउदस पत्तेयइयरेसु।।४७।।
बितिचउरिंदिसु दो दो, चउरो दुह तिरिसु चउदस नरेसु। चउरो चउरो नारय, देवेसुं जोणिलक्खा उ।।४८।।
इत्थी पुरिस नपुंसग, वेया तिन्नी कमेण तेसुदए। इत्थीए पुरिसोवरि, अभिलासो फुंफुयग्गिव्व।।४९।।
इत्थिं पइ पुरिसस्स वि, रागो सुक्खतणपूलजलणसमो। महनगरदाहसरिसो, उभयभिलासो नपुंसस्स।।५०।।
सन्नितिरिनर तिवेया, असन्नि संठागिइ तिवेया वि। देवा पुमित्थिवेया, नपुवेया निरयइगविगला।।५१।।
पुढवाइएगकाए, पुण पुण उप्पत्ति एस कायठिई। सा लहु तिरिगिहदसगे, नरे य अंतमुहुभवजुम्मे।।५२।।
गुरु भूदगग्गिपवणे, असंख उसप्पिणी उ कायठिई। तरुसु अणंता बितिचउरिंदिसु संखिज्जसमसहसा।।५३।।
समयपएसवहारे, असंखलोगे हरंति जावइया। तत्तिय असंखणंता, ऊणंतलोगेऽह ताहिं तु।।५४।।
पोग्गलपरट्ट ते पुण, आवलियसमयअसंखभागंमि। असन्नीतिरियाणं [य,] पुव्वकोडीओ सत्तेव।।५५।।
सन्निसु तिरिसु नरेसु य, सतिपल्ला सत्तपुव्वकोडीओ। भवठिइ जा सुरनरए, दुहावि सच्चेव कायठिई।।५६।।
वज्जरिसहनारायं, पढमं बीयं च रिसहनारायं। नारायमद्धनाराय, कीलिया तह य छेवट्ठं।।५७।।

कीलियपट्टयमक्कडबंधा इह वज्जरिसहनाराया। एयतियजुत्त पढमं, बिईयमवज्जं अरिसहं वा।।५८।।
वज्जयरिसहदुगूणं, मक्कडबंधदुगसंजुयं तइयं[1] तुरियमिगपासबद्धं, बिइयंते कीलियाविद्धं।।५९।।
पंचममबद्धपट्टं, सकीलियं छट्ठमं तदुगपुट्ठं। चरिममिगविगलअमणे, सन्नीतिरि माणवा छद्धा।।६०।।
सुरनिरय असंघयणी, जीवाभिगमम्मि भणियमेयं तु। संघयणि कम्मगंथे, इगिंदिया वि असंघयणा।।६१।।
समचउरंसे नग्गोहमंडले साइखुज्जवामणए। हुंडित्ति छ संठाणा, सव्वत्थ सलक्खणं पढमं।।६२।।
नाभुवरि नाभिअहो, उरपुट्ठिउयरवज्जवयवेसु। करपयसिरगीवविणा, सलक्खणं कत्थवि न छट्ठं।।६३।।
हुंडं चिय पुढवाइसु, नियय विविहं तरुसु विगलमणे। समणतिरिमणुसु छप्पिय, नरए भवजेयरे हुंडे।।६४।।
देवे समचउरंसं, भवधारिसरीरमुत्तरं नाणा। (दारं) अवगाहो तणुमाणं, उरले तह दुविह विउव्वेय।।६५।।
पुढवाइकार लहुयं, उरलं भूदग्गिमरुसु गुरुयं पि। अंगुलअसंखभागो, अह गुरुजोयणसहस्सहियं।।६६।।
तरुसुं विगले जोयण, बारसकोसतिग जोयणं एक्कं। समणामणतिरि जोयणसहसं मणुएसु कोसतिगं।।६७।।
निरसुरभववेउव्वं, लहुयं अंगुलअसंखभागो उ। निरए पंचधणुस्सय, सुरेसु करसत्त उक्कोसं।।६८।।
उत्तरवे(वि)उव्वि पवणे, अंगुलभागो असंखु दुविहं पि। सन्नितिरिमणुयनिरसुर, अंगुलसंखं सलहु सतणू।।६९।।
गुरु सन्नितिरिसु जोयणसयपोहत्तं नरेसु लक्खहियं। नरएसु धणुसहस्सं, जोयणलक्खं तु देवेसु।।७०।।
नाणस्स दंसणस्स य, आवरणं वेयणीयमोहणीयं। आउयनामं गोयंतराय इय मूल अडपयडी।।७१।।
आवरणदुगे विग्घे, बंधहि एगिंदिया हु अयरस्स। सत्तं सगतिगमूणं, जहन्नमुक्कोसओ पुन्नं।।७२।।
दस इगवीस बिचत्ता, चउसयअडवीस अयर विगलमणे। सत्तंस पण ति छ चऊ, किंचूण लहू गुरू पुन्ना।।७३।।
मूलियर पयडि नियनियगुरुठिइ हर सयरिकोडिकोडिए। जं लद्धं तमिगिंदियगुरुठिई किंचूण सा लहुई।।७४।।
एयं चिय एगिंदियबंधं विगलामणेसु जाणाहि। पणुवीसा पन्नासा, सएण सहसेण गुणिऊणं।।७५।।
कम्मा असंखुगिंदिसु, संखो विगलामणेसु ऊणत्ते। पन्नवण तिवीसपए, सव्वेसि असंखु पल्लंसो।।७६।।
चउदसंगतिगमूणं, सत्तंसा पुन्न तिन्नि वेयणीए। लहुगुरुठिइ इगिंदिसु, विगलमणे अयर पण दस य।।७७।।
इगवीसा चउ द(दु)त्तर, दुसई चउदंस पंच दस छ चऊ। किंचूणा हुस्सठिई, गुरुई जा णाणवरणिज्जे।।७८।।
सा पुण दस इगवीसा, अयरपि(बि)चत्ता तह ट्ठवीसहिया। सयचउरो उवरिं पण, ति छ चउ सत्तंसया पुण्णा।।७९।।
सत्तंसो किंचूणो, मोहे एगिंदि बंधठिई हुस्सा। गुरु अयरं संपुन्नं, विगलमणे अयर तिग सत्त।।८०।।
चउदस बायालसयं, अंसा चउ इग दु छच्च ऊण लहू। पुन्नं पा(णा)वीस पन्ना, सयं सहस्सं च अयर गुरू।।८१।।
नामे इगि सत्तंसं, विगलमण अयर तिसत्त चउदसगं। बायालसयं उवरिं, चउइग दु छ अंस ऊन लहू।।८२।।
भूदवणा सत्तंसं, उच्चे विगलमण अयरतिगसत्त। चउदस बायालसयं, लहु चउ इग दु छ य ऊणंसा।।८३।।
तीइगि सत्तंसदुगं, विगलमणा अयरसत्त चउदसगं। अडवीस दुसय पणसी, इग दु चउपणं सऊणलहू।।८४।।
गुरु नामि गोइ इगि दो, सगंस विगलमण अयर सग चउद। अडवीस सपणसीया दुसई पुन्नं सइग दु चउ पंच।। ८५।।
नरि घाइसुं अंतमुहू, मुहुत्त अड नामगोय बारेगे। अयरंतकोडिकोडी, सत्तसु लहु तिरियनिरयसुरे।।८६।।
गुरु अयरकोडिकोडी सयरी, मोहंमि नामगोएसु। वीसं तीसं चउसुं, सन्नी तिरिमणुनिरसुराणं।।८७।।
लहु मज्झ गुरु अबाहा, आउ त्ति बंधेहिं हुंति नवभंगा। पढम चउ पंचमट्ठम, नवमे मुणे सयं चउरो ते।।८८।।

पुढवाइ एक्कारस, बंधहिं लहु परभवाऊ अंतमुहू। पुव्वभव लहु अबाहा, अंतमुहुत्तं पि इह मज्झे।।८९।।
इगविगल पुव्वकोडिं, पराउ अमणो असंखपल्लंसं। तिरिनरतेतीसयरे, बंधहिं एसिं अबाह इमा।।९०।।
सतिभागसत्तसहसा, वासाणं दुन्नि सहस सतिभागा। दिणमेग वाससहसो, सतिभागा तिन्नि समसहसा।।९१।।
वासचउक्कं सोलस, सतिभागदिणा तहेव मासदुगं। पुव्वकोडितिभागो, दुहतिरि मा(म)णुए सस अबाहा[1]।९२।।
एयाण उ अबाहाण, जोगिभंगा भवंति तिन्नेए। अट्ठसु गिहेसु पंचसु, नवमिट्ठसु गिहिदुगे नवमो।।९३।।
नारयसुरा जहन्नं, परभव आउं करिंति अंतमुहू। गुरुयं पि पुव्वकोडिं, दुविहे वि अबाह छम्मासा।।९४।।
आउसि जइवीय पायं, सुव्वइ पडिवयणमुदयमित्तेणं। तहवि य पन्नवणाए, अबाहउदएहिंतो इह वि।।९५।।
अह उदयमित्तविक्खं, भन्नय अंतमुह कुणहि तेरा वि। लहु परभवाओ अह गुरु, इगविगला पुव्वकोडिं तु।।९६।।
पल्लस्स [उ] अस्संखं, असन्नितिरियाउ सन्नितिरिमणुया। तेतिसयरे निरसुर, पुव्वकोडिं तु बंधंति।।९७।।
इय कम्मसु बंधट्ठिती, वुत्ता तिविहं भणामि अहुणा ऊ। ठीबंधाबाहोदय, विसयकालप्पमाणं तु।।९८।।
ठिइबंधु अबाहुदया, दुन्नि वि बंधोदयंतरमबाहा। उदओ अबाहु उवरिं, कम्मणु पुग्गलरसाणुभवो।।९९।।
पण नव दुग छव्वीसा, चउरो सत्तट्ठि दुन्नि पंचेव। उत्तरपयडीणेवं, वीससयं बंधमासज्ज।।१००।।
मिच्छं नपुनिरयतिगं, हुंडं छेवट्ठ थावरचउक्कं। इगिविगलतिगं आयवमिइ पयडी सोल मिच्छंता।।१०१।।
थीणतिगित्थीतिरितिग, अण नी कुखगइ उजोय दुभगतिगं। मज्झिमसंघयणागिइ, चउ चउ पणवीस साणंता।।१०२।।
निरयसुराउविउव्वियछक्काहारदुगतित्थ मुत्तूण। बंधहिं नवअहियसयं, भूदवणा उत्तरा पयडी।।१०३।।
कम्मा भूदगतरूसुं, साणे चउणवइ सा तिरिनराऊ। नरयतिगूणा मिच्छंतसोल मुत्तुं नवसयाओ।।१०४।।
गइतस अनरतिगुच्चं, पंचहियसयं तहा विगलमिच्छा। नवहियसयमह साणा, चउणवइं दो वि जह पुव्विं।।१०५।।
तित्थाहारदुगुज्झिय, सतरसयं अमणमिच्छ अह साणा। मिच्छंतसोल सुरनरतिरियाउं मुत्तु अडनवइं।।१०६।।
नणु साणगुणे आउगबंधे सत्थंतरे स किं नेह। भन्नइ एए साणा, भवाइए नाउ बंधंसि।।१०७।।
तित्थाहारदुगविणा, सतरसयं सन्निणो तिरियमिच्छा। साणा एगहियसयं, मिच्छंता सोल मुत्तूणं।।१०८।।
साणंतं पणवीसं, उसभोरलदुगसुराउ मणुयतिगं। मुत्तु गुणसयरि मीसा, ससुराउं सत्तरिं सम्मा।।१०९।।
बीयकसाए वज्जिय, छसट्ठि देसा तिरिव्व गुण पंच। मणुए वि नवरि तित्थं, अजए देसे य खिव अहियं।।११०।।
तइयकसाऊण तिसठि, छट्ठए सोगअरइअथिरदुगं। अजसअसाए हिच्चा, आहारदुगंमि खित्तम्मि।।१११।।
अपमत्तों जो सुराउं, पमत्त आरद्धयं तु जा पुरे। ताव गुणट्ठिं तदुवरि, अडवनमियरो य तामेव।।११२।।
अपुव्वे सत्तंसा, एसेवडवन्न पढमभागंमि। बितिचउपणछट्ठेसुं, निद्दुगं मुत्तु छप्पण्णा।।११३।।
सुरविउव्वाहारदुगा, जसूणतसदसगतित्थसुहखगई। अगुरुव्वग्घाउस्सासं परघाय पणिंदि नमिण समचउरं।।११४।।
वन्नचउ तेयकम्मि त्तितीस मुत्तुं छव्वीस चरिमंसे। भयकुच्छरइहासूण, बावीसा नवमपढमंसे।।११५।।
अनर इगवीस बीए, तइए वीसा अकोड अह तुरिए। माणूणा गुणवीसा, मोऊणट्ठार पंचमए।।११६।।
लोभूण सतर सुहुमे, जसुच्चचउदंसविग्घनाणविणा। उवसंत खीणजोगा, सा एग अजोगि न हु बंधो।।११७।।
विगलसुरसुहमनारयतिगाणि आहारदुगविउव्विदुगं। तत्थ इगि थावरायव, मुत्तूण सयं नरि य मिच्छा।।११८।।

वेउव्वाहारदुगं, नारयसुहुमविगलतियगाणि। तित्थं च मुत्तु तिगहियसयमिह बंधंति मिच्छसुरा।।११९।।
हुंछेनपुमिच्छ विणा, छन्नवई निरय साण सुरसाणा। नपुमिच्छायवहुंछे, इगथावरऊण छन्नवई।।१२०।।
मीसा निरसुरसयरिं, नराउ साणंत पंचवीस विणा। तित्थनराउगसहियं, पिगसयरिं सम्मनिरयसुरा।।१२१।।
वेयणकसायमरणा, वेउव्वितेयहारकेवलिया। समुग्घाया नरि सत्त वि, भूदतरुविगलअमण आइतिगं।।१२२।। गीतिः।।
सविउव्वं मरुनिरए, सतेयसमुग्घाय पंच तिरियसुरे। अडसमया केवलिए, असंखसमयंतमुह छसु वि।। १२३।।
छम्मासवसेसाऊ, नियमा न करेइ सो समुग्घायं। हीणे करेइ नियमा, अहिए भयणा उ केवलिणो।।१२४।।
बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोगो त्ति मूल हेउचऊ। पुढवाइतेरसेसु वि, पएसु मिच्छंमि ते सव्वे।।१२५।।
कम्मा भूदवणेसुं, साणं पि तहिं अमिच्छया तिन्नि। अह बिंदिमाइ अट्ठसु, गिहेसु साणंमि हेउतिगं।।१२६।।
सन्नितिरिमणुयनारयसुराण मीसंमि तह य अजियंमि। तह तिरिमणु देसे वि य, हेउतिन्नेव मिच्छ विणा।।१२७।।
छट्ठाइ दसंतेसुं, कसायजोगा नरेसु दो हेऊ। गुणतियगे जोगु च्चिय, हेउअभावो अजोगम्मि।।१२८।।
मिच्छाइ हेउउत्तरभेया सगवन्न पंचहा मिच्छं। आभिग्गह-अणभिग्गह-संसयभिनिवेस-अणभोगा।।१२९।।
बारसविहा अविरई, मणइंदियअनियमो छकायवहो। नव य कसाया किरिया, पणवीसं पन्नरस जोगा।।१३०।।
अणभोगं मिच्छत्तं, फासिंदिच्छकायअविरईउ य। कम्मोरलतम्मिस्सा, अनरित्थि कसायतेवीसा।।१३१।।
इय चउतीसं हेऊ, इगिंदिपणगंमि मिच्छगुणठाणे। वेउव्वियतम्मिस्सयजुत्ता छत्तीस वी मरुसु।।१३२।।
कम्मइगा पुण सासणभावे भूदगवणाण इगतीसं। चउतीसा उ हिच्चा उरलं फासिंदि मिच्छं च।।१३३।।
नणु हेऊ उदियच्चिय, भन्नंती कम्मबंधिणो तो किं। इगबितिचउरमणाण वि, अत्थि हु हासाइणं उदओ।।१३४।।
सच्चं एसिं उदओ, भणिओ जियठाणमोहसंवेहे। सयरीगंथे अट्ठसु, पंचसु एगि त्ति गाहाए।।१३५।।
पुव्वुत्ता चउतीसा, सतुरियवयरसण पुण वि छत्तीसा। घाणेण चक्खुसुइणा, सगतीसडतीस गुणचत्ता।।१३६।।
बितिचउरमणाणं, मिच्छे साणे उ चउहि वि उरलं। मिच्छत्ततुरियवयणं, हिच्चा नहइंदियाइं कमा।।१३७।।
दुगतिगचउपण मुत्तुं, तो सव्वहि होइ हेउइगतीसं। नणु कह उरलनिसेहो, करणनिसेहो य साणेसु।।१३८।।
भन्नइ इत्थं सुणसु, भणियमिणं जह य बंधसामित्ते। इगिविगलिंदियसाणा, तणुपज्जत्तिं न जंति त्ति।।१३९।।
तो पज्जतिअभावा, किह तणुजोगो कहं च करणाइं। जइ एवं किह तेसिं, एगबिंदियमाइ ववएसो।।१४०।।
भन्नइ सो ववएसो, इगिं बिंदियमाइ आउरुदयाउ। अह सन्नितिरिय मिच्छे, आहारदुगूण पणपण्णा।।१४१।।
मिच्छूण पण्ण साणे, अणकम्मोरलविउव्वि मीसदुगं। वज्जिय तिचत्त मीसे, कम्मण विउव्वुरलमिस्सदुगं।।१४२।।
खिविउं छचत्त अजए, तसअविरइ कम्म उरलमीसेहिं। बीयकसाएहिं विणा, गुणचत्ता देसजइतिरिए।।१४३।।
नरि हेउ पणपन्ना, पन्न-ति-चत्ता-छचत्त-गुणचत्ता। छच्चउ दुगहियवीसा, सोलस दस नव नवय सत्त।।१४४।।
गुण पंच तिरि नरे, छट्ठे एक्कार अविरइ कसाए। तइए मुत्तु छवीसा, खेत्ते आहारतम्मिस्से।।१४५।।
साहारमीस विउव्वियमीसे मुत्तु चउवीसमपमत्ते। अप्पुव्वे बावीसा, वेउव्वहारतणुऊणा।।१४६।।
छक्कूण सोल नवमे, तिवेयसंजलतिगूण दस दसमे। संजलणलोभऊणा, नव नव उवसंतखीणेसु।।१४७।।
सच्चं असच्चमोसं, दुविहमणं दुहगई य उरलदुगं। कम्मण सत्त सजोगे, हेउअभावे(वो) अजोगम्मि।।१४८।।

आहारोरलदुगदुग, इत्थीपुरिसूण हेउइगवन्ना। निरए मिच्छे साणे, उ मिच्छपणगूण छायाला।।१४९।।
अण-कम्मण-वेउव्वियमीसं चइऊण मीसए चत्ता। सवेउव्वि मीसकम्मा, बायाला सम्म नेरईए।।१५०।।
उरलदुगाहारदुगं, नपुवेयं चइय हेउबावन्नं। मिच्छसुरे साणे पुण, सगचत्ता मिच्छपणगूणा।।१५१।।
कम्मणऽणंत-वेउव्वियमिसूणा मीसयम्मि इगचत्ता। वेउव्वि मीसकम्मणजुत्ता तिगचत्त सम्मसुरे।। १५२।।
सोलसकसाय तेसिं, बंधोदय संतए भणे कमसो। सव्वगिहेसु वि मिच्छे, बिंदियपमुहट्ठसू साणे।।१५३।।
मयवसओ भूदवणे, पत्तेयं सोल बंधुदय संते। तिरिमणुनिरसुरमीसे, बंधुदए बार सति सोल।।१५४।।
चउसु वि गिहेसु अजए, बंधुदए बार तह य संतम्मि। खयसंमि बार सोलस, उवसमखाउवसमसम्मे।।१५५।।
तिरिमणु देसे अट्ठ उ, बंधुदए संति बार खयसम्मे। सोल दुसम्मे नरि चउ, पमत्त अपमत्त बंधुदए।।१५६।।
सति बार खयगि सोलस, इयर दुसम्मे ह पुव्वबंधुदए। चउ तह संते बारस खयगे सोलोवसमसम्मे।।१५७।।
नवमगुणे बंधुदया, भागदुगे तइयतुरियपंचमए। चउतदुगिक्काण कमा, अह संते खवगसेढीए।।१५८।।
सोलसअट्ठेक्काइसु, छेयविभागेसु नवसु जहकमसो। दुसु पंचसु एक्केक्के, बारचउतिगं तह दुगेक्कं।।१५९।।
नवमंसे जो नियडी, नो छिज्जइ ताव दुन्नि परमेगो। पा(बा)यरलोभो चिट्ठइ, जा नवमगुणस्स पज्जंतो।।१६०।।
उवसमसेढीए वि य, तहेव बंधुदय नवरि संतम्मि। उवसमसम्मे सोलस, सयलगुणे बारखयसम्मे।।१६१।।
दसमे तणुलोभुदओ, न हु बंधो तत्थ संति जहसंखं। एगो बारस सोलस, खवगे खंडे य उवसमगे।।१६२।।
नणु जे वेयइ से बंधइ त्ति तो किमिह लोह न हु बंधो। सच्चं एसो नाओ, थूलकसाए न उण सुहुमे।।१६३।।
न य बंधो न य उदओ, उवसंते बार सोल संतंमि। खंडोवसमगसेढिसु, खीणाइतिगं तु अकसायं।।१६४।।
इय संसारिजियाणं, भणियमिणं इण्हि तव्विवक्खाणं। सिद्धाणं जहसंभवमेयाणि पयाणि चिंतेमो।।१६५।।
केवलउवओगदुगं, दिट्ठी सम्मेग आगइ नरेहिं। साई अणंता ठिई, दुहावगाहो य सिद्धाणं।।१६६।।
उक्कोसो धनुतिसई, तेतीसहिया धणुत्तिभागो य। सतिभागरयणि लहुओ, सिद्धेसु न सेसु वीसपया।।१६७।।
इय पुढवाइपएसुं, जियगुणमाईणि चिंतयंताणं। कम्मवणगहणदहणं, भवमहणं होइ सुहझाणं।।१६८।।
सिरिधम्मसूरिसुगुरूवएसओ सिरिमहिंदसूरिहिं। मणथिरकरणपगरणं, संकलियं बारचुलसीए।। १६९।।
मणकविचवलो विसएसु धावए तस्स नियमणं परमं। मणथिरकरणं एयं, तो पढ गुण चिंत सयकालं।।१७०।।

परिशिष्ट–२

।। मनःस्थिरीकरणप्रकरणस्य श्लोकार्द्धानुक्रमः ।।

गाथा	क्रम	पूर्वार्ध/उत्तरार्ध
अंगुलअसंखभागो	६६	उ.
अंतं न जंति	१३	पू.
अगुरुव्वग्घाउस्सासं	११४	उ.
अजसअसाए हिच्चा	१११	उ.
अट्ठसु गिहेसु पंचसु	९३	उ.
अडमूलपयडिएगं	८	उ.
अडवीस दुसय	८४	उ.
अडवीस सपणसीया	८५	उ.
अडसमया केवलिए	१२३	उ.
अण–कम्मण–वेउव्विय	१५०	पू.
अणभोगं मिच्छत्तं	१३१	पू.
अधतेर बार	४६	पू.
अनर इगवीस	११६	पू.
अन्नाणदुगमचक्खुदंसण	२१	पू.
अपमत्तो जो सुराउं	११२	पू.
अपुव्वे सत्तंसा	११३	पू.
अप्पुव्वे बावीसा	१४६	उ.
अयरंतकोडिकोडी	८६	उ.
अवगाहो तणुमाणं	६५	उ.
असंघयणी जीवा	६१	पू.
असन्नीतिरियाणं	५५	उ.
अह उदयमित्तविक्खं	९६	पू.
अह बिंदिमाइं	१२६	उ.
अह सन्नितिरियमिच्छे	१४१	उ.
आइचउ भूदगवणे	२७	पू.
आइतिगं तह सन्नी	२७	उ.
आइमचउएगिंदिसु	१४	पू.
आउठिई कायठिई	६	उ.
आउयनामं गोयंतराय	७१	उ.
आउसि जइवीयं	९५	पू.
आभिग्गह–अणभिग्गह	१२९	उ.

गाथा	क्रम	पूर्वार्ध/उत्तरार्ध
आवरणदुगे विग्घे	७२	पू.
आहार तणू इंदिय	३०	पू.
आहारदुगं वज्जिय	१९	पू.
आहारोरलदुगदुग	१४९	पू.
इगबितिचउरमणाण	१३४	उ.
इगविगल पुव्वकोडिं	९०	पू.
इगवीसा चउ द(दु)त्तर	७८	पू.
इगिविगलतिगं	१०१	उ.
इगिविगलिंदियसाणा	१३९	उ.
इत्थिं पइ पुरिसस्स	५०	पू.
इत्थी पुरिस	४९	पू.
इत्थीए पुरिसोवरि	४९	उ.
इय कम्मसु बंधट्ठिती	९८	पू.
इय चउतीसं हेऊ	१३२	पू.
इय पुढवाइपएसुं	१६८	पू.
इय भूमिपट्टगाइसु	९	पू.
इय संसारिजियाणं	१६५	पू.
उक्कोसो धनुतिसई	१६७	पू.
उणपन्नदिण छम्मासा	३५	उ.
उत्तरपयडि तह दुहा	७	पू.
उत्तरपयडीणेवं	१००	उ.
उत्तरवे(वि)उव्वि	६९	पू.
उदओ अबाहु उवरिं	९९	उ.
उप्पत्तिठाण जोणी	३९	पू.
उरलदुगाहारदुगं	१५१	पू.
उरलदुगाहारदुगं	१९	उ.
उरलविउव्वाहार	२५	पू.
उरलविउव्वाहारा	१७	उ.
उवसंत खीणजोगा	११७	उ.
उवसमसम्मे सोलस	१६१	उ.
उवसमसेढीए वि	१६१	पू.

गाथा	क्रम	पूर्वार्ध/उत्तरार्ध
एए सचक्खुदंसा	२२	पू.
एगिंदिसु आइचउ	३०	उ.
एगिंदिसु ते चउरो	३२	उ.
एगो बारस सोलस	१६२	उ.
एत्तोच्चिय बहुगीण	४०	पू.
एयं चिय एगिंदिय	७५	पू.
एयतियजुत्त पढमं	५८	उ.
एयाण उ अबाहाण	९३	पू.
कम्म इगा ति ति	२३	उ.
कम्मइगा पुण	१३३	पू.
कम्मण सत्त सजोगे	१४८	उ.
कम्मणणंतवेउव्विय	१५२	पू.
कम्मवणगहणदहणं	१६८	उ.
कम्मस्स खवणहेऊ	२	पू.
कम्मा असंखुगिंदिसु	७६	पू.
कम्मा भूदगतरूसुं	१०४	पू.
कम्मा भूदवणेसुं	१२६	पू.
कम्मोरल दुगजोगा	१८	पू.
कम्मोरलतम्मिस्सा	१३१	उ.
करपयसिरगीवविणा	६३	उ.
किंचूणा हुस्सठिई	७८	उ.
किण्हा नीला काऊ	२६	उ.
कीलियपट्टयमक्कडबंधा	५८	पू.
कुलएगकोडि	४३	पू.
कुलकोडिजोणि	४५	पू.
केवलउवओगदुगं	१६६	पू.
कोडिसहस्सा तत्थि	४३	उ.
खंडोवसमगसेढिसु	१६४	उ.
खयसंमि बार	१५५	उ.
खिविउं छचत्त	१४३	पू.
गइतस अनरतिगुच्चं	१०५	पू.
गुणतियगे जोगु	१२८	उ.
गुणपंच तिरि व्व	१४५	पू.
गुणमिच्छसाण	१५	पू.

गाथा	क्रम	पूर्वार्ध/उत्तरार्ध
गुरु अयरं संपुन्नं	८०	उ.
गुरु अयरकोडिकोडी	८७	पू.
गुरु नामि गोइ	८५	पू.
गुरु भूदगग्गिपवणे	५३	पू.
गुरु सन्नितिरिसु	७०	पू.
गुरुयं पि पुव्वकोडिं	९४	उ.
घाणेण चक्खुसुइणा	१३६	उ.
चउ तह संते	१५७	उ.
चउतदुगिक्काणं	१५८	उ.
चउतीसा उ हिच्चा	१३३	उ.
चउदंसणमणगारा	२०	उ.
चउदस उड्ढाहगिहा	७	उ.
चउदस बायालसयं	८१	पू.
चउदस बायालसयं	८३	उ.
चउदसंगतिगमूणं	७७	पू.
चउरो चउरो नारय	४८	उ.
चउसु वि गिहेसु	१५५	पू.
चरिममिगविगलअमणे	६०	उ.
चुलसीइ जोणिलक्खा	४७	पू.
छक्कूण सोल नवमे	१४७	पू.
छच्चउ दुगहियवीसा	१४४	उ.
छट्ठाइ दसंतेसुं	१२८	पू.
छम्मासवसेसाऊ	१२४	पू.
जं निरसुरमिहुणेसुं	११	पू.
जं लद्धं तमिगिंदिय	७४	उ.
जइ एवं किह	१४०	उ.
जियगुणठाणा	४	पू.
जियठाणा सुह	१०	पू.
जोणिकुले चउभंगो	४०	उ.
जोणेगत्तपुहत्तं	३९	उ.
झेयं च तत्तनवगं	२	उ.
ट्ठिइबंधु अबाहुदया	९९	पू.
ठीबंधाबाहोदय	९८	उ.
तइए मुत्तु छव्वीसा	१४५	उ.

गाथा	क्रम	पूर्वार्ध/उत्तरार्ध
तइयकसाऊण तिसट्ठि	१११	पू.
तत्तिय असंख	५४	उ.
तत्थ वि गुणउवओगा	६	पू.
तरुसु चउवीस जं	४७	उ.
तरुसुं विगले जोयण	६७	पू.
तह तिरिमणु देसे	१२७	उ.
तहवि य पन्नवणाए	९५	उ.
ताव गुणट्ठिं तदुवरि	११२	उ.
तित्थ इगि	११८	उ.
तित्थं च मुत्तु	११९	उ.
तित्थनराउगसहियं	१२१	उ.
तित्थाहारदुगविणा	१०८	पू.
तित्थाहारदुगुज्झिय	१०६	पू.
तिरिनरतेतीसयरे	९०	उ.
तिरिनिरयसुरंतदुगं	१४	उ.
तिरिमणु देसे अट्ठ	१५६	पू.
तिरिमणुनिरए	३१	उ.
तिरिमणुनिरसुरमीसे	१५४	उ.
तीइगि सत्तं सदुगं	८४	पू.
तुरिओ तेसु वि	४२	उ.
तुरियमिगपासबद्धं	५९	उ.
ते करणे अपज्जत्ता	१२	उ.
तेणेह वि न विसेसो	४५	उ.
तेतिसयरे निरसुर	९७	उ.
तो गिहअंके दिंतो	९	उ.
तो पज्जतिअभावा	१४०	पू.
थीणतिगित्थीतिरितिग	१०२	पू.
दस इगवीस बिचत्ता	७३	पू.
दसमे तणुलोभुदओ	१६२	पू.
दससमसहस्स लहुयं	३४	उ.
दिणमेग वाससहसो	९१	उ.
दुगतिगचउपण मुत्तुं	१३८	पू.
दुसु पंचसु एक्केक्के	१५९	उ.
देवा पुमित्थिवेया	५१	उ.

गाथा	क्रम	पूर्वार्ध/उत्तरार्ध
देवे समचउरंसं	६५	पू.
दो विगलमणे	१६	उ.
न य ते लद्धिअपज्जा	११	उ.
न य बंधो न य उदओ	१६४	पू.
नणु कह उरलनिसेहो	१३८	उ.
नणु जे वेयइ से	१६३	पू.
नणु साणगुणे	१०७	पू.
नणु हेऊ उदियच्चिय	१३४	पू.
नपुमिच्छायवहुंछेइ	१२०	उ.
नमिऊण वद्धमाणं	१	पू.
नरएसु धणुसहस्सं	७०	उ.
नरयतिगूणा	१०४	उ.
नरि घाइसुं अंतमुहू	८६	पू.
नरि पणवि कम्मोरल	२५	उ.
नरि बारस केवलदुगमणू	२२	उ.
नरि सत्त वि भूद(गग्गि)	१२२	उ.
नरि हेउ पणपन्ना	१४४	पू.
नव य कसाया	१३०	उ.
नवमंसे जो नियडी	१६०	पू.
नवमगुणे बंधुदया	१५८	पू.
नवहियसयमह साणा	१०५	उ.
नाणं पंचविहं तह	२०	पू.
नाणस्स दंसणस्स य	७१	पू.
नाभुवरि नाभिअहो	६३	पू.
नामे इगि सत्तंसं	८२	पू.
नारयसुरा जहन्नं	९४	पू.
नारायमद्धनाराय	५७	उ.
नियट्टिअनियट्टि	१५	उ.
नियनियपज्जत्तिअंतं	१३	उ.
नियनियपज्जत्तीणं	१२	पू.
निरए पंचधणुस्सय	६८	उ.
निरए मिच्छे साणे	१४९	उ.
निरयसुराउविउव्वि	१०३	पू.
निरयाइ आगइ	३६	उ.

गाथा	क्रम	पूर्वार्ध/उत्तरार्ध
निरसुरभववेउव्वं	६८	पू.
नेगिंदिसु सासाणो	२४	उ.
पंचममबद्धपट्टं	६०	पू.
पज्जअपज्जा चउदस	१०	उ.
पढम चउ पंचमट्ठम	८८	उ.
पढमो जह इगछगणे	४१	पू.
पण नव दुग छव्वीसा	१००	पू.
पण पज्जति सुरेसुं	३१	पू.
पण मरुसु व्विगलमणे	१८	उ.
पणइंदियमण	३२	पू.
पणुवीसा पन्नासा	७५	उ.
पनरस जोगा सच्चं	१७	पू.
पन्नवण तिवीसपए	७६	उ.
पल्लस्स असंखं	९७	पू.
पा(बा)यरलोभो	१६०	उ.
पाणाउ आगइगई	४	उ.
पुढवाइ इंति	३६	पू.
पुढवाइ एक्कारस	८९	पू.
पुढवाइ पंच मिच्छा	२८	उ.
पुढवाइएगकाए	५२	पू.
पुढवाइकार लहुयं	६६	पू.
पुढवाइकारसेसुं	३४	पू.
पुढवाइतेरसेसु वि	१२५	उ.
पुढवीजलग्गिमरुतरु	३	पू.
पुन्न पवीस पन्ना	८१	उ.
पुव्वकोडितिभागो	९२	उ.
पुव्वभव लहु	८९	उ.
पुव्वुत्ता चउतीसा	१३६	पू.
पोग्गलपरट्ट ते पुण	५५	पू.
बंधस्स मिच्छअविरइ	१२५	पू.
बंधहिं नवअहियसयं	१०३	उ.
बायालसयं उवरिं	८२	उ.
बारस सत्त ति	४४	पू.
बारसविहा अविरई	१३०	पू.
बावीस सत्तसमसहस	३५	पू.

गाथा	क्रम	पूर्वार्ध/उत्तरार्ध
बिंति चउपणछट्ठेसुं	११३	उ.
बितिओ तम्मि वि	४१	उ.
बितिचउरमणाणं	१३७	पू.
बितिचउरिंदिसु दो	४८	पू.
बीयकसाए वज्जिय	११०	पू.
बीयकसाएहिं	१४३	उ.
भन्नइ इत्थं सुणसू	१३९	पू.
भन्नइ एए साणा	१०७	उ.
भन्नइ सो ववएसो	१४१	पू.
भयकुच्छरइहसूण	११५	उ.
भवठिई जा सुरनरए	५६	उ.
भूदगतरुविगल	३८	उ.
भूदवणा सत्तंसं उच्चे	८३	पू.
मंगल जियगुणमाई	८	पू.
मइसुयनाणअनाणा	२१	उ.
मज्झिमसंघयणागिइ	१०२	उ.
मणकविचवलो विसएसु	१७०	पू.
मणथिरकरणपगरणं	१६९	उ.
मणथिरकरणं	१७०	उ.
मणुए वि नवरि	११०	उ.
मणुनिरसुरेसु	३	उ.
मयवसओ भूदवणे	१५४	पू.
मरुतिरि तं सविउव्वं	२६	पू.
महनगरदाहसरिसो	५०	उ.
माणूणा गुणवीसा	११६	उ.
मिच्छं नपुनिरयतिगं	१०१	पू.
मिच्छं सासण सम्मं	२९	पू.
मिच्छंतसोल	१०६	उ.
मिच्छत्ततुरियवयणं	१३७	उ.
मिच्छसुरे साणे पुण	१५१	उ.
मिच्छाइ हेउउत्तर	१२९	पू.
मिच्छूण पण्णसाणे	१४२	पू.
मीसा निरसुरसयरिं	१२१	पू.
मुच्छियरतिरिसु	४४	उ.
मुत्तु गुणसयरि	१०९	उ.

गाथा	क्रम	पूर्वार्ध/उत्तरार्ध
मूलियर पयडि	७४	पू.
रुसु अणंता बिति	५३	उ.
लहु परभवाओ	९६	उ.
लहु मज्झ गुरु अबाहा	८८	पू.
लहुगुरुठिइ इगिंदिसु	७७	उ.
लोभूण सतर	११७	पू.
वज्जयरिसहदुगूणं	५९	पू.
वज्जरिसहनारायं	५७	पू.
वज्जिय तिचत्त	१४२	उ.
वन्नचउ तेयकम्मि	११५	पू.
वासचउक्कं सोलस	९२	पू.
विगलसुरसुहमनारयति	११८	पू.
विविहछगणेसु तइओ	४२	पू.
वीसं तीसं चउसुं	८७	उ.
वेउव्वाहारदुगं	११९	पू.
वेउव्वि मीसकम्मण	१५२	उ.
वेउव्वियतम्मिस्सयजुत्ता	१३२	उ.
वेयणकसायमरणा	१२२	पू.
संघयणं संठाणावगाह	५	पू.
संघयणि कम्मगंथे	६१	उ.
संजलणलोभऊणा	१४७	उ.
सच्चं असच्चमोसं	१४८	पू.
सच्चं एसिं उदओ	१३५	पू.
सच्चं एसो नाओ	१६३	उ.
सड्ढाह मणुनिर	४६	उ.
सति बार खयगि	१५७	पू.
सतिभागरयणि	१६७	उ.
सतिभागसत्तसहसा	९१	पू.
सत्तं सगतिगमूणं	७२	उ.
सत्तंस पण ति	७३	उ.
सत्तंसो किंचूणो	८०	पू.
सन्नितिरिनर तिवेया	५१	पू.
सन्नितिरिमणुयनारय	२९	उ.
सन्नितिरिमणुयनारय	१२७	पू.
सन्नितिरिमणुयनिरसुर	६९	उ.

गाथा	क्रम	पूर्वार्ध/उत्तरार्ध
सन्निसु तिरिसु नरेसु	५६	पू.
सपरोवयारहेउं	१	उ.
समचउरंसे नग्गो	६२	पू.
समणतिरिमणुसु	६४	उ.
समणामणतिरि	६७	उ.
समयपएसवहारे	५४	पू.
समुघाय दुविहहेऊ	५	उ.
सम्मं मिच्छं मीसं	२८	पू.
सयचउरो उवरिं	७९	उ.
सयरीगंथे अट्ठसु	१३५	उ.
सरसणवयणा	३३	पू.
सविउव्वं मरुनिरए	१२३	पू.
सवेउव्वि मीसकम्मा	१५०	उ.
सव्वगिहेसु वि	१५३	उ.
ससवण नव विगल	३३	उ.
सा पुण दस इगवीसा	७९	पू.
सा लहु तिरिगिहदसगे	५२	उ.
साई अणंता ठिई	१६६	उ.
साणंतं पणवीसं	१०९	पू.
साणा एगहियसयं	१०८	उ.
सासणभावे नाणं	२४	पू.
साहारमीस	१४६	पू.
सिद्धाणं जहसंभव	१६५	उ.
सिरिधम्मसूरिसुगुरूव	१६९	पू.
सिहिमरवो	३८	पू.
सुत्ते दुतिकरणाणं	२३	पू.
सुत्ते मिच्छमिगिंदिसु	१६	पू.
सुरविउव्वाहारदुगा	११४	पू.
सोल दुसम्मे नरि	१५६	उ.
सोलसअट्ठेक्काइसु	१५९	पू.
सोलसकसाय तेसिं	१५३	पू.
हीणे करेइ नियमा	१२४	उ.
हुंछेनपुमिच्छ	१२०	पू.
हुंडं चिय पुढवाइसु	६४	पू.
हुंडित्ति छ संठाणा	६२	उ.

परिशिष्ट–३

उद्धरणस्थलसङ्केतः

उद्धरण	गा.क्र.	स्थल	कर्ता
अंगुलअसंखभागो सुहुमनिगोओ	६६	लघुसङ्ग्रहणी	
अंतमुहुत्तं नरएसु होइ	२५	जीवाभिगम, प्रवचनसारोद्धार– १३१० रत्नसंचय–१७	
अंतमुहुत्तमबाहा सव्वासिं सव्वहिं	९९		
अंतो कोडाकोडी तित्थाहाराण	७६	सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार–७०, शतकप्रकरणभाष्यम् ३४०,३५६	
अंत्तमुहुत्तमवाहा सव्वासिं सव्वहिं	८९		
अंबरलोहमईणं कमसो जह	१६८	ध्यानशतकम्–९७	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
अंबरलोहमहीणं	२	ध्यानशतक्म्–९७	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
अकामतण्हाए अकामछुहाए अकाम	१५२		
अगंतूण समुग्घायं अणंता केवली	१२४	प्रज्ञापना पद–३६, सूत्र–२१७०, गाथा–२३०	श्यामाचार्य
अचित्तजोणिसुरनिरय मीसं	४२	बृहत्सङ्ग्रहणी–३२४	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
अजहण्णमणुक्कोसं	१५	विचारसप्ततिका–७५	महेन्द्रसूरि अञ्चलगच्छीय(स्वयं)
अञ्जनचूर्ण–पूर्ण	३९		
अट्ठसमईए केवलि समुग्घाए पन्नत्ते	१२३	स्थानाङ्ग अ.८, सू.६५२	सुधर्मास्वामी
अट्ठसु पंचसु एगे एगदुगं दस य	१३५	सप्ततिकाभिधः षष्ठः कर्मग्रन्थः–४०	
अट्ठारिगविगलमणा नवपणतीसं	७६		(स्वयं)
अडवीसं सा पंच उ अधतेरे	७६		(स्वयं)
अणभिग्गहिया भासा	१७	प्रज्ञापना–१९७, दशवैकालिक निर्युक्ति–२७७	श्यामार्य, शय्यंभवसू.
अणाभोगं एगिंदियाईण वि जम्हा	१५२	षडशीतिकचूर्णि	
अणित्थंत्थसंठिया	६५	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र–१८,२१	सुधर्मास्वामी
अणुबंधोदय माउग बंधं कालं	१०६		
अणुव्वयमहव्वएहि य बालतवा कम्म	१५२	बन्धशतकम्–२३	शिवशर्मसू.
अत्थोहाए तस्सेव	७		
अदिन्नदाणा खु एए	१७		
अदृश्वला जनपदाः	१७		

उद्धरण	गा.क्र.	स्थल	कर्ता
अद्धमसूरं थिवुगो सूइकलावो	६४		
अधठारिगविगलमणा पाउ	७६		(स्वयं)
अधतेरिगविगलमणा पणअडवीसं	७६		(स्वयं)
अधतेरे पणवीसाए चउदसेहिं	७६		(स्वयं)
अनुवादादर-वीप्सा-भृशार्थ-विनियोग	१६८		
अन्तमुहुत्तं एगं	१५	विचारसप्ततिका- ७७	महेन्द्रसूरि-अञ्चलगच्छीय(स्वयं)
अन्तराभवदेहोऽपि सूक्ष्म	२५		
अमणुक्कोसा य विरय उक्कोसो	७५	सार्द्धशतकवृत्ती,सूक्ष्मार्थविचार सारोद्धार-८२	
अयरंतो कोडाकोडीउहिगो सासणा	७६	सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-८१	
अरहंत-सिद्ध-चेइय-तव-सुय-गुरु-साहु	१५२	बन्धशतकम्-१८	शिवशर्मसू.
अरहत्ताइसु भत्तो सुत्तरुइ पयणुमाण	१५२	बन्धशतकम्-२५	शिवशर्मसू.
असन्नीणं सागरसहस्स सत्त	७७	प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७२८	श्यामाचार्य
अह चउदससु गुणेसुं	१५	विचारसप्ततिका-७२	महेन्द्रसूरि-अञ्चलगच्छीय(स्वयं)
अह लिह जंतं तिरि नव उड्ढाहो	७६		(स्वयं)
अहुणा भणिमो मूलियरपयडिण	७६		(स्वयं)
आभिग्गहियं किल दिक्खियाण	१२९	नवतत्त्वभाष्य-१०१	
आमंतणिआणवणी	१७	प्रज्ञापना-१९६, दशवैकालिक निर्युक्ति-२७६	श्यामार्य, शय्यंभवसू.
आय(इ)मसंघयणागिइहा	७६		स्वयं)
आयुषस्तु चतुर्भिर्भङ्गकैरबाधेति	८९	सार्द्धशतकवृत्ति	
आहारगसमुग्घाएणं समोहन्नइ	१२३		
आहारगसरीरस्स णं	२५	प्रज्ञापना पद-२१, सूत्र-१५३५	श्यामाचार्य
आहारगाणि लोगे	२५		
आहारसरीरिंदिय ऊसासवओ	२९	बृहत्सं.-३३९ विचारसप्ततिकाः-४२	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
आहारसरीरिंदिय ऊसासे	३१	विचारपञ्चाशिका-३३	
इग सट्ठीवीसिक्का वीसंतीसिक्क	७६		(स्वयं)
इगविगल पुव्व कोडिं परायु	७६	शतकनामा पञ्चमः प्राचीनकर्मग्रन्थः-३४	
इगविगला सन्नीहिं करणवसा	७६		(स्वयं)
इगविगलाऽबंधा उ विउव्विए	७६		(स्वयं)

उद्धरण	गा.क्र.	स्थल	कर्ता
इत्थिवेयावि पुरिसवेयावि	३१	जीवाभिगम प्र.१, सू.४२	सुधर्मास्वामी
इय करणवसादागया बंधठिईण	७६		(स्वयं)
इय सव्वगुणाहाणं दिट्ठादिट्ठ	१६८	ध्यानशतकम् -१०५, संबोधप्रकरणम् -१४१९	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
उत्तरपयडि तह दुहा हेऊ य कसाय	१०२	मनःस्थिरीकरण-७	महेन्द्रसूरि अञ्चलगच्छीय
उपयोगलक्षणो जीव	२०	तत्वार्थाधिगमसूत्रम् -२/८	उमास्वाति
उप्पण्णविगयमीसिय	१७	सम्बोध प्रकरणम् -५६०, दशवैकालिक निर्युक्ति	शय्यंभवसू.
उभयाभावो पुढवाइएसु	१६	आवश्यकनिर्युक्ति-१०६०	भद्रबाहुसू.
उभयाभावो पुढवाइएसुत्ति	१०६,१०७		
उम्मग्गदेस-उम्मग्गनासओ	१५२	बन्धशतकम् -२१	शिवशर्मसू.
उरलं थेवई	२५		
उरलविउव्वाहारो छण्हवि	३१	विचारपञ्चाशिका-३५, विचारसप्ततिका-४४	
उवओगलक्खणमणा	१७	ध्यानशतकम् -५५, सम्बोधप्रकरणम् -१३६९	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, हरिभद्रसू.
उवसंतं जं कम्मं	१५		
उस्सेहंगुलओ तं होइ	२५	विशेष-णवतिः-६	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
ऊसरदेसं दढेल्लयं च	१५	विशेषावश्यकभाष्यम्-२७३४	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
एक्कगइया दुआगइय त्ति	३८	जीवाभिगम प्र.१, सू.२५,२६	सुधर्मास्वामी
एगं व दो व तिन्नि	२५		
एगिंदिमाइबंधो दुहावि लिहिउ	७६		(स्वयं)
एगिंदिया णं भंते	२४	भगवतीशतक-८३.२, सूत्र-२७	सुधर्मास्वामी
एगिंदियाणं भंते! जीवा नाणावरणि	७७	प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७०५	श्यामाचार्य
एयं इगिंदियेहिं लद्धं इणमेव	७६		(स्वयं)
एविगलतिगं अट्ठारा तसचउ	७६		(स्वयं)
एस असंजयसंमो	१५		
एसे एगिंदिय जेट्ठोपल्ला संखं	७७	सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-७५	
औदारिक प्रयोक्ता प्रथमाष्टम	१२३	प्रशमरतिः-२७५	उमास्वातिम.
कंसपाई व्व मुक्कतोए	१७	कल्पसूत्र	भद्रबाहूसूरि
कंसे संखे जीवे गगणे	१७	स्थानाङ्ग-१३८,सू.६९३	सुधर्मास्वामी
कज्जंमि समुपन्ने	२५		
कप्पेसणं कुमारे माहिंदे	२७	प्रवचनसारोद्धार११६०,	

उद्धरण	गा.क्र.	स्थल	कर्ता
		त्रैलोक्यदी.(बृहत्सं.)-२८३	
		प्र.पृ.-४०९	नेमिचन्द्रसू.
कमसो विगल असन्नीण पल्लं	७७	सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-७६,	
		कर्मप्रकृतिः-८१	
कम्मविगारो कम्मण	२५	अनु.हारि.टी.पृ.-८७	
करणं परिणामोऽत्रेति	१५	योगबिन्दु-२६४	हरिभद्रसू.
करणावि सया तित्थाहारग	७६		(स्वयं)
कल्याणाभिनिवेशवानिति गुणग्राहीति	१७०	सङ्घपट्टकः	जिनवल्लभसू.
कायजोगं पउंजमाणे आगच्छिज्ज	१२३	प्रज्ञापना पद-३६, सूत्र-२१७४	श्यामाचार्य
कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके	१२३	प्रशमरतिः-२७६-२७७	उमास्वातिम.
कालो वि सुच्चिय	३	ध्यानशतक-३८	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
किं संठिया पन्नत्ता गोयमा! दुविहा	६५	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-४२	सुधर्मास्वामी
किण्हा नीला काऊ तेऊ	२७	प्रवचनसारोद्धार-११५९,	
		बृहत्सं.-१७६, त्रैलोक्यदी२८२	नेमिचन्द्रसू
कुंजर वसभे सीहे	१७	स्थानाङ्ग-१३८/१३९,सू.६९३	सुधर्मास्वामी
कृष्णादि द्रव्यसाचिव्य	२६		
कोहे माणे माया लोभे	१७	प्रज्ञापना-१९५,	
		दशवैकालिक निर्युक्ति-२७४	श्यामार्य, शय्यंभवसू.
कोहो-माणो-माया-लोभो चउरो य हुंति		१५२	प्रवचनसारोद्धार-५६१,८२८,१५८६,
		उवएसमाला-३०१	नेमिचन्द्रसू.
क्वचित्सौत्र्या शैल्या	३	भगवतीवृत्ति	अभयदेवसूरि
खंधी वि एगजीवे	२५		
खिइवलयदीवसागर	२	ध्यानशतक-५४	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
खीणा निव्वाय	१५		
गंठि त्ति सुदुब्भेओ	१५	विशेषावश्यकभाष्यम् -११९५	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
गइ आणुपुव्वि दो दो जाईनामं च/			
साहारणमपज्जत्तं	१५८	पञ्चसङ्ग्रह-९१६	
गब्भयमणुनिरएसुं छप्पी	३१	विचारपञ्चाशिका-३५	
गोला य असंखेज्जा	२५	बृहत्संग्रहणी-३०१	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
चउगइया चउआगइयत्ति	३८	जीवाभिगम प्र.१, सू.३८	सुधर्मास्वामी
चउगइया दुआगइया	३८	जीवाभिगम प्र.१, सू.३५,३६	सुधर्मास्वामी
चउण्हवि आउयाणं जा ओहिया	९५	प्रज्ञापना पद-२३.२, सू.१७३८	श्यामाचार्य

उद्धरण	गा.क्र.	स्थल	कर्ता
चउदसिगिगविगलमणा पंचंसो	७६		(स्वयं)
चउयाले पयडिसए गुरूयं तं	७६		(स्वयं)
चऊयालं पगडिसए इगविगला	७६		(स्वयं)
चतुरिंदियाणां सागरसयस्स	७७	प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७२५	श्यामाचार्य
चत्तासिगविगलमणा सगं	७६		(स्वयं)
च्छेवट्ठ संघयणी	६१	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-२८,३५	सुधर्मास्वामी
छग्गब्भतिरिनराणं संमुच्छ	६१	लघुसङ्ग्रहणी-बृहत्सङ्ग्रहणी-१६१	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
छच्चेव संघयणा	६१	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-४१	सुधर्मास्वामी
छण्ह वि सममारंभो	३१	विचारपञ्चाशिका-३७,विचारसप्ततिका-४६	
छव्विहसंठिया	६५	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-४१	सुधर्मास्वामी
छव्विहसंठिया पण्णत्ता	६५	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-३८	सुधर्मास्वामी
छेवट्ठं सोगारइ भयकुच्छ	७६		(स्वयं)
जच्चिय देहावत्था	३	ध्यानशतक-३९	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
जणवयसम्मयठवणा	१७	प्रज्ञापना-१९४, स्थानाङ्ग-१५०, दशवैकालिक निर्युक्ति-२७३	श्यामार्य, सुधर्मास्वामी, शय्यंभवसू.
जत्थुस्सेहंगुलओ	२५	विशेष-णवतिः-८, स्थानांग-२६५	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
जमिह निकाइय तित्थं तिरियभवे		पञ्चसङ्ग्रह-२५१	
जलथलउरभुयपक्खिसु तणुमाण	६७		
जलमिव पसंतकलुसं	१५		
जह चिरसंचियमिंधण	२	ध्यानशतक-१०१	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
जह चिरसंचियमिंधणमनलो	१६८	ध्यानशतकम्-१०१	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
जह जंबुपायवेगो	२६	प्रतिक्रमणभाष्य,संबोधप्रकरणम्-१२८३	
जह रोगामयसमणं	२	ध्यानशतकम् -९६, १००	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
जह रोगासयसमणं विसोसण	१६८	ध्यानशतकम् -१००	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
जह वा घणसंघाया	२	ध्यानशतकम्- १०२, १०३	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
जह वा घणसंघाया खणेण	१६८	ध्यानशतकम् -१०२	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
जह सो झाइ समत्था जीवं	१६८	ध्यानशतकम् -९८	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
जा गंठि ता पढमं	१५	विशेषावश्यकभाष्यम् -१२०३	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
जाव दुपओ जं सयं	१७	आवश्यकचूणि	
जाव सावेक्खो पुव्वं भीय	१७	आवश्यकचूर्णि	
जिणभुवणकारणविही	१७	पञ्चाशक-३०३	हरिभद्रसू.
जे णं बेंदिया आभिणि	२३	प्रज्ञापनापद-२९, सूत्र-१९३२	श्यामाचार्य

उद्धरण	गा.क्र.	स्थल	कर्ता
जेयावन्ने तहप्पगारा	४५	प्रज्ञापना पद-१, सूत्र-६९-९१	श्यामाचार्य
जेसिमवड्ढो अपरियट्टो	१७	श्रावकप्रज्ञप्ति-७२,गाथासहस्री-३५०	
जोएण कम्मएणं	१७	आचारांग निर्युक्ति	भद्रबाहूसूरि
जोगपरिणामो लेसा	२६	प्रतिक्रमणभाष्यम्	
जोगे जोगे जिणसासणंमि	१	ओघनिर्युक्ति-२७८	भद्रबाहुसू.म.
जोगो विरियं थामो	१७	पञ्चसङ्ग्रह- ३९६	
जोयण सहस्समहियं	२५	प्रवचन सारोद्धार-१०९९	नेमिचन्द्रसू.
जोयणसहस्समहियं	२५	प्रवचनसारोद्धार-१०९९	नेमिचन्द्रसू.
जोयणसहस्समेगं गाउयछक्कं	६७	ईर्यापथिकीमिथ्यादुष्कृतकुलकम् -५	
ठिइघाओ रसघाओ	१५	कर्मप्रकृति-३३३	
		सम्मुत्तुप्पायकिहीकुलक-१६	शिवशर्मसू.
ठिई जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं	३८	जीवाभिगम प्र.१, सू.२१	सुधर्मास्वामी
तए णं से विजए देवे	३१	जीवाभिगम प्र.३, सू.१४१	सुधर्मास्वामी
तत्थोदारमुरालं	२५		
तह सोज्झाइ	२	ध्यानशतक-९८	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
तावो सोसो भेओ	२	ध्यानशतक-९९	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
तावो सोसो भेओ जोगाणं झाणओ	१६८	ध्यानशतक-९९	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नेणं	९५	प्रज्ञापना पद-२३.२, सू.१७१०	श्यामाचार्य
तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नेणं	९५	प्रज्ञापना पद-२३.२, सू.१७१९	श्यामाचार्य
तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नेणं	९५	प्रज्ञापना पद-२३.२, सू.१७२६	श्यामाचार्य
तिरिनरमिहुण सुराउं एकं च्चिय	७६		(स्वयं)
तिरिया तित्थाहारमिति	७६		
तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणओ राग	१५२	बन्धशतकम् -१९	शिवशर्मसू.
तिहिं अंतिय विय	१५	धर्मसङ्ग्रहणी-७५२,	श्रावक प्रज्ञप्ति-३२ हरिभद्रसू.
तीसिसु इगविगलमणा सगंस	७६		(स्वयं)
तुरि एगिंदियबंधं पंचमि बेइंदि	७६		(स्वयं)
तुल्लं वित्थडबहुलं उस्सेहबहुं	६२	त्रैलोक्यदीपिका(बृहत्सङ्ग्रहणी)-२६४	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
ते णं भंते! असन्निपंचेंदिय	५१	प्रज्ञप्ति	सुधर्मास्वामी
ते णं भंते जीवा किं नाणी	२३	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-२८	सुधर्मास्वामी
ते णं भंते! जीवा कइगइया?	३८	जीवाभिगम प्र.१, सू.४२	सुधर्मास्वामी
ते दोवि तितीसयरे निरए मणूया	७६		(स्वयं)
तेंदियाणां सागरपन्नासाए	७७	प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७२१	श्यामाचार्य

उद्धरण	गा.क्र.	स्थल	कर्ता
तेइंदियाणं भंते! जीवा णाणावरणि	७७	प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७२१	श्यामाचार्य
तेणं जीवा कइगइया	३८	जीवाभिगम प्र.१, सू.१५	सुधर्मास्वामी
तेयससमुग्घाएणं समोहन्नइ	१२३		
तेसि णं जीवाणं सरीरा किं संघयणा	६१	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-३२,४२	सुधर्मास्वामी
तेसि णं भंते! जीवा णं कइसंघयणा	६१	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-१३	सुधर्मास्वामी
तेसि णं भंते! जीवा णं सरीरा	६१	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-१३	सुधर्मास्वामी
तेसि णं भंते! जीवाणं सरीरा किं	६५	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-३२	सुधर्मास्वामी
तेसि णं भंते! जीवाणं सरीरा किं	६५	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-१३,१४	सुधर्मास्वामी
तो जत्थ समाहाणं	३	ध्यानशतक-३७	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
तो देसकालचिट्ठानियमो	३	ध्यानशतक-३५, ४१	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
तो बायरवायमगणी-आऊ	६६	लघुसङ्ग्रहणी-२९४	
थिबुगसंठिया पन्नत्ता	६५	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-१६,१७	सुधर्मास्वामी
थिरकयजोगाणं	३	ध्यानशतक-३६	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
दंसण चउविग्घावरण	७६	सूक्ष्मार्थसारोद्धार-६४	
दण्डः प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे	१२३	प्रशमरतिः-२७३	उमास्वातिम.
दस-वीस-तीस-चत्ता-सयरि सुलद्धे	७६		(स्वयं)
दसिगासिगविगलमणा सत्तं	७६		(स्वयं)
दुगईया दुआगइयत्ति	३८	जीवाभिगम प्र.१, सू.२८,२९ ,३०	सुधर्मास्वामी
देवाण नारयाण य दव्वलेसा	२७	त्रैलोक्यदी.(बृहत्सं.)-४०५, जीवसमासः-७४	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
देसूण-पुव्वकोडी	१५	विचारसप्ततिका-७६	महेन्द्रसूरि- अञ्चलगच्छीय(स्वयं)
देहादन्नो मुत्तो निच्चो	१७		
दो दिट्ठी दो दंसणा	२३	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-३५	सुधर्मास्वामी
दोमासा अद्धद्धं संजलणतिगे	७६	सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-७४,कर्मप्रकृति-७७	
धम्मो मंगलमुक्किट्ठं	१७	दशवैकालिक निर्युक्ति-१.१	भद्रबाहूसूरि
न कसायसमुच्छेहिं बाहिज्जइ	१६८	ध्यानशतकम् -१०३,	संबोधप्रकरणम् -१४१७ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
नग्गोह-रिसह-वारा हालिद्दं विलय	७६		(स्वयं)
नपुंसकवेयगा छपज्जत्तीओ	३१	जीवाभिगम प्र.१, सू.३२	सुधर्मास्वामी
नरयसुरसुहुम विगलत्तिगाणि	७६		(स्वयं)
नवरं थिवुगसंठिया पन्नत्ता	३८	जीवाभिगम प्र.१, सू.१६	सुधर्मास्वामी
नाऊण वेयणिज्जं अइबहुयं आउयं	१२४		

उद्धरण	गा.क्र.	स्थल	कर्ता
निच्चं चिय जुवइ	३	ध्यानशतक-३५	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
नियदव्वमउव्व	१७	रत्नसञ्चय-३३२	
नेरइयाउयस्स णं पुच्छा गोयमा!	९५	प्रज्ञापना पद-२३.२, सू.१७०१	श्यामाचार्य
नेरइयाउयस्स णं भंते! केवलइयं	९५	प्रज्ञापना पद-२३.२, सू.१७०१	श्यामाचार्य
नेरयाउयस्स जहन्नेणं दसवास	९५	प्रज्ञापना पद-२३.२, सू.१७३०	श्यामाचार्य
पडणीयमंतराइय उवघाए तप्पओ	१५२	बन्धशतकम् -१६	शिवशर्मसू.
पढमंतजाइ कुखगइ कुवन्न	७६		(स्वयं)
पणदसि सिगविगलमणा तिन्नि			(स्वयं)
पयईए तणुकसाओ दाणराओ	१५२	बन्धशतकम् -२२	शिवशर्मसू.
परं परं सूक्ष्ममिति	२५	तत्त्वार्थसूत्रम् (२.	उमास्वातिम.
परिसियमुवसेवंतो	१५		
परिसुद्ध-जलग्गहणं	१७	श्रावकप्रज्ञप्ति-२५९	हरिभद्रसू.
पाणवहाउ नियत्ता	१७		
पाणिदय-रिद्धिसंदंसणत्थ	२५		
पाणिवहाईसु रओ जिणपूयामोक्ख	१५२	बन्धशतकम् -२६	शिवशर्मसू.
पिह पिह असंखसमइ	३१	विचारपञ्चाशिका-३६,विचारसप्ततिका-४५	
पुढविकाइयाणं पुच्छा गोयमा	२८	प्रज्ञापना-पद१९, सूत्र-१४०२	श्यामाचार्य
पुढवी आउवणस्सइ गब्भे	२७	प्रवचनसारोद्धार-११७४	नेमिचन्द्रसू
पुढवीकाइएणं भंते! पुढविकाइयत्ति	५४	जीवाभिगम प्र.५, सूत्र-२२८	सुधर्मास्वामी
पुढवीपरिणामाइं ताइं	२५	विशेष-णवतिः-७	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
पुमित्थवेए चरिमचउरोत्ति	५१	षडशीतिकचूर्णिः	
प्राकृतं बहुलमिति	३	सिद्धहेम-८.१.२	हेमचन्द्रसू.क.स.
बंधं अविरयहेउं	१५		
बंधंति देवनारय असंखतिरिनर	३१	बृहत्सङ्ग्रहणी-३२७	
बंधंति म इगविगला वेउव्विय	७६		(स्वयं)
बंधो दुविहो दुपयाणं	१७	आवश्यकचूर्णि	
बारसहठावियाणं पुवुत्तप्पयडि	७६		(स्वयं)
बारसिसिग विगलमणा	७६		(स्वयं)
बावीसं दसिगाउदुवारदुध	७६		(स्वयं)
बावीसं दसिगाओ दुवार	७६		(स्वयं)
बेइंदियस्स दो णाणा	२४	प्रज्ञापनाटीका	
बेइंदिया णं भंते किं	२४	भगवतीशतक-८३.२, सूत्र-२८	सुधर्मास्वामी

उद्धरण	गा.क्र.	स्थल	कर्ता
बेइंदियाणं भंते! जीवा नाणावरणि	७७	प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७१५	श्यामाचार्य
भत्तपाणवोच्छेउ न	१७	आवश्यकचूर्णि	
भन्नइ तहोरालं	२५		
भवभवदुहदवनीरं नमिउं वीरं	७६		(स्वयं)
भूदगतरुसु दो दो	२८	षडशीतिकनामा चतुर्थ प्राचीन कर्मग्रन्थ-२८	
भूदगतरुसुं दो दो	१६	षडशीतिनामा प्राचीनः चतुर्थ कर्मग्रंथः-२८, शतकप्रकरण भाष्यम् -९६	
भूयाणुकंप-वयजोग-उज्जओ खंति	१५२	बन्धशतकम्-१७, शतकसंज्ञकः पञ्चमः प्राचीन कर्मग्रन्थः-१९	शिवशर्मसू.
मण-वयण-कायवंको माइल्लो	१५२	बन्धशतकम् -२४	शिवशर्मसू.
मणसा वावारिंतो	७	आवश्यकनिर्युक्ति-१४७८	भद्रबाहुसू.म.
मिच्छं अणाइनिहणं	१५	विचारसप्ततिका-७३	महेन्द्रसूरि- अञ्चलगच्छीय(स्वयं)
मिच्छत्ता संकंती	१५	विशेषावश्यकभाष्यम्-२७३४	
		बृक.भा.भा.-१,गाथा-११४	
		सार्द्धशतकभाष्यम्-४	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
मिच्छस्स बे छसट्ठी	१५		
मिच्छादिट्ठि महारंभपरिग्गहो	१५२	बन्धशतकम्-२०,बृहत्सङ्ग्रहणी-२५२	शिवशर्मसू.
मिच्छे सासाणे वा	१५	प्रवचनसारोद्धार-१३०६	नेमिचन्द्रसूरि
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तम	१७	प्रशमरतिः -२७६	उमास्वाति
मीसेखीणिसजोगो	१५	विचारसप्ततिका-७८	महेन्द्रसूरि- अञ्चलगच्छीय(स्वयं)
मुत्तुकमसाय हस्सा ठिइ वेयणी	७६	सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-६५	
मुत्तुमकसायि हस्सा ठिइ	७६		(स्वयं)
मुत्तुममकासायहस्सा	७६		(स्वयं)
मूलं साहपसाहागुच्छफले	२६	दंसणसुद्धिपयरणं-२२६, संबोधप्रकरणम्-१२९०	
मोहे कोडाकोडीउ सत्तरई वीस	७६	प्रवचनसारोद्धार-१२८०, सूक्ष्मार्थसारोद्धार-६४	नेमिचन्द्रसू.
मोहे कोडाकोडीउ सत्तरी	७६	प्रवचनसारोद्धार-१२८०, सूक्ष्मार्थसारोद्धार-६४	नेमिचन्द्रसू.
य: कर्ता कर्मभेदानां	९	शास्त्रवार्ता सम्मुच्चय स्त.१/९०	हरिभद्रसू.
य: कर्ता: कर्मभेदानां	१७	शास्त्रवार्तासमुच्चय-१/९०	हरिभद्रसू.

उद्धरण	गा.क्र.	स्थल	कर्ता
यद्यपि चासङ्ज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ	५१	षडशीतिकबृहद्वृत्तिः,पञ्चसङ्ग्रहमूलटीका	
लक्खं सुराण अहियं	२५		
लहू अंतमुहू गुरुअं	१५	विचारसप्ततिका-७४	महेन्द्रसूरि-अञ्चलगच्छीय(स्वयं)
वणस्सइकाइएण भंते! वणस्सइ	५५	जीवाभिगम प्र.५, सूत्र-२२८, जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-४३	सुधर्मास्वामी
विगलेसु दुज्ज उपवन्नो	२९	आवश्यक	
विविहा व विसिट्ठा वा	२५		
वीसंतिसिक्काओ सोल	७६		(स्वयं)
वीसिसु इगविगलमणा सत्तंस	७६		(स्वयं)
वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहन्नइ सम	१२३		
वेयणासमुग्घाए णं भंते ! कइ समईए	१२३	प्रज्ञापना पद-३६, सूत्र२०८७	श्यामाचार्य
वैक्रियाहारकतैजस	२५		
संखावत्ता णं जोणी इत्थि	४२	प्रज्ञापना पद-९, सू.१५३,म.पृ.-२२८	श्यामाचार्य
संघायणपरिसाडो	२५		
संवरविणिज्जराओ मुक्खस्स पहो	१६८	ध्यानशतकम्-९६	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
संवरविनिज्जराओ	२	ध्यानशतकम्-९७	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
संवुडजोणि सुरेगिंदिनारया	४२	लघुसङ्ग्रहणी	
सइरिसु इगविगलमणा	७६		(स्वयं)
सन्नीणमभव्वाणं भव्वाणं वि	७६		(स्वयं)
समवन्नाइ समे या बहवोवि	३८	प्रवचनसारोद्धार-९७०	नेमिचन्द्रसू.
सम्मत्तवेयणिज्जस्स पुच्छा	७६	प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७००	
सम्मद्दंसणसहिओ	१५	महेन्द्रसूरि-	अञ्चलगच्छीय(स्वयं)
सम्मामिच्छत्तवेयणिजस्स जहन्नेणं	७६		(स्वयं)
सम्मुच्छिमाण वि पंच	३०	सङ्ग्रहणिमूलटीका	हरिभद्रसूरि
सम्मे लद्ध अंतसुह समहिय छावट्ठि	७६		(स्वयं)
सरीरगा पडागासंठिया	६५	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-२६	सुधर्मास्वामी
सरीरगा सूइकलावसंठिया	६५	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-२४,२५	सुधर्मास्वामी
सव्वत्थ सावसेसे मग्गिल्ले लग्गइ	१५८		
सव्वत्थवि समसुन्नावगमे	७६		(स्वयं)
सव्वस्स उण्हसिद्धं	२५	प्र.पृ.४०९	
सव्वासु वट्टमाणा	३	ध्यानशतक-४०	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण

उद्धरण	गा.क्र.	स्थल	कर्ता
सव्वेसिं वा उत्तरवैक्रिय	१७	षडशीतिकचूर्णी	
सव्वोवसमो मोहस्सेव	१५	कर्मप्रकृति-३१५,शतकनामा स्वो.टी.-गा.-९८	पंचमकर्मग्रन्थः-पत्र१३१, शिवशर्मसू.
सागरोवमपणुवीसाए तिन्निसत्त	७७	प्रज्ञापना पद-२३, सूत्र-१७१५	श्यामाचार्य
सामग्गिअभावाउ	२५	गाथासहस्री-१२१, सङ्ग्रहशतकम्-७१	
सायं छप्पं नारा सोलसिगं	७६		(स्वयं)
सासणभावे नाणं	१६	षडशीतिनामा नव्यः चतुर्थ कर्मग्रंथः-४९	
सिय त्तिभागे सिय	३४	प्रज्ञापना पद-६, सू.६८१	श्यामाचार्य
सीयायवाईएहिं य सारीरेहिं य क्षमाश्रमण	१६८	ध्यानशतकम्-१०४,	संबोधप्रकरणम्-१४१८ जिनभद्रगणि
सुट्ठुवि मेहसमुदए	१५	नन्दीसूत्र, पत्र-१२५, कर्मग्रन्थः पृ.६८	देववाचकग.
सुत्ती सत्तिविसेसा संघयणमि	६१	सार्द्धशतक	
सुरनिरयमिहुणवज्जा जीवा	७६		(स्वयं)
सूत्रोक्तस्यैकस्या	१५		
से तं सणप्फया जे यावन्ने	४५	प्रज्ञापना पद-१, सूत्र-७४	श्यामाचार्य
से तं सुंसुमारा जे यावन्ने	४५	प्रज्ञापना पद-१, सूत्र-६७/६८	श्यामाचार्य
सेसे सए इगारे वेउव्विक्कारसे	७६		(स्वयं)
सोलस अट्ठक्किक्कं छिक्केक्के	१५८	कर्मस्तवाख्यः द्वितीय प्राचीनकर्मग्रन्थः-७	
सोलसिसिगविगलमणा अडपणतीसं	७६		(स्वयं)
सोवक्कमाउया पुण सेसा	३४	बृहत्सङ्ग्रहणी-३२८	
हयगब्भसंखवत्ता जोणि	४२	बृहत्सङ्ग्रहणी-३२८	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
हुंडसंठिया	६५	जीवाभिगम प्र.१, सूत्र-२८,३५	सुधर्मास्वामी
हुंताइं जहन्नेणं	२५		

परिशिष्ट–४

मनःस्थिरीकरणद्वार यन्त्रम्–१–१ (गाथा–७/८/९)

	पृथ्वीकाय	अप्काय	तेजस्काय	वायुकाय	वनस्पतिकाय	बेइन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असञ्ज्ञितिर्यक्	सञ्ज्ञितिर्यक्	नरक	देव	मनुष्य
१. जीवस्थानक–१४	४	४	४	४	४	२	२	२	२	२	२	२	३
२. गुणस्थानक सिद्धान्त–१४ गुणस्थानक कर्मग्रन्थ–१४	 १ २	 १ २	 १ १	 १ १	 १ २	 २ २	 २ २	 २ २	 २ २	 ५ ५	 ४ ४	 ४ ४	 १४ १४
३. योग–१५	३ ० ०	३ ० ०	३ ० ०	३(५) ० ०	३ ० ०	४ ० १	४ ० १	४ ० १	४ ० १	१३ ४ ४	११ ४ ४	११ ४ ४	१५ ४ ४
४. उपयोग सिद्धांत–१२ उपयोग कर्मग्रन्थ–१२	 ३ ३	 ३ ३	 ३ ३	 ३ ३	 ३ ३	 ५ ३	 ५ ३	 ६ ४	 ६ ४	 ९ ९	 ९ ९	 ९ ९	 १२ १२
५. शरीर–५	३	३	३	४	३	३	३	३	३	४	३	३	५
६. लेश्या–६	४	४	३	३	४	३	३	३	३	६	३	६	६
७. दृष्टि सिद्धान्त–३ दृष्टि कर्मग्रन्थ	१ २	१ २	१ १	१ १	१ २	२ २	२ २	२ २	२ २	३ ३	३ ३	३ ३	३ ३
८. पर्याप्ति–६	४	४	४	४	४	५	५	५	५	६	६	६	६
९. प्राण–१०	४	४	४	४	४	६	७	८	९	१०	१०	१०	१०
१०. आयुः–जघन्य आयुः–उत्कृष्ट	अन्तर्मुहूर्त २२ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त ७ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त ३ दिन	अन्तर्मुहूर्त ३ हजार	अन्तर्मुहूर्त १०, हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त १२ वर्ष	अन्तर्मुहूर्त ४९ दिन	अन्तर्मुहूर्त छ माह	अन्तर्मुहूर्त पूर्व क्रोड वर्ष	अन्तर्मुहूर्त ३ पल्योपम	१०, हजार वर्ष ३३ सागरोपम	१० हजार वर्ष ३३ सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त ३ पल्योपम
११. आगति	तिर्य.नर.देव.	तिर्य.नर.देव	तिर्य.मनु	तिर्य.मनु.	तिर्य.नर.देव	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु. नर. देव.	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु. नर.देव.
१२. गति	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु.	तिर्यञ्च	तिर्यञ्च	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु. नर.देव	तिर्य.मनु. नर.देव.	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु.	तिर्य.मनु. नर.देव.
१३. कुल १९७५+ ११ शून्य	१२ कोटि लक्ष	७ कोटि लक्ष	३ कोटि लक्ष	७ कोटि लक्ष	२८ कोटि लक्ष	७ कोटि लक्ष	८ कोटि लक्ष	९ कोटि लक्ष	५३–१/२ कोटि लक्ष	५३–१/२ कोटि लक्ष	२५ कोटि लक्ष	२६ कोटि लक्ष	१२ कोटि लक्ष

१४.योनि ८४ लक्ष	७ लक्ष	७ लक्ष	७ लक्ष	७ लक्ष	१०प्र.१४सा. लक्ष	२ लक्ष	२ लक्ष	२ लक्ष	४ लक्ष	४ लक्ष	४ लक्ष	४ लक्ष	१४ लक्ष
१५. वेद-३	नपु.	नपु.	नपु.	नपु.	नपु.	नपु.	नपु.	नपु.	नपु.(संस्थाने३)	३	नपुं.	पुं.स्त्री.	३
१६. कायस्थिति जघन्य उत्कृष्ट	 अन्त. असङ्ख्य.उत्स.	 अन्त. असङ्ख्य.उत्स.	 अन्त. असङ्ख्य.उत्स.	 अन्त. असङ्ख्य.उत्स.	 अन्त. अनन्त.उत्स.	 अन्त. सङ्ख्येय वर्ष	 अन्त. सङ्ख्येय वर्ष	 अन्त. सङ्ख्येय वर्ष	 अन्त. ७ भव ७ पूर्वक्रोड वष	 अन्त. ७/८ भव	 – –	 – –	 अन्त. ७/८ भव
१७.संहनन-६	१-षष्ठम्	१-षष्ठम्	१-षष्ठम्	१-षष्ठम्	१-षष्ठम्	१-षष्ठम्	१-षष्ठम्	१-षष्ठम्	१-षष्ठम्	६	–	–	६
१८.संस्थान-६	अर्द्धमसूर १ हुण्डम्	स्तिबुक १ हुण्डम्	सूचीकलाप १ डुण्डम्	पताका १ हुण्डम्	अनित्थंथ १ हुण्डम्	१ हुण्डम्	१ हुण्डम्	१ हुण्डम्	१ हुण्डम्	६	१ हुण्डम्	१ समचतुरस्र	६
१९ अवगाहना जघन्य उत्कृष्ट	 अङ्गुलासङ्ख्यातभाग अङ्गुलासङ्ख्यातभाग	 अं.अ.भा. अं.अ.भा.	 अं.अ.भा. अं.अ.भा.	 अं.अ.भा. अं.अ.भा.	 अं.अ.भा. १००० योजन साधिक	 अं.अ.भा. १२ योजन	 अं.अ.भा. ३ गव्यूत	 अं.अ.भा. १ योजन	 अं.अ.भा. २००० योजन	 अं.अ.भा. १००० योजन	 अं.अ.भा ५०० धनु	 अं.अ.भा. ७ हाथ	 अं.अ.भा. ३ गव्यूत
२०.समुद्घात-७	३ वे.क.म.	३ वे.क.म.	३ वे.क.म.	४ वे.क.म.वै	वे.क.म. ३	३ वे.क.म.	३ वे.क.म.	३ वे.क.म.	३ वे.क.म.	५ वे.क.म.वै.तै.	४ वे.क.म.वै.	५वे.क.म.वै.तै.	७
२१ कर्मबन्ध मूलहेतु-५	४ प्रतिगुणस्थानम्	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४
२२. कर्मबन्ध उत्तरहेतु-५७	५७ प्रतिगुणस्थानम्	५७	५७	५७	५७	५७	५७	५७	५७	५७	५७	५७	५७
२३.कषाय ४/१६	प्रतिगुणस्थानम् चिन्तितम्												

मनःस्थिरीकरणयन्त्रम्-२

पृथिव्यादिषु जीवस्थानानि (गाथा १०)

	पृथ्वीकाय	अप्काय	तेजस्काय	वायुकाय	वनस्पतिकाय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असञ्जितिर्यक्	सञ्जि तिर्यक्	मनुष्य	नरक	देव	योग
जीवस्थानक ↓														योग↓
सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	√	√	√	√	√									५
सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त	√	√	√	√	√									५
बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त	√	√	√	√	√									५
बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त	√	√	√	√	√									५
द्वीन्द्रिय पर्याप्त						√								१
द्वीन्द्रिय अपर्याप्त						√								१
त्रीन्द्रिय पर्याप्त							√							१
त्रीन्द्रिय अपर्याप्त							√							१
चतुरिन्द्रिय पर्याप्त								√						१
चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त								√						१
असञ्जि पञ्चे. पर्याप्त									√					१
असञ्जि पञ्चे. अपर्याप्त									√		√			२
सञ्जि पञ्चे. पर्याप्त										√	√	√	√	४
सञ्जि पञ्चे. अपर्याप्त										√	√	√	√	४
योग →	४	४	४	४	४	२	२	२	२	२	३	२	२	

मनःस्थिरीकरणयन्त्रम्–३

पृथिव्यादिषु गुणस्थानानि (गाथा १६)

	पृथ्वीकाय	अप्काय	तेजस्काय	वायुकाय	वनस्पतिकाय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असञ्जितिर्यक्	सञ्जि तिर्यक्	मनुष्य	नरक	देव
मिथ्यात्व	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
सास्वादन	× (√ क)	× (√ क)			(क)	√	√	√	√	√	√	√	√
मिश्र										√	√	√	√
सम्यक्त्व										√	√	√	√
देशविरति										√	√		
प्रमत्त संयत											√		
अप्रमत्त											√		
निवृत्ति बादर											√		
अनिवृत्ति बादर											√		
सूक्ष्म सम्पराय											√		
उपशान्त											√		
क्षीणमोह											√		
सयोगिकेवली											√		
अयोगिकेवली											√		
	१(२)	१(१)	१	१	१(१)	२	२	२	२	५	१४	४	४

मनःस्थिरीकरणयन्त्रम्–४

पृथिव्यादिषु १५ योगाः (गाथा १७)

	पृथ्वीकाय	अप्काय	तेजस्काय	वायुकाय	वनस्पतिकाय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असञ्जितिर्यक्	सञ्ज्ञि तिर्यक्	मनुष्य	नरक	देव
सत्यमनोयोग										√	√	√	√
असत्यमनोयोग										√	√	√	√
मिश्रममनोयोग										√	√	√	√
असत्यामृषा मनोयोग										√	√	√	√
सत्यवचनयोग										√	√	√	√
असत्यवचनयोग										√	√	√	√
मिश्रवचनयोग										√	√	√	√
असत्यामृषा वचनयोग						√	√	√	√	√	√	√	√
औदारिककाय योग	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√		
औदारिक मिश्र	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√		
वैक्रिय				√						√	√	√	√
वैक्रिय मिश्र				√						√	√	√	√
आहारक											√		
आहारक मिश्र											√		
कार्मण	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
	३	३	३	५	३	४	४	४	४	१३	१५	११	११

मनःस्थिरीकरणयन्त्रम्–५

पृथिव्यादिषु उपयोगाः (गाथा २०)

	पृथ्वीकाय	अप्काय	तेजस्काय	वायुकाय	वनस्पतिकाय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असंज्ञितिर्यक्	संज्ञि तिर्यक्	मनुष्य	नरक	देव
मतिज्ञान						√	√	√	√	√	√	√	√
श्रुतज्ञान						√	√	√	√	√	√	√	√
अवधिज्ञान										√	√	√	√
मनःपर्यायज्ञान											√		
केवलज्ञान											√		
मतिअज्ञान	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
श्रुतअज्ञान	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
विभङ्गज्ञान										√	√	√	√
चक्षुर्दर्शन								√	√	√	√	√	√
अचक्षुर्दर्शन	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
अवधिदर्शन										√	√	√	√
केवलदर्शन											√		
योग →	३	३	३	३	३	५	५	६	६	९	१२	९	९

कर्मग्रन्थमतेन

	पृथ्वीकाय	अप्काय	तेजस्काय	वायुकाय	वनस्पतिकाय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असञ्ज्ञितिर्यक्	सञ्ज्ञि तिर्यक्	मनुष्य	नरक	देव
मतिज्ञान										√	√	√	√
श्रुतज्ञान										√	√	√	√
अवधिज्ञान										√	√	√	√
मनःपर्यायज्ञान											√		
केवलज्ञान											√		
मतिअज्ञान	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
श्रुतअज्ञान	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
विभङ्गज्ञान										√	√	√	√
चक्षुदर्शन								√	√	√	√	√	√
अचक्षुदर्शन	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
अवधिदर्शन										√	√	√	√
केवलदर्शन											√		
योग →	३	३	३	३	३	३	३	४	४				

मनःस्थिरीकरणम् गुणस्थानकमाश्रित्य पृथिव्यादिषु उत्तरप्रकृतिबन्धस्य यन्त्रम्-६ (गाथा.१९)

उत्तरप्रकृतयः ज्ञा.-५, द.-९, वे.-२, मो.-२६, आ.-४, ना.-६७, गो-२, अं.-५ = १२०

	पृथ्वीकाय	अप्काय	तेजस्काय	वायुकाय	वनस्पतिकाय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असञ्ज्ञितिर्यक्	सञ्ज्ञि तिर्यक्	मनुष्य	नरक	देव
मिथ्यात्व	१०९	१०९	१०५	१०५	१०९	१०५	१०५	१०५	११७	११७	११७	१००	१०३
सास्वादन	९४	९४				१०९	१०९	१०९	९८	१०१	१०१	९६	९६
मिश्र										१००(?)	६९		
सम्यक्त्व										७०	७१		
देशविरति										६६	६७		
प्रमत्त संयत											६३		
अप्रमत्त											५८/५९		
निवृत्ति बादर अपूर्वकरण											१-५८ २-५६ ३-५६ ४-५६ ५-५६ ६-५६ ७-२६		
अनिवृत्ति बादर											१-२२ २-२१ ३-२० ४-१९ ५-१८		
उपशान्त											१७		
क्षीणमोह											१		
सयोगिकेवली											१		
अयोगिकेवली											०		

मनःस्थिरीकरणम् पृथिव्यादिषु कर्मबन्ध-उत्तरहेतुयन्त्रम्-७ (गाथा.१२९/१३०)

कर्मबन्धोत्तरहेतवः मिथ्यात्व-५, अविरति-१२ (मन, इन्द्रिय-५ काय-६), कषाय-२५ (१६ कषाय + ९ नोकषाय), योग-१५ (४ मन, ४ वचन, ७ काय) = ५७

	पृथ्वीकाय	अप्काय	तेजस्काय	वायुकाय	वनस्पतिकाय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असञ्जितिर्यक्	सञ्जि तिर्यक्	मनुष्य	नरक	देव	
मिथ्यात्व	३४	३४	३४	३४	३४	३६	३७	३८	३९	५५	५५	५१	५२	१
सास्वादन	३१	३१			३१	३१	३१	३१	३१	५०	५०	४६	४७	२
मिश्र										३४	३४	४०	४१	३
सम्यक्त्व										४६	४६	४२	४३	४
देशविरति										३९	३९			५
प्रमत्त संयत											२६			६
अप्रमत्त संयत											२४			७
अपूर्वकरण											२२			९
अनिवृत्ति बादर											१६			८
सूक्ष्म सम्पराय											१०			१०
उपशान्त मोह											९			११
क्षीणमोह											९			१२
सयोगिकेवली											७			१३
अयोगिकेवली											-			१४

मनःस्थिरीकरणम् पृथिव्यादिषु प्रतिगुणस्थानकं कषायबन्ध-उदय-सत्तायन्त्रम्-८ (गाथा-१५६/१५७/१५८)

	पृथ्वीकाय	अप्काय	तेजस्काय	वायुकाय	वनस्पतिकाय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असञ्ज्ञितिर्यक्	सञ्ज्ञि तिर्यक्	मनुष्य	नरक	देव
मिथ्यात्व	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६
सास्वादन	१६/१६/१६	१६/१६/१६			१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६	१६/१६/१६
मिश्र										१२/१६/१६	१२/१६/१६	१२/१६/१६	१२/१६/१६
सम्यक्त्व										१२/१२/ १२क्ष./१६उ	१२/१२/ १२क्ष./१६उ	१२/१२/ १२क्ष./१६उ	१२/१२/ १२क्ष./१६उ
देशविरति										८/८/ १२क्ष./१६उ	८/८/ १२क्ष./१६उ		
प्रमत्त संयत											४/४/१२क्ष./१६उ		
अप्रमत्त संयत											४/४/१२क्ष./१६उ		
अपूर्वकरण											१/२४/४/१२क्ष./१६उ ३/३/१२क्ष./१६उ ४ २/२/१२क्ष./१६उ ५ १/१/१२क्ष./१६उ		
अनिवृत्ति बादर											क्षपक १ ०/१/१२ २ ३ ४ /४ ५ ६ ७ ८ ९ २ १	उपशमक १२क्ष./१६उ	
सूक्ष्म सम्पराय											०/१/१	१२क्ष./१६उ	
उपशान्त मोह													
क्षीणमोह													
सयोगिकेवली													
अयोगिकेवली													

बन्ध/उदय/सत्ता

क्ष. = क्षायिक सम्यग्दृष्टिः, उ = औपशमिक सम्यग्दृष्टि क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि

परिशिष्ट–५

आचार्यश्रीसोमसुन्दरसूरिकृत

।। मनःस्थिरीकरणविचार ।।

।। ॐ नमो वीतरागाय।।

वीरं गुरुँश्च नत्वा श्री सोमसुन्दरसूरिभिः। वार्ताभिरेव लिख्यन्ते विचाराः केचिदागमात्।।

पृथ्वी १ अप २ तेउ ३ वाउ ४ वनस्पति ५ बेंद्रिय ६ त्रेंद्रिय ७ चउरिंद्रिय ८ असंज्ञिआ तिर्यंचपंचेंद्रिय ९ संज्ञिया तिर्यंचपंचेंद्रिय १० मनुष्य ११ नारकी १२ देव १३ एहे तेरे स्थानके जीवस्थानादिक विचार लिखीइं छइं।

तत्र प्रथमं जीवस्थानकविचारः। यथा– जीवस्थानक कहीइं जीवना भेद ते १४ कहीइं। एकेंद्रियना बि भेद जे सघले जगी छइं। दृष्टिगोचरि नावइं ते सूक्ष्म कहीइं। १ जे पृथिव्यादिक दृष्टिगोचरि आवइं ते बादर कहीइं। तथा बेंद्रिय ३ त्रेंद्रिय ४ चउरिंद्रिय ५। पंचेंद्रिय ना बिं भेद जे गर्भज जेहनइ मन हुइं ते संज्ञिया कहीइं। जे (सं)मूर्च्छिम पंचेंद्रिय जेहनइ मन न हुइं ते असंज्ञिया कहीइं। ७ ए सातइ जीवना भेद पर्याप्त हुइं। जे पूरां शरीरादिक करी आऊखूं पूरी मरइं ते पर्याप्ता। जे अपूरे मरइ ते अपर्याप्ता कहीइं। ए जीवना १४ भेद।

ए पृथिव्यप्कायादिक १३ स्थानके विचारीइं छइं। जीवना भेद पृथ्वीकायमांहि ४ हुइं। सूक्ष्मपृथ्वीकाय अपर्याप्त १, सूक्ष्मपृथ्वीकाय पर्याप्त २, बादरपृथ्वीकाय अपर्याप्त ३, बादरपृथ्वीकाय पर्याप्त ४। इम अप्–तेउ–वायु–वनस्पतिकायइमांहि एह च्यारिजि च्यारि भेद जाणिवा। बेंद्रिय त्रेंद्रिय चतुरिंद्रिय पंचेंद्रिय मांहि असंनीया पंचेंद्रिय बिबिद(भिद) ए पर्याप्तउ अनइ अपर्याप्तछ(उ)। मनुष्यमांहि जीवभेद त्रिणि–एक मनुष्य पर्याप्ता १ एकि अपर्याप्ता २ अनइ निरोधादिकमांहि जे मनुष्य ऊपजइं ते असंज्ञिया अपर्याप्ताइजि मरइं ३ एवं भेद ३। तथा नारकी अनइं देवमांहि बिहंइ ज भेद ऊपजवानी वेलांइं अपर्याप्ता १ पच्छइ पर्याप्ता २। इम १३ स्थानके जीवस्थानकि विचारियां।१

अथ गुणस्थानकविचारः। जे श्रीजिनधर्मनउं जाणिवुं तेह ऊपरि अरुचि ते मिथ्यात्व गुणठाणउं कहीइं १।

अनंतनुबंधियां कषायनइ उदयि सम्यक्त्व वमतां एक समय अथवा छआवली प्रमाण सास्वादन सम्यक्त्व बीजउं गुणठाणउं कहीइ। जिम को एक क्षीरखांड जिमीअनइ ते वमतां कांईलगार आस्वाद जाणइं तेह तउ पछइ मिथ्यात्विइंजि जाइ २।

जिनधर्म उपरि रागद्वेषइ नही जीणइं परिणामिइं ते मिश्र गुणठाणउं कहीइं। जिम नालिकेर द्वीपवासी मनुष्य हुइं जन्मा पूर्व अन्नऊपरि क्षण एक रागद्वेषइ नही जीणइ अणोलवीत(?) भणी ३।

चउथउं अविरत गुणठाणउं जेह हुइं विरति पाखइ केवलउं सम्यक्त्व हुइं ते ईणइ गुणठाणइं वर्तइं ४।

जेह हुइं सम्यक्त्व सहित व्रत हुइं तेह हुइं देशविरति गुणठाणउं कहीइ ५।

जे निद्रादिप्रमादसहित चारित्र ते प्रमत्त गुणठाणउं ६।

प्रमाद रहित चारित्र ते अप्रमत्त गुणठाणउं ७।

निवृत्तिबादर ८, अनिवृत्तिबादर ९, सूक्ष्मसंपराय १० ए त्रिणि गुणठाणां एकेकेपाहिं घनउं चोखा अध्यवसाय रूप उपशमश्रेणि अनइ क्षपकश्रेणि चडतां हुइं। एहे गुणठाणे उपशमश्रेणि करतउ मोहनीय कर्म संघलुहुइं उपशमावइं। पुण सत्तांहुइं पुण उदय नावइं। अनइ क्षपकश्रेणि करतां मोहनीय कर्म सघलुं क्षपइ पोताथकउं त्रोडइं।

इग्यारमउं उपशांतमोह गुणठाणउं उपशमश्रेणिनइ माथइ हुइं। तिहां थकउ पडिउ पाछउ मिथ्यात्व लगइ जाइं। जइ तिहांजि रहिउं मरइं तउ अनुत्तर विमानि जाइ ११।

बारमउं क्षीणमोह गुणठाणउं तिहां ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अंतराय ए त्रिणि कर्म क्षेपइं मोहनीय कर्म आग(ल)इं सूक्ष्मसंपराय गुणठाणइं जि रहिउं १२।

तेरमउं सयोगिगुणठा-णउं केवलज्ञान ऊपना पुठिइं १३।

चउदमउं अयोगिगुणठाणउं ते मोक्षि जातां सइरना[१] विस्तारनउ त्रीजउ भाग संकोचीइ बिभागनइ विस्तारि आत्माइं रहिइं हुइं जेतली वेलां पाच अ-इ-उ-ऋ-लृ ह्रस्व अक्षर उच्चरीइं तेती वेलां प्रमाण हुइ १४। ए गुणठाणां १४ कहीइ।

पृथ्वीकायमांहि पहिलां बि गुणठाणां हुइं। एकतां मिथ्यात्व १ बीजुं -सम्यक्त्व वमतउ मरइ पृथ्वीकायमांहि जाइ तेहहुइं धुरि दस हुइं। पुण ते डहुली[२] भणी सिद्धांतवादी लेखइ न गणइ, मिथ्यात्वइजि कहइ। इम अप्कायमांहि एह जि बि गुणठाणा जाणिवां २। तेउकाय-वाउकायमांहि मिथ्यात्वरूप एकइजिं गुणठाणुं कहीइ। जेह भणी सम्यक्त्व वमतउ तिहां न जाइ ३-४। वनस्पतिकायमांहि पृथ्वीकायनी परिं पहिलाइंजि बि गुणठाणा हुइं।५ बेंद्रिय त्रेंद्रिय चउरिंद्रिय अनइ असंज्ञियां तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि पहिलांइजि बि गुणठाणां हुइं, जेह भणी सम्यक्त्व वमतउ को को जाइ। तेह भणी एहमांहि बि गुणठाणां सिद्धांतना जाणइं मानइं ६-७-८-९। संज्ञिया पंचेंद्रिय तिर्यंचमांहि मिथ्यात्व-सास्वादन-मिश्र-अविरत-देशविरत ए पांच गुणठाणा हुइं, जेण भणी के के तिर्यंच जांतिस्मरणादिके करी देशविरतिइ पडिवजइं १०। संज्ञिया मनुष्यमांहि चऊदइं गुणठाणा हुइं। असंज्ञिया मनुष्यमांहि एक मिथ्यात्व जि हुइं। सम्यक्त्व वमतउ तेहमांहि न जाइ ११। नारकी अनइ देवमांहि मिथ्यात्व सास्वादन-मिश्र- अविरत ए चारिजि गुणठाणा हुइं। एवं तेर १३ थानके गुणठाणां विचारियां।

अथ योगविचारः। योग कहीयइं साची वस्तु मनि चींतवीतवीइं जगमांहि 'जीव छइं' इत्यादि ए सत्यमनोयोग कहीइं। जे वस्तु कूडी मनमांहि चींतवइ 'जीव नथी' इत्यादि ए असत्य मनोयोग २। घणी जूजुई जातिना वृक्षनउं वन देखी इम चींतवइ 'ए आंबाइजिनउ वन' ए सत्यामृषावाद मनोयोग कहीइ। जेह भणी कांई साचउं कांई कूडउं 'तेहमांहि घणाइं आंबा छइं' तेह भणी साचउं अनराइ धव-खइर-पलासादिक वृक्ष छइं तेह भणी कूडउं ३। जे आदेश निर्देशादिकना वचन मनिचींतवइं 'हे! देवदत्त! घडउ आणि' 'अमुकउं मूहरइ दिइ' इत्यादिक आदेशनिर्देशना मन ते असत्यामृषा मनोयोग कहीइ। जेह भणी ए साचउंइ नही अनइ कूडउं नही व्यवहारवचन भणी ४। इंम चिहुं प्रकारि वचनयोग जाणिवउ ८। सात काययोग कहीइं। औदारिक सरीर हुइं ते औदारिक काययोग ९ परलोक थकउ जीव आवइ मनुष्य तिर्यंच मांहि ऊपजइं तिवारइं कार्मणसिउं औदारिकना पुद्गल मिश्र हुई तेह भणी औदारिक मिश्रकाययोग १०। जीवहुइं परलोकि जातां विचालइ कार्मण काययोग ११। देवलोकि अनइ नरकि ऊपजतां जीवहुइं वैक्रियमिश्रकाययोग हुइ १२। देवनारकीनइ सरीर नीपना पूठिइं वैक्रिय

१ = शरीर
२ = अल्प

काययोग हुइ १३। चऊदपूर्वधर संदेह ऊपनइ ते भांजवां भणी तीर्थंकर कंहइं मोकलिवा हाथप्रमाण आहारक शरीर करइं ते करतां मिश्र हुइ १४। कीधा पूठिइं आहारक कहीइं १५।

योग तेरे स्थानके विंचारीइं च्छइं। पृथ्वीकायमांहि ३ काययोग हुइं। अंतराल गतिइं कार्मण १ ऊपजतां औदारिक मिश्र २ सइर नीपन्यु पूठिइं औदारिक कहीइं ३। इम अप्काय, तेउकाय, वनस्पतिकाय मांहि एह जि त्रिणी हुइं। अंनइ वाउकायमांहि पांच योग कहीइं। त्रिणि पाछलाइ जि योग अनइ वैक्रिय करतां वैक्रियमिश्र ४ कीधा पूठिइं वैक्रिय कहीइ ५। वाउकायहूइं भवस्वभाविइं वैक्रिय करिवानी लब्धि हुइ। बेंद्रिया, तेंद्रिया, चउरिंद्रिया, असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय मांहि च्यारि च्यारि योग हुइं। अंतराल गतिइं कार्मण १ उपजतां औदारिक मिश्र २ पछइ शरीर नीपना पूठिइं औदारिक ३ भाषापर्याप्ति हुई पूठिइं असत्यामृषा भाषा ४। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियहुइं आहारक मिश्र १ आहारक २ ए बि योग न हुइं, बीजा तेरइ योग हुइं। जेह भणी अढई द्वीप बाहरिं केतलाइ पंचेंद्रिय तिर्यंचहुइं वैक्रियशरीर करवानी लब्धी हुइं, कर्मविशेषिइं। मनुष्यमांहि ४ मनोयोग ४ वचनयोग ७ काययोगरूप १५ योग हुइं। असंज्ञिया मनुष्यहुइ त्रिणि योग हुइ। केहा केहा कार्मण १ औदारिक मिश्र २ योग हुइं। शरीरपर्याप्ति हुइ पूठिइं औदारिकयोगइ त्रीजउ हुइ इम केतला आचार्य कहइं। नारकी अनइ देवमांहि ४ मनोयोग, ४ वचनयोग, कार्मण; वैक्रियमिश्र; वैक्रिय ३ काययोग एवं ११ योग हुइं। इति तेरे थानके योग विचारिया।।

अथ उपयोगविचारः। उपयोग १२ कहीइं। जीवहूइं एकको उपयोग सदैव हुइ। उपयोगरहित जीव किवारइं न हुइं। ते ए मतिज्ञान १ श्रुतज्ञान २ अवधिज्ञान ३ मनःपर्यवज्ञान ४ केवलज्ञान ५ मिथ्यात्वी हुइं मतिअज्ञान १ श्रुतअज्ञान २ अवधिअज्ञान ते विभंगज्ञान ३–६,७,८ चक्षुर्दर्शन ९ अचक्षुर्दर्शन १० अवधिदर्शन ११ केवलदर्शन १२।

पृथ्वीकायहुइं मतिअज्ञान, अचक्षुर्दर्शन, श्रुतअज्ञान ३ ए त्रिणि उपयोग अव्यक्तज्ञानरूप हुइं। अप्काय, तेउकाय,वाउकाय,वनस्पतिकायमांहि एह ज त्रिणि उपयोग हुइं। बेंद्रिय, त्रेंद्रिय मांहि मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान अचक्षुर्दर्शन ३ ए त्रिणि उपयोग हुइं। सिद्धांतना धणी सास्वादन गुणठाणानी वेलां ज्ञान मानइं तेह भणी मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ए बिहुं करी उपयोग हुइं। कर्मग्रंथना धणी सास्वादनइं तीणइ वेलांइं १ डहुली ज्ञान भणी अज्ञानजि कहइं। चउरिंद्रिय, संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि मतिअज्ञान १ श्रुतअज्ञान २ चक्षुर्दर्शन ३ अचक्षुर्दर्शन ४ कर्मग्रंथनइ अभिप्राइयिइं ए च्यारि उपयोग हुइं। सिद्धांतनइं अभिप्राइं सास्वादननी वेलांइं मतिज्ञान श्रुतज्ञान गणींइं तव ६ उपयोग हुइं। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि मतिअज्ञान १ श्रुतअज्ञान २ विभंगज्ञान ३ मतिज्ञान ४ श्रुतज्ञान ५ अवधिज्ञान ६ चक्षुर्दर्शन ७ अचक्षुर्दर्शन ८ अवधिदर्शन ९ ए नव उपयोग हुइं। संज्ञिया मनुष्यनइं १२ उपयोग हुइं। असंज्ञिया मनुष्यहुइं मतिअज्ञान १ श्रुतअज्ञान २ अचक्षुर्दर्शन ३ ए त्रिणि उपयोग हुइं। नारकी अनइं देव हुइं नव नव उपयोग हुइं। मतिअज्ञान १ श्रुतअज्ञान २ विभंगज्ञान ३ मतिज्ञान ४ श्रुतज्ञान ५ अवधिज्ञान ६ चक्षुर्दर्शन ७ अचक्षुर्दर्शन ८ अवधिदर्शन ९ ए नव उपयोग हुइं। इमं तेरे थानके उपयोग विचारिया।

अथ लेश्याविचारः। मनोवर्गणादि योगद्रव्यमांहि कृष्णलेश्यादि योग्य पुद्गलद्रव्य हुइं। तेहनइ संयोगि जे आत्मा नइं रूडउ विरूउ परिणामं हुइ ते लेश्या कहीइ। जिम स्फुटिकरत्नहुइं जिसिउं पाछलि कालउ, नीलउ, रातउ, मूकीइ तेहवउ वर्ण थाइं। ते लेश्या ६ कहीइं। कृष्ण लेश्या १ नील लेश्या २ कापोत लेश्या ३। गाढी विरूई हुइ। तेजो लेश्या ४ पद्म लेश्या ५ शुक्ल लेश्या ६ ए त्रिणि लेश्या रूडी कहीइं। जम्बू खादकनइं दृष्टांतिइं ६ लेश्यानां स्वरूप जाणिवां। जिम ६ पुरुष कोएक अटवीमांहि जातां भूख्या थिया। जम्बू वृक्ष गाढउ फलिउ देखी कृष्ण लेश्यानउ धणी एक पुरुष कहीइ 'मूल लगइ चीदी पाडी फल खाईइं' १। बीजउ नील लेश्यानउ

धणी कहइ मूलगी छाल(?) पाडी फल खाईइं' २। त्रीजउ कापोत लेश्यानउ धणी कहइ पडिडाल पाडी फल खाईइं ३। चउथउं तेजो लेश्यानउ धणी कहइ 'कउरखां पाडी फल खाईइं' ४। पांचमउ पद्मलेश्यानउ धणी कहइ फल पाडी खाईइं ५। छट्ठुंउ शुक्ललेश्या नउ धणी कहइ पडियां ति फल खाईइं ६। ए छ लेश्या कहीइं।

एह जि तेरे थानकि विचारीइं छइ। पृथ्वीकाय १ अप्काय २ वनस्पतिकाय ३मांहि च्यारि लेश्या हुइं। कृष्ण १ नील २ कापोत ३ अनइ तेजोलेश्यानु धणी सौधर्मादिक देव मरी जेतीवारइं एहमांहि ऊपजइ तेतीवारइ थोडीसी वेला चउथी तेजोलेश्याइ ४ प्रा(पा)मीइ तेअ(उ)काय,वाउकाय, बेंद्रिय,त्रेंद्रिय,चउरिंद्रिय, असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि ऊपजइं तेतीवारइं कृष्ण १ नील २ कापोत ३ लेश्या ए त्रिणि जि हुइं। जेह भणी देव को तेजो लेश्यावंता एहमांहि न ऊपजइं। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय, संज्ञिया मनुष्य अनइ देवमांहि कृष्ण नीलादिक छइ हुइं। असंज्ञिया मनुष्य अनइ नारकी हुइं कृष्ण १ नील २ कापोत ३ ए त्रिणि जि हुइं। लेश्या तेरे थानके विचारी।।

अथ शरीरविचारः। शरीर पांच कहीइ छइं। औदारिक १ वैक्रिय २ आहारक ३ तैजस ४ कार्मण ५ ए पांच शरीर कहीइं। पृथ्वीकाय १ अप्काय २ तेउकाय ३ वनस्पतिकाय ४ बेंद्रिय ५ त्रेंद्रिय ६ चउरिंद्रिय ७ असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि सदैव औदारिक १ तैजस २ कार्मण ३ एह जि त्रिणि सइर हुइं। वाउकाय संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय मांहि औदारिक १ वैक्रिय २ तैजस ३ कार्मण ४ ए च्यारि सइर हुइं। जेह भणी केतला वाउकाय अनइ संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियहुइं वैक्रियकाय करवानी शक्ति हुइ। अपर्याप्त मनुष्यहुइं औदारिक १ तैजस २ कार्मण ३ ए त्रिणिजि सइर हुइं। संज्ञिया मनुष्यहुइं औदारिक १ वैक्रिय २ तैजस ३ आहारक ४ कार्मण ५ ए पांचइ सइर हुइं। नारकी अनइ देवहुइं वैक्रिय १ तैजस २ कार्मण ३ ए त्रिणिजि सइर हुइं। इम तेरे स्थानके शरीर विचारियां।

अथ पर्याप्तिविचार लिखिइ छइ। पर्याप्ति छ कहीइं। जीवहुइं भवांतरि ऊपजतां पहिलइ समइ आहारपर्याप्ति हुइं। आहार पुद्गल लिइ तिवार पूठिइं अंतर्मुहूर्तिइं शरीरपर्याप्ति हुइ। सयर[१] करइ तिवार पूठिइं इंद्रिय पर्याप्ति। इंद्रिय करेइ तिवार पूठिइं अंतर्मुहूर्तइ आनप्राणपर्याप्ति = सासऊसास लेवानी शक्ति उपजइ। तिवार पूठिइं अंतर्मुहूर्तइ वचननी शक्ति उपजइ। तिवार पूठिइं अंतर्मुहूर्तइं मनःपर्याप्ति = मनिइं वस्तु चींतविवानी शक्ति उपजइं।

एहजि छ पर्याप्ति तेरे स्थानकि विचारीइ छइं। पृथ्वीकाय १ अप्काय २ तेउकाय ३ वाउकाय ४ वनस्पतिकाय ५ ए पांचमांहि च्यारि च्यारि पर्याप्ति हुइं। यथा पहिली आहारपर्याप्ति १ बीजी शरीरपर्याप्ति २ त्रीजी इंद्रियपर्याप्ति ३ चउथी आनप्राणपर्याप्ति ४ ए च्यारि पर्याप्ति हुइं। बेंद्रिय,त्रेंद्रिय,चउरिंद्रिय, संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय मांहि च्यारि एहजि अनइ भाषापर्याप्ति पांचमी ए पांच। मनुष्य नारकी देवहुइं छइ पर्याप्ति हुइ। पुण एतलुं विशेष देवहुइं भाषापर्याप्ति पांचमी अनइ छट्ठी मनःपर्याप्ति ए बिह्नइं समकाल एकइं वारइं, बीजा जीवहुइं अनुक्रमिइं अंतर्मुहूर्तनइ आंतरइ पहिलुं भाषापर्याप्ति पछइ मनःपर्याप्ति हुइं। इम तेरे थानके पर्याप्ति विचारी।

अथ प्राणविचारः। प्राण १० कहीइं। कान १ आंखि २ नासिका ३ जीभ ४ सयर[२] ५ ए पांच इंद्रिय, पांच प्राण, त्रिणि बल मननउ बल १ वचननउं बल २ कायबल ३ त्रिणि प्राण ८, नवमउ प्राण सासऊसास ९ दसमउ प्राण आऊखउं १०। ए दस प्राण।

हवइं तेरे थानके दस प्राण विचारीइं छइं। पृथ्वीकाय १ अप्काय २ तेअ(उ)काय ३ वाउकाय ४

---

१ = शरीर

२ = स्पर्श

वनस्पतिकाय ५ ए पांच मांहि च्यारि प्राण हुइं। एक स्पर्शनेंद्रिय १ बीजउं कायबल २ त्रीजउ सासऊसास ३ चउथउं आऊखउं ४ ए च्यारि प्राण हुइं। बेंद्रियमांहि स्पर्शनेंद्रिय १ रसनेंद्रिय २ कायबल ३ वचनबल ४ श्वासोच्छ्वास ५ आऊखउं ६ ए छ प्राण हुइं। तेंद्रियमांहि नासिकानउं इंद्रिय अधिकउं तेह भणी सात प्राण हुइं। चउरिंद्रियमांहि आंखिनउं इंद्रिय अधिकउं तेह भणी आठ प्राण हुइं। असंज्ञिया पंचेंद्रियहुइं काननउं इंद्रिय अधिकउं तेह भणी नव प्राण हुइं। संज्ञिया पंचेंद्रियहुइं मनोबल सहित दस प्राण हुइं। मनुष्य,नारकी देव ए त्रिहुहुइं पुण ए १० प्राण हुइं। इम तेरे स्थानके प्राण १० विचारियां।

हवइ तेरे स्थानके जघन्य, मध्यम अनइ उत्कृष्टउं आऊखउं विचारीइ छइ। पृथ्वीकायमांहि जघन्य आऊखउं अंतर्मुहूर्त; उत्कृष्टउं आऊखउं बावीस वर्षसहस्र २२०००। अप्कायमांहि जघन्य आऊखउं अंतर्मुहूर्तजि; उत्कृष्टउं सात वर्षसहस्र ७०००। तेअ(उ)कायमांहि जघन्य अंतर्मुहूर्त; उत्कृष्टउं त्रिणिजि दीहाडा। वाउकायमांहि जघन्य अंतर्मुहूर्त आऊखउं; उत्कृष्टउं त्रिणि ३ वर्षसहस्र (३०००)। वनस्पतिकायहुइं जघन्य अंतर्मुहूर्त आयु; उत्कृष्टउं १० दश वर्षसहस्र (१००००)। बेंद्रियमांहि जघन्य अंतर्मुहूर्त आयु; उत्कृष्टउं १२ बार वरस। त्रेंद्रियहुइं जघन्य अंतमुहूर्त; उत्कृष्टउं इगुणपंचास ४९ दीहाडा आयु हुइ। चउरिंद्रियमांहि जघन्य अंतमुहूर्तउ; उत्कृष्टउं छ ६ मास। असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि जघन्य अंतमुहूर्त आयु; उत्कृष्टउं एक पूर्व कोडि १ सत्तरि कोडि नाला प (नव लाख) छपन कोडि सहस्र एतले वरसे एक पूर्व हुइ। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियहुइं जघन्य अंतर्मुहूर्त आयु; उत्कृष्टउं ३ पल्योपम। मनुष्यहुइं जघन्य अंतर्मुहूर्त उत्कृष्टउं ३ पल्योपम। नारकीहुइं जघन्य १० सहस्र वर्ष; उत्कृष्टउं ३३ सागरोपम। देवहुइं जघन्य १० वर्ष सहस्र; उत्कृष्टउं आऊखउं ३३ सागरोपम। एवं तेरे थानके आऊखउं विचारिउं।

हिव केही गतिना आव्या पृथ्वीकायादिक १३ हुइं ते वात विचारिइ छइ।

पृथ्वीकाय १ अप्काय २ वनस्पतिकाय ३ ए त्रिणि तिर्यंचगतिमांहितउ, मनुष्यगतिमांहितउ, देवगति मांहितउ आव्या हुता हुइं। जेह भणी सौधर्म, ईशान लगइ देव रत्न १ वावि २ कल्पद्रुम ३ ए त्रिणिहुंनइमांहिं मरी अनुक्रमिइं पृथ्वीकाय १ अप्काय २ वनस्पतिकायमांहि ३ ऊपजइं। तेउकाय, वाउकाय अनइ बेंद्रिय, त्रेंद्रिय, चउरिंद्रिय, असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि बिहुं गतिजिना आव्या हुइं। एक तिर्यंचगति १ अनइ बीजी मनुष्यगति २ ए बिहुंजिना आव्या हुइं। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय अनइ मनुष्य ए बिहुं गतिथउ आव्या हुइं २। नारकी अनइ देव तिर्यंचगति,१ मनुष्यगति २ ए बिहुं जथा (जिता) आव्या हुइं।

हव १३ थानकतउ मरी किहां जाइ? ते वात विचारीइ छइ। पृथ्वीकाय १ अप्काय २ वनस्पतिकाय ३ बेंद्रिय ४ त्रेंद्रिय ५ चउरिंद्रिय ६ एतला मरी बिहुजि गतिमांहि जाइं- कि तिर्यंचमांहि कि मनुष्यमांहिं। तेउकाय १ वाउकाय २ ए बि मरी तिर्यंचइजिमांहि जाइं। मनुष्य तथाइं असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय, संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय चिहुं गतिमांहि जाइं। मनुष्यइ चिहुं गतिं जाइं। पांचमी मोक्षगतिइं जाइं। नारकी अनइ देव मरी तिर्यंच कि मनुष्यइजिमांहि; बीजी गति न जाइं। इम गति तेरे थानके १३ विचारी।।

अथ ८४ लाख जीवाजोनिविचारः। योनि = जीवनुं उत्पत्तिस्थानक। जेहिं योनिना वर्ण-गंध-रस-स्पर्श सरीखा ते एक योनि जाणिवी। ते योनिना भेद पृथ्वीकायमांहि सात लाख, अप्कायमांहि ७ लाख, तेउकायमांहि सात लाख, वाउकायमांहि सात लाख, प्रत्येक वनस्पतिकायमांहि १० लाख, अनंतकायमांहि १४ लाख, एवं वनस्पतिकायमांहि २४ लाख, बेंद्रिय-त्रेंद्रिय-चउरिंद्रियमांहि बि बि लाख, तिर्यंच पंचेंद्रिय असंज्ञिया अनइ संज्ञिया थई ४ च्यारि लाख, मनुष्यमांहि १४ लाख। नारकी अनइ देव मांहि ४-४ च्यारि-यारि लाख एवं ८४ लाख जीवयोनि कहीइं।

अथ कुलसंख्याविचारः। इकेकी योनिइं कुल घणां हुइं। एक जिम छाणनी योनिमांहि कृमिकुल घणा जुआं[१] हुइं, कीडना कुल जुआं हुइं, वींछीना कुल जुआं हुइं। इसी परिइं योनिइं कुल घणा हुइं। वनस्पतिकायमांहि २८ लाख कुलकोडि, बेंद्रियमांहि ७ सात लाख कुलकोडि, त्रींद्रियमांहि ८ लाख कुलकोडि, चउंद्रि(रिंद्रि)यमांहि ९ लाख कुलकोडि, जलचरमांहि साढाबार लाख कुलकोडि, खेचरमांहि १२ लाख कुलकोडि, स्थलचरमांहि १० लाख (कुल)कोडि, गोह-नकुलादिक भुजपरिसर्पमांहि ९ लाख (कुल)कोडि, उरसर्पजातिमांहि १० लाख कुलकोडि, एवं संज्ञिया असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि साढ ५३ लाख कुलकोडि, मनुष्यमांहि १० लाख (कुल)कोडि, नारकीमांहि २५ लाख कुलकोडि, देवमांहि २६ छवीस लाख (कुल)कोडि एवंकारइ एक कोडाकोडि, सत्ताणु लाख कोडि, पंचा[स] सहस्र कोडि कुल हुइं। १,९७,५०,०००,०००,०००० इति कुलसंख्याविचारः।

अथ वेदविचारः। पुरुषहुइं स्त्री ऊपरि अभिलाष ते तृणपूलाग्निज्वालासमान पुरुषवेद कहीइं १। स्त्री हुइं पुरुष ऊपरि अभिलाष ते कारिसना अग्नि सरीखउं स्त्रीवेद कहीइ २। पुरुषस्त्री बिहुं ऊपरि जे अभिलाष ते नपुंसकवेद नगरदाहसमान।

पृथ्वी(काय) १ अप्काय २ तेउकाय ३ वाउकाय ४ वनस्पतिकाय ५ बेंद्रिय ६ त्रेंद्रिय ७ चउरिंद्रिय ८ हुइं नपुंसकवेदजि हुइं। असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय हुइं नपुंसक वेदजि हुइ। पुण आकार मात्र त्रिणइ हुइं। जिम छींपी गंगेदि आडेडिक (?) इत्यादि। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियहुइं अनइ मनुष्यनइं स्त्रीवेद १ पुरुषवेद २ नपुंसकवेद ३ हुइं। असंज्ञिया मनुष्यहुइं नपुंसकजि हुइं। नारकीहुइं एक नपुंसकजि हुइं। देवहुइं स्त्रीवेद १ पुरुषवेद २ हुइ। इम तेरे थानके वेद विचारिआ।

अथ कायस्थितिविचारः। कायस्थिति ते कहीइ जे पृथ्वीकायादिक एकजि जातिमांहि वली वली मरइ वली वली ऊपजइ। जेतलउ काल एकजि जातिमांहि भव-पूरतउ रहइ, अनेरी जाति न जाइ तेतला कालहुइं कायस्थिति कहीइ। ते जघन्य उत्कृष्ट कहीइ।

ए कायस्थिति तेरे थानके विचारीइ छइ। खडी, वानी, अरणेटा माटी प्रमुख पृथ्वीकायजिनी जातिमांहि को जीव वली वली मरइ वली वली ऊपजइ। इम पृथ्वीकायमांहि केतलउ काल हुइ? जघन्यत बिभव बि बि अंतर्मुहूर्त। बिहु भवे १ अंतर्मुहूर्त हुइ। जघन्यत कायस्थिति बिहु भव पाखइ न कहीइं। एक भव भवस्थितिजि कहीइ। पृथ्वीकायमांहि उत्कृष्टी कायस्थिति असंख्याताभव। काल आश्री असंख्या ते चऊद रज्ज्वात्मक लोक जेवडे खंडे जेतला आकाश प्रदेश हुइं तेतली उत्सर्पिणी अवसर्पिणी जाणिवी। इमजि अप्काय, तेउकाय, वाउकायइमांहि जघन्य उत्कृष्टउ कायस्थिति हुइ। वनस्पतिकायमांहि जघन्य कायस्थिति बि भव काल आश्री अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्टी कायस्थिति अनंता भव। अनन्ते चऊदरज्ज्वात्मक लोक जेवडे आकाशखंडे जेतला आकाशप्रदेश तेतली उत्सर्पिणी अवसर्पिणी हुइं। पुद्गलपरावर्ता जु जोईइ तउ एक आवलीनइ असंख्यातमइ भागि जेतला समय हुइं तेतला असंख्यात पुद्गलपरावर्त्त वनस्पतिकायमांहि कायस्थिति काल जाणिवउ। बेंद्रिय २ त्रींद्रिय ३ चउरिंद्रिय ४मांहि जघन्य कायस्थिति बि बिइ भव; बिहु भवे थई अंतर्मुहूर्त काल, उत्कृष्ट कायस्थिति संख्याता भव; काल आश्री संख्यातां वर्षसहस्र जाणिवी। असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिमांहि जघन्य कायस्थिति बि भव; काल आश्री अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्टी कायस्थिति सात भव। साते भवे सात पूर्वकोडि। आठमओ भव न हुइ, जि आठमइ भवि जाइ तउ युगलियामांहि जाइ, तेहां ते संज्ञिउजि हुइ। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि जघन्य

---

१ = जुदा, भिन्न

कायस्थिति बिभव; काल आश्री अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्टी कायस्थिति सात आठ भव; काल आश्री त्रिणि पल्योपम सात पूर्वकोडि सहित। नारकी अनइ देव मांहि कायस्थिति हुइ नही। जेह भणी नारकी मरी वली लागट नारकी न थाइं, देव मरी वली लागट देव न थाइं। ए बिहु मांहि भवस्थितिजि हुइ जघन्य भवस्थिति दशवर्षसहस्र, उत्कृष्टी भवस्थिति तेत्रीस सागरोपम हुइं। इति कायस्थिति तेरे थानके विचारी।

अथ संघयण विचारः। सरीरि जे हाडनउ बंधाण ते संघयण कहीइं। ते संघयण छइ ए प्रकारि हुइ वज्रऋषभनाराच (१ ऋषभनाराच) २ नाराच ३ अर्द्धनाराच ४ कीलिका ५ सेवार्त ६। जीणइ सइरि सर्व संधि हाड मर्कटबंधिमांहिमांहि बंधाण हुइ ऊपरि एक हाडनउ पाटउ हुइ, तेह ऊपरि बिहु हाडहुइं वेधक खीली ते वज्रऋषभनाराच १। जिहां खीली न हुइं ते ऋषभ नाराच २। जिहां पाटउइ न हुइं ते नाराच ३। जिहां एकइं पासइं मर्कटबंध हुइ एकइ गमइं न हुइ ते अर्द्धनाराच ४। जिहां मर्कटबंध न हुइ बिहुं हाड वेधक खीली मात्र हुइ ते कीलीका ५। जिहां हाड हाडिइं मिलिउंजि हुइं ; कांई बंध न हुइं ते सेवार्त ६।

संघयण कहीइ तेरे थानके विचारीइ छइ। पृथ्वीकाय १ अप्काय २ तेउकाय ३ वाउकाय ४ वनस्पतिकाय ५ मांहि संघयण न हुइं। जेह भणी तेहनइ सरीरि हाड न हुइं। बेंद्रिय १ त्रेंद्रिय २ चउरिंद्रिय ३ असंज्ञियां तिर्यंच पंचेंद्रिय ४ अनइ एकज सेवार्त संघयण हुइ। संज्ञिया पंचेंद्रिय तिर्यंच अनइ मनुष्यनइ छइ संघयण हुइं। नारकी अनइ देवहुइं संघयण नही। जेह भणी तेहतणा सइर मांस-अस्थि-रुधिरादिके करी रहित हुइं। इति तेरे थानके संघयण विचारियां।

अथ संस्थानविचारः। सरीरना आकार विशेषहुइ संस्थान कहीइ। ते संस्थान ६ कहीइं। समचतुरस्र १ न्यग्रोधपरिमण्डल २ सादि ३ वामन ४ कुब्ज ५ हुंड ६। जे सर्वांगि लक्षणोपेत हुइ ते समचतुरस्र संस्थान कहीइं १। जे सइर नाभिऊपहिरऊं लक्षणोपेत हुइं जिम वटवृक्ष ऊपरि पूरउं नाभि हेठउं हीन निर्लक्षण हुइ ते न्यग्रोध परिमण्डल २। जे नाभि हेठउं लक्षणोपेत हुइ ते सादि संस्थान ३। पूठि पेटहियइ निर्लक्षण, माथउं कोट, हाथ, पग एतला अवयव लक्षणोपेत हुइं ते वामन {संस्थान} संस्थान ४। जिहां माथउं कोट पग निर्लक्षण बीजा अवयव सवे लक्षणोपेत ते कुब्ज संस्थान ५। जिहां सर्व अवयव निर्लक्षण हुइं ते हुंड संस्थान ६।

पृथ्वीकायमांहि हुंड पुण मसूरधानना चांदला सरीखउं १। अप्कायनुं हुंड संस्थान पाणीना पोपटा सरीखउं २। तेउकायनउं हुंड संस्थान सुइन सरीरखउं ३। वाउकायनउं हुंड संस्थान ध्वजपताका सरीखउं ४। वनस्पतिकाय-बेंद्रिय-त्रेंद्रिय-चउरिंद्रिय-असंज्ञिया तिर्यंक्पंचेंद्रिय(नउ) हुंडसंस्थान विचित्र प्रकारि हुइं ५-६-७-८-९। संज्ञिया पंचेंद्रिय अनइ मनुष्यहुइं छइ संस्थान हुइ १०-११। नारकीनइ मूल वैक्रिय १ उत्तर वैक्रिय बिहु हुंड संस्थानजि हुइ २। देवनइ मूलवैक्रिय समचउरस हुइ, उत्तर वैक्रिय पुण विचित्र संस्थान हुइं १३। इम छ संस्थान तेरे थानके विचारियां{अथकार?}।।

अथ जघन्य उत्कृष्ट सरीरविचारः। पृथ्वीकाय १ अप्काय २ तेउकाय ३ वाउकाय ४ वनस्पतिकाय ५ जघन्य औदारिक शरीर अंगुलनउ असंख्यातमउ भाग अनइ उत्कृष्टउं अंगुलनउ असंख्यातमउ भाग, पुण जघन्यपाहि उत्कृष्टउ असंख्यातमउ भाग मोटेरडउ जाणिवउ। जेह भणी असंख्यातउ असंख्यातभेदे हुइ। वायुकायमांहि वैक्रिय सइर हुइ। तेहू जघन्य नइ उत्कृष्टतउं अंगुलउं असंख्यातमउ भाग जाणिवउं। जघन्यपाहिइं उत्कृष्टउं मोटेरडउं। वनस्पतिकाय अनन्तकायनउं सइर उत्कृष्टउंइ अंगुलनउं असंख्यातमउ भाग। प्रत्येक वनस्पतिनूं सरीर जघन्यतः अंगुलनउं असंख्यातमउ भाग, उत्कृष्टउं सहस्रजोअण कमलादिकनउं। बेंद्रियनउं धुरि ऊपजतां जघन्य सइर अंगुलनउ असंख्यातमउ भाग, उत्कृष्टउं बार जोअण समुद्रगत शंखादिकनउं। त्रींद्रियनउं धुरि ऊपजतां अंगुलनउ असंख्यातमउ भाग, उत्कृष्टउं [तेइंद्रिनुं सरीर धुरिं उपजतां अंगुलनां असंख्यातमो भाग] उत्कृष्टउं ३

कोस ऊदेही प्रमुखनउ। चउरिंद्रियनउं सइर धुरि ऊपजइतां अंगुलनउं असंख्यातमउ भाग उत्कृष्टउं १ जोअण भमरादिकनउं। असंज्ञिया पंचेंद्रिय अनइ संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियनउं सइर जघन्य धुरि ऊपजतां अंगुलनउ असंख्यातमउ भाग, उत्कृष्टउं सहस्र जोअण मत्स्यादिकनउं। ए तिर्यंच पंचेंद्रिय संज्ञियामांहि केतलाहुइं वैक्रिय लब्धि हुइ; ते वैक्रिय सइर धुरि करतां आंगुलनउ असंख्यातमउ भाग, उत्कृष्टउं नवसय जोअण हुइ। मनुष्यनउं जघन्य सरीर धुरि ऊपजतां अंगुलनउ असंख्यातमउ भाग, उत्कृष्टउं ३ कोस युगलीयादिकनउं। मनुष्यनउं वैक्रिय सइर धुरि ऊपजतां अंगुलनउ असंख्यातमउ भाग हुइ, उत्कृष्टउं लाख जोअण वैक्रिय सइर हुइ।

नारकीहुइं मूलिवैक्रिय शरीर ऊपजतां अंगुलनउ असंख्यातमउ भाग, उत्तरवैक्रिय अंगुलनउ संख्यातमउ भाग पछइ पहिली पृथ्वी पहिलइ पाथडि २ हाथ। आगिले बारे पाथडे साढ छप्पन्न अंगुल वधारतां जाईइ; तेरमइ पाथडि ७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल एवडउं शरीर हुइ। बीजीइं पृथ्वीइं उत्कृष्टउं सइर बिमणउ १५ धनुष २ हाथ १२ आंगुल। त्रीजीइं तेहपाहिं बिमणउं ३१ धनुष १ हाथ। इम बिमणउं करतां सातमी नरक पृथ्वीइं पांचसइं धनुष जाणिवा। जिहां जेवडउ मूलगउ सइर तेणइं नरगि तेहपाहिइं बिमणउं उत्तरवैक्रिय जाणिवउं। १२ देवलोकि देवतानइ धुरि ऊपजतां मूलउत्तरवैक्रिय सरीर अंगुलनउ असंख्यातमउ भाग, उत्तरवैक्रिय धुरि अंगुलनउ संख्यातमउ भाग। भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी अनइ पहिले बिहुं देवलोके मूल वैक्रियसरीर ७ हाथ ऊपले देवलोके मउडइ मउडइ खूटइतउ जाइ। चउथइ देवलोकि छेहिलइ बारमइ पाथडि ६ हाथ। छठइवइ देवलोकि छेहलइं पांचस(म)इं पाथडी ५ हाथ, आठमइ देवलोकि छेल्लिलइ चउथइ पाथडि ४ हाथ, बारमइ देवलोकि छेहिलइ चउथइ पाथडि ३ हाथ। नवमइं ग्रैवेयकि बि हाथ। सर्वार्थसिद्धि विमानि १ हाथ शरीरप्रमाण हुइ। उत्तरवैक्रिय देवनउं उत्कृष्टउं लाख १,००,००० जोअण प्रमाण हुइं। नव ग्रैवेयके अनइ अनुत्तर विमानि उत्तरवैक्रिय शरीर हुइजि नही। शरीर प्रमाणविचारः।

अथ समुद्घातविचारः। समुद्घात सात कहीइं। वेदना समुद्घात १ कषाय समुद्घात २ मरण समुद्घात ३ वैक्रिय समुद्घात ४ तैजस समुद्घात ५ आहारक समुद्घात ६ केवलि समुद्घात ७। ए सात समुद्घात। जिवारइं जीवहुइं गडगूंबडज्वरादिक अथवा शस्त्रादिघातादिकनी गाढी वेदना हुइ तिवारइं जीव प्रदेश बाहिरि काढइ। पेट-मुख-नासिका-कानादिकनां विवर जीव नियप्रदेशि करी भरइ, जेवडउं सयर छइ तेवडउ आकाश क्षेत्र बाहिरि पुण आपणे प्रदेशे व्यापी करी अंतर्मुहूर्त रहइं। घणी असातवेदनीय कर्म पुद्गल क्षिपइ। पछइ वली सयर(री)जिमांहि आवइ ए वेदना समुद्घात कहीयइ। इम जेति वारइं जीव रोषादिकषायनइ वसि तीव्र उदयइ वर्तइ तेती वारई मुख-नासिका-कर्णादिकना विवर पूरि स्वशरीरप्रमाण बाहरि आकाशक्षेत्र व्यापइ कषाय कर्मना पुद्गल वेइ वली अंतर्मुहूर्त पूठि सयरजिमांहि आवइ ए कषाय समुद्घात कहीअइ २। मरणनइ समइ अंतर्मुहूर्त थाकतइ केतलाइ जीव मरण समुद्घात करइं। मरण समुद्घात करतउ आपणा जीवप्रदेश बाहिरि काढइ। जघन्यतउ अंगुलनउ असंख्यातमउ भाग उत्कृष्टउ असंख्याता जोअण। जीणइ थानकि आवतइ भवि ऊपजसिं तहां जीवप्रदेश घालइ। ऋजु गति करइतउ एकजि समइ घालइं विग्रहगति करइतउ उत्कृष्टत पांचमइ समइ घालइ। ईणइजि घणा घणा आऊखाना पुद्गल वेईनइ क्षिपइ। ए मरण समुद्घात कहीयइ।

एहू समुद्घात अंतर्मुहूर्त प्रमाण हुइ। वैक्रिय लब्धिनउइ धणी जेतीवारइ वैक्रियशरीर करइ तेतीवारइं आपण जेवडउ पुदु(थु)लपणि अनइ लाम्बपणि जघन्यतउ अंगुल ह्नउ] असंख्यातमउ भाग, उत्कृष्टउतउ असंख्यातां जोअण प्रमाण जीवप्रदेश दण्ड सयर बाहरि काढीइ। वैक्रिय योग्य पुद्गल लेई करी वैक्रिय शरीर करइ तिवारइं वैक्रिय समुद्घात हुइ। तिहांइं पोतानां वैक्रिय शरीरनामकर्मना पुद्गल घणा वेई क्षिपइ। ए वैक्रिय समुद्घात कहीयइ ४।

तेजोलेश्या लब्धिनउ धणी को महात्मादिक कहइं ऊपरि कुपिउ हूं तउ पिहुलपणी = जाडपणि आपणा

सयर प्रमाण; लाम्बपणि जघन्यतउ असंख्यातमउ भागउ उत्कृष्टत संख्याता जोअण लगइ तैजस सइर सहित जीवप्रदेश दण्ड बाहिरि काढइ। तीणइ करी जेह ऊपरि रीस हुइ तेह मनुष्यादिकहुइं बालइ। ए तैजस समुद्घात अंतर्मुहूर्त प्रमाण हुइ ५।

वैक्रिय समुद्घातनी परिइं आहारक समुद्घात जाणिवउ। ते चऊद पूर्वधरनइ आहारक शरीर करता हुइ ६।

जेह केवलीनइ वेदनीयादिकना कर्मपुद्गल घणा हुइंआऊखुं थोडउं हुइं ते पुद्गलसिउं आऊषाहुइं समा करवानइ केवलि समुद्घात करइ। तेहनइ वेदनियादिक पुद्गलसिउं आऊखुं समउं हुइं ते न करइं। केवलि समुद्घात करतउ पहिलइ समइ पिहुलपणि = जाडपणि आपणा शरीर जेवडउ ऊपरि हेठलि लोकांत लागउ आपणा जीवप्रदेशनउ दण्ड करइ १। बीजइ समइ आपणा शरीरप्रमाण पूर्व-पश्चिम लोकांति लागउ कपाट करइ २। त्रीजइ समइ उत्तर-दक्षिण दण्ड प्रमाण जीवप्रदेश विस्तारी मंथाणउ रवाइउ करइ ३। चउथइ समइ आंतरां पूरी आपणे जीवप्रदेशे करी चऊद रज्ज्वात्मक लोकव्यापी थाइ ४। पांचमइ आंतरा संहरइ ५। छट्ठइ मंथाणउ संहरइ ६। सातमइ समइ कपाट संहरइ ७। आठमइ समइ वली सयरजिमांहि आवइ ८। इम केवलि समुद्घात करतां आठ समय लागइं। तेहनइ पहिलउ अनइ आठमइ समइ औदारिक योग हुइ। बीजइ, छट्ठइ, सातमइ समइ औदारिकमिश्रयोग हुइ। त्रीजइ, चउथइ, पांचमइ समइ कार्मणयोग हुइ। एहे त्रिहुं समये अनाहारक हुइ। बीजे सविहू समये आहारक हुइ।

ए सात समुद्घात तेरे थानके विचारीइं छइं। पृथ्वीकाय १ अप्काय २ तेउकाय ३ वनस्पतिकाय ४ बेंद्रिय ५ त्रेंद्रिय ६ चउरिंद्रिय ७ असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय ८ मांहि त्रिणि ३ समुद्घात हुइं - वेदना समुद्घात १ कषाय समुद्घात २ मरण समुद्घात ३। वाउकायमांहि ए त्रिणि अनइ वैक्रिय समुद्घात हुइं। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि अनइ नारकी-देवमांहि आहारक अनइ केवलि समुद्घात टाली बीजा पांच पांच समुद्घात हुइं। वेदना समुद्घात १ कषाय समुद्घात २ मरण ३ वैक्रिय ४ तैजस ५ समुद्घात हुइं। मनुष्यमांहि सातइ समुद्घात प्रामीअइं। एम तेरे थानके समुद्घातविचारः। इति समुद्घात विचारः।

अथ परभवना आऊखानउं बंधविचार। पृथ्वीकाय परलोकि पृथ्वीकायमांहि जातउ जघन्य आऊखुं अंतर्मुहूर्तप्रमाण बांधइ। उत्कृष्टउं मनुष्य अथवाइ तिर्यंचमांहि जातउ एक पूर्वकोडि प्रमाण आऊखुं बांधइ। इम अप्काय-वाउकाय-वनस्पतिकायइनइ जाणिवुं। पुण एतलुं विशेष - तेउकाय अनइ वाउकाय मनुष्यनुं आऊषुं न बांधइ तिर्यंचजइ योगि पूर्वकोडि प्रमाण आऊखुं उत्कृष्टउं बांधइं। बेंद्रिय-त्रेंद्रिय-चउरिंद्रिय परलोकि पृथव्यादिकमांहि जातां जघन्य अंतर्मुहूर्त बांधइ, मनुष्य-तिर्यंच मांहि जातां उत्कृष्टउं एक पूर्वकोडि आऊखुं बांधइ। असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियइ जघन्य परलोकि अंतर्मुहूर्त प्रमाण आऊखुं बांधइ। भुवनपत्यादिकमांहि जातां उत्कृष्टउं पल्योपमनउ असंख्यातमउ भाग आऊखुं बांधइं। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय अनइ मनुष्य पृथिव्यादिक मांहि जातां जघन्य आऊखुं अंतर्मुहूर्त प्रमाण बांधइं। उत्कृष्टउं तिर्यंच सातमइ नरगि अनइ मनुष्य सातमइ नरगि अनइ अनुत्तर विमानि जातां उत्कृष्टउं तेत्रीस सागरोपम आऊखुं बांधइं। नारकी तंदुलमत्स्यादिकमांहि ऊपजतां अनइ देव पृथिव्यादिकमांहि ऊपजतां जघन्य आऊखुं अंतर्मुहूर्त प्रमाण बांधइ। नारकी अनइ देवइ उत्कृष्टउं मनुष्य-तिर्यंचमांहि ऊपजता एक पूर्वकोडि प्रमाण आऊखुं बांधइ। इति तेरे थानके परलोकि आऊषुं बांधवानउ विचार कहिउं।।

हिव आऊखानी आबाधाकालनउ विचार कहीइ छइ। जीव परलोक योग्य आऊखउं अहां भवना त्रीजइ

---

१ टी.-यहाँ पर 'संज्ञिया----मनुष्यमां' तक की पंक्ति का पुनरावर्तन हुआ है ।

२ = शृंखला

भागि अथवा नवमइ भागि अथवा सत्तावीसमइ भागि ३ अथवा छेहिलइ अंतमुहूर्त्ति निश्चय बांधइ। आऊखुं बांधतां अंतर्मुहूर्त लागइ। पछइ जे आऊखुं पोतांजि थिकु रंहइ, उदय नावइ जां लगइ ते जीव न मरइ। मूआ पूठिइं ऋजुगतिइं पहिलइजि समइ वक्रगतिं बीजइ समइ ते आऊखुं उदय आवइ। जेतलुं काल ते आऊखउं उदय न आवइ ते आबाधाकाल कहीइ।

ते जघन्य केतलउ हुइ अनइ उत्कृष्टउं केतलउं हुइ? ए वात तेरे स्थानके विचारीइ छइ। पृथ्वीकाय १ अप्काय २ तेअ(उ)काय ३ वायुकाय ४ वनस्पतिकाय ५ बेंद्रिय ६ त्रेंद्रिय ७ चउरिंद्रिय ८ असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय १० मनुष्य ए इग्यारए स्थानकि जउ आऊखुं परलोगउं छेहडइ बांधइ तउ तेहनु आबाधाकाल जघन्य अंतर्मुहूर्त प्रमाण हुइ। उत्कृष्टउं बावीस सहस्रवर्ष प्रमाण आऊखानइउ धणी पृथ्वीकायनइ आपणा भवनइ त्रीजइ भागि परलोकनउं आऊखउं बांधइ तउ तेह नउ उत्कृष्टउ आबाधाकाल सातसहस त्रिणिसइं तेत्रीसां वरस अनइ च्यारिमास एतलुं हुइ। अप्कायमांहि उत्कृष्टउ अबाधाकाल बि सहस्र त्रिणिसइ तेत्रीसां वर्ष अनइ ४ मास त्रेवीससइं त्रेत्रीसां एतलुं हुइ। आंकथउ तेतल २३३३,१/२ एतलुं हुइ। तेउकायमांहि उत्कृष्टउ आबाधाकाल एक दिहाडउ। वायुकायमांहि एक सहस्र वरस उत्कृष्टउ आबाधाकाल हुइ। वनस्पतिमांहि अंकतस्तु ३३३३ एतलुं हुइ। बेंद्रियमांहि उत्कृष्टउ आबाधाकाल च्यारि वरस रहइ। तेंद्रिय मांहि उत्कृष्टउ आबाधाकाल सोल दिवस अनइ एकवीस घडी अनइ घडीनु त्रीजउ भाग। चउरिंद्रियमांहि उत्कृष्टउ आबाधाकाल बिमास हुइ। असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि उत्कृष्टउ आबाधाकाल हुइ तेत्रीस लाख तेत्रीस सहस्र त्रिन्निसइं तेत्रीसां एतला पूर्व अनइ तेवीस कोडि लाख बावन कोडि सहस्र एतलां वरस ऊपरि जाणिवा। आंकथउ ३३,३३,३३३ एतला पूर्व २३,५२,००,०००,०००,०० एतलां वरस हुइं। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियहुइं अनइ मनुष्यमांहि तिमजि पूर्वकोडि नउ त्रीजउ भाग उत्कृष्टउ आबाधाकाल हुइं। अनइ युगो(ग)लियां तिर्यंच मनुहुइं तथा नारकी देव हुइं[१] आऊखानउ आबाधाकाल छेहिला छमास आऊखानुं आबाधाकाल जाणिवउ। इम त(ते)रे स्थानके आऊखानउ आबाधाकाल विचारिउ।

अथ आठ कर्मबंध तेरे स्थानके विचारीइ छइ। घटपटादिक विशेषरूप वस्तुनउ जाणिवउं जे आवरइ = आच्छादइ ते ज्ञानावरणीय कर्म। आँखिहुइं आडइ जिम वस्तु हुइ तेह सरीखु जीवहुइं ए कर्म १। सामान्य वस्तुमात्र नउं जाणिवुं दर्शन कहीइ। तेहनुं आवरण ते दर्शनावरणीय कहीइं। रायनुं दर्शन करिवा वांछता पुरुषहुइ जिम प्रतीहार अंत्राय कर्म करइ तिम ए कर्म जाणिवउं २। सुखदुःखादिकनुं जीणइं कर्मिइं वेयवुं हुइ ते वेदनीय कर्म। मधुखरडी खांडानी धारना आस्वादिवा सरिखउं जाणिवउं ३। मिथ्यात्व, कषाय, राग, हास्यादिक भाव जीणइं कर्मिइं करी हुइ ते मोहनीय कर्म। ए कर्म मद्यपान सरिखउं जाणिवउं। जिम मद्यि पीधइ अवेतथिकउ यथास्थित वस्तु न जाणइ, अनेरीइ हुइ अनेरी जाणइं इम ईणइ अदेव देव भणइ ४। जीणइ कर्मिइं जीव जीवइ ते आऊखुं कर्म हडि[२] सरिखुं कहीइ ५। जीणइं कर्मिइं मनुष्यादिक गति सइर, संघयण, वर्ण, स्वरादिक भाव हुइ ते अनेकभेद नाम कर्म कहीइ। ए चित्रकर सरिखु जाणिवुं ६। जीणइं कर्मिइं जीव उच्च नीचि गोत्रि अवतारिअइ ते गोत्रकर्म कहीइ। ए कुंभकार सरिखुं जाणिवउं, जिम कुंभकार रुडाइ घडादिक करइ अनइ भूंभलाइ करइ तिम ए कर्म जीवनइं उँचाइ कुल आवइ नीचाइ कुल करइं ७। जीणइं कर्मिइं लक्ष्मी भोगादिकने संयोगे छते ए दान दिई न सकइं, भोगादिक भोगवी न सकइं, व्यवसाय करता लाभ न हुइ, सयरि मोटइ छतइ बलशक्ति न हुइं ते अंत्राय कर्म कहीइं। भंडारी सरीखउं, जिम भंडारी सानुकूल न हुइं तउ राजादिक दान देई न सकइं तिम तेहू ए कर्म जाणिवुं ८।

पृथ्वीकाय जीव आपणा भवनइ त्रीजइ भागि अथवा नूमइ भागि अथवा सत्तावीसमइ भागि अथवा

छेहलइ अंतमुहूर्ति जे तीवारइं आवता भवनूं आऊखुं बांधइं तिवारइं आठइ कर्मनउ बंध हुइ। अनेरी वेला समइ समइ सात कर्म बंधइ। इम अप्काय, तेउकाय, वाउकाय, वनस्पतिकाय, बेंद्रिय, त्रेंद्रिय, चउरिंद्रिय, पंचेंद्रिय असंज्ञिया तिर्यंच एतला जीव जे वारइं आवता भवनुं आऊखुं बांधइं तिवारइं आठ कर्म बांधइ, अनेरी वेलां सदैव समइ समइ सात कर्म बांधइ। मनुष्य प्रमत्तगुणठाणा लगइ आऊखाबंधवेलाइं आठ कर्म बांधइ अनेरी वेलां सदैव समइ समइ सात कर्म बांधइ। पुण एतलुं विशेष मिश्रगुणठाणइं जीव मरइ नही ए स्वभाव, तिहां आऊखुं पणि न बांधइ सातइजि कर्म बांधइ। निवृत्तिबादर, अनिवृत्ति बादर ए बिहु गुणठाणे आऊखुं वर्जी बीजां सातकर्म बांधइ। सूक्ष्मसम्पराय गुणठाणइ आऊखुं अनइ मोहनीय टाली बीजां छ कर्म बांधइ। पुण उपशांतमोह, क्षीणमोह, सजोगि एहे त्रिहु गुणठाणे एक सातावेदनीयजि कर्म बांधइ, बीजउं एकइ न बांधइं। अयोगि गुणठाणइ एकू कर्म न बांधइं। देव अनइ नारकी छेहल छए मासे जिवारइं परलोक योग्य आऊखुं बांधइं तिवारइं आठ कर्म बांधइं बीजी बीजी परि सदैव सातजि कर्म समइ समइ बांधइं। इम तेरे स्थानके प्रकृतिमूलबंधविचारः।

हव ए आठकर्मनी उत्तरप्रकृति बांधवानउं विचार लिखीइ छइ। ज्ञानावरणीय कर्मि पांच उत्तर प्रकृति– मि(म)तिज्ञानावरण १ श्रुतज्ञानावरण २ अवि(व)धिज्ञानावरण ३ मनःपर्ययज्ञानावरण ४ केवलज्ञानावरण ५।

दर्शनावरणीय नवभेद – चक्षुर्दर्शनावरण १ अचक्षुर्दर्शनावरण २ अवि(व)धि दर्शनावरण ३ केवलदर्शनावरण ४ निद्रा ५ निद्रानिद्रा ६ प्रचला ७ प्रचलाप्रचला ८ स्त्यानर्द्धि ९। एवं नवविध दर्शनावरणीय।

वेदनीयना बि भेद सातावेदनीय १ असातावेदनीय २।

मोहनीयना अट्ठावीस भेद मिथ्यात्व १ मिश्र २ पुद्गलमय सम्यक्त्व ३, अनंतानुबंधिया क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४, प्रत्याख्याना क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४, अप्रत्याख्याना क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४, संज्वलन क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४ एवं कषाय १६। उत्तर प्रकृति ९। हास्य २० रति २१ अरति २२ शोक २३ भय २४ जुगुप्सा २५ पुरुषवेद २६ स्त्रीवेद २७ नपुंसकवेद २८ ए अट्ठावीस भेदमांहि जीव २६ छव्वीसजि प्रकृति बांधइ। जेह भणी सम्यक्त्व अनइ मिश्र जूआं न बांधइ। मूलि मिथ्यात्वजिं एक बांधइं। तेमांहि केतलाइं चोखा पुद्गल सम्यक्त्वरूप थाइं। तेहजि मांहिला अर्द्ध चोखा केतला पुद्गल मिश्ररूप थाइं तेह भणी एह बिहुनुं जूओ बंध न हुइं।

आऊखुं कर्म चिहुं भेदे हुइं। देवनुं आऊखुं १ तिर्यंचनुं (आऊखुं २) मनुष्यनउं आऊखुं ३ नरकनु आऊखुं ४।

नामकर्मना सातसट्ठि भेद। मनुष्यगति १ देवगति २ नरकगति ३ तिर्यंचगति ४, एकेंद्रियजाति ५ बेंद्रियजाति ६ तेंद्रियजाति ७ चउरिंद्रिय(जाति) ८ पंचेंद्रियजाति ९ औदारिकशरीर १० वैक्रियशरीर ११ आहारकशरीर १२ तैजस शरीर १३ कार्मण(सरीर) १४ औदारिकशरीरना उपांग १५ वैक्रियशरीरनुं उपांग १६ आहारकशरीरनुं उपांग १७ पनर बंधन अनइ पाच संघातन वर्ण–गंध–रस–रस–स्पर्शना सोल भेद। ए छत्रीस भेद सइरजिमांहि आव्या जूआ न गणीअइ। वज्रऋषभनाराच १८ ऋषभनाराच १९ नाराच २० अर्द्धनाराच २१ कीलिका २३ सेवार्त संघयण। समचतुरस्र संस्थान २४ न्यग्रोध परिमंडल (संस्थान) २५ सादि संस्थान २६ वामन संस्थान २७ कुब्ज संस्थान २८ हुंड संस्थान २९ एक वर्ण ३० एक गंध ३१ एक रूप ३२ एक रस ३३ एक स्पर्श ३३ मनुष्यानुपूर्वी ३४ देवानुपूर्वी ३५ नरकानुपूर्वी ३६ तिर्यगानुपूर्वी ३७ शुभविहायोगति ३८ अशुभविहायोगति ३९ पराघात ४० ऊसास ४१ आतप ४२ उद्योत ४३ अगुरुलघु ४४ तीर्थकरनाम ४५ निर्माण ४६ उपघात ४७ त्रस ४८ बादर ४९ पर्याप्त ५० प्रत्येक ५१ स्थिर ५२ शुभ ५३ सुभग ५४ सुस्वर ५५

आदेयनामकर्म ५६ यशोनामकर्म ५७ स्थावर ५८ सूक्ष्म ५९ अपर्याप्त ६० साधारण ६१ अस्थिर ६२ अशुभ ६३ दुर्भग ६४ दुःस्वर ६५ अनादेय ६६ अयशोनामकर्म ६७।

गोत्रकर्मि बि भेद उच्चै गोत्र१ नीचै गौत्र २।

अंत्राय कर्म पांच भेद दानांतराय १ लाभांतराय २ भोगांतराय ३ उपभोगांतराय ४ वीर्यांतराय ५ एवं आठे कर्मे थई १२० प्रकृति सर्वजीवनी अपेक्षाइं बांधइं।

को जीव केही बांधइ? कुणहइं गुणठाणइ? ए उत्तर प्रकृतिनु बंध तेरे स्थानके विचारीइ छइ। पृथ्वीकायमांहि एकवीसोत्तरसउ प्रकृतिमांहि नवोत्तरसउ बांधइं। जिननामकर्म १ देवगति २ देवानुपूर्वी३ वैक्रियशरीर ४ वैक्रियअंगोपांग ५ आहारकशरीर ६ (आहारक)अंगोपांग ७ देवायुष्क ८ नरकगति ९ नरकानुपूर्वी१० नरकायुष्क ११ ए इग्यार प्रकृति न बांधइं। जेह भणी पृथ्वीकाय मरी देवलोकि नरगि न जाइ। सास्वादन गुणठाणानी वेलां पृथ्वीकाय ९४ प्रकृति बांधइं। जेह भणी सूक्ष्म १ अपर्याप्त २ साधारण ३ बेंद्रिय ४ तेंद्रिय ५ चउरिंद्रिय ६ एकेंद्रिय जाति ७ थावर नाम ८ आतप ९ नपुंसक वेद १० मिथ्यात्व ११ हुंड संस्थान १२ सेवार्त संघयण १३ तिर्यागायु १४ नरायु १५ ए पनर प्रकृति न बांधइ। मिथ्यात्व पाहिं विशुद्ध परिणाम भणी अप्काय जीवहुइं एजि बिहुं गुणठाणे नवोत्तरसउ प्रकृति अनइ चउराणू छंनू प्रकृति हुइ। तेउकाय वाउकायना जीवहुइं एक मिथ्यात्वजि गुणठाणउ हुइ। तिहां पंचोत्तरसउ प्रकृति बांधइं। मनुष्यगति १ मनुष्यानुपूर्वी २ मनुष्यायु ३ उच्चैर्गोत्र ए च्यारि प्रकृति पृथ्वीकायना पाहिं ओछी बांधइं। जेह भणी ए मरी मनुष्यगतिं न जाई। वनस्पतिकाय बेंद्रिय तेंद्रिय चउरिंद्रिय जीव पृथ्वीकायनी परि मिथ्यात्वगुणठाणइ नवोत्तरसउ प्रकृति बांधइं। सास्वादन गुणठाणइ चउराणू अथवा छंनू प्रकृति बांधइ। असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय मिथ्यात्व गुणठाणइ सत्तोत्तरसउ प्रकृति बांधइं। तीर्थंकर नामकर्म १ आहारक शरीर २ आहारक अंगोपांग ए त्रिणि प्रकृति न बांधइ। सास्वादन गुणठाणानी वेलां नरकगति १ नरकानुपूर्वी २ नरकनउ आऊखुं ३ सूक्ष्म ४ अपर्याप्त ५ साधारण ६ बेंद्रिय जाति ७ तेंद्रिय ज्ञाति] ८ चउरिंद्रिय ज्ञाति] ९ एकेंद्रिय जाति १० स्थावर ११ आतप १२ नपुंसकवेद १३ मिथ्यात्व १४ हुंड संस्थान १५ सेवार्त संघयण १६ ए सोल प्रकृति न बांधइ। बीजी एकोत्तरसउ प्रकृति बांधइं। संज्ञिया पर्याप्ता तिर्यंच पंचेंद्रिय हुइं पांच गुणठाणाहुइं। ते मिथ्यात्व गुणठाणइं जिन नामकर्म १ आहारक अंगोपांग २ आहारक शरीर ३ ए त्रिणि प्रकृति टाली बीजी सत्तोत्तरसउ प्रकृति बांधइं। सास्वादन गुणठाणइ पाछिली परि एकोत्तरसउ प्रकृति बांधइ। मिश्रगुणठाणइ देवतानु आऊखुं, च्यारि अनंतानुबंधिया, न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान; सादि; वामन; कुब्ज ए च्यारि संस्थान, ऋषभनाराच; अर्द्धनाराच; नाराच कीलिका ए च्यारि संघयण, कुत्सित विहायोगति, नीचैर्गोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि, उद्योत, तिर्यंचगति, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग, वज्रऋषभनाराच ए छत्रीस प्रकृति न बांधइं, बीजी ६९ प्रकृति बांधइं।

अविरत गुणठाणइ देवनुं आऊखुं बांधइं। तेह भणी ७० प्रकृति {बांधइ} देशविरति बांधइ।

देशविरति गुणठाणइं अप्रत्याख्याना क्रोध, मान, माया, लोभ न बांधइ। तेह भणी तीणइ गुणठाणइ ६६ प्रकृति बांधइं। आगिला गुण(ठाणा) तिर्यंचहुइं न हुइं।

पर्याप्ता मनुष्यनइ १४ गुणठाणा हुइं। ते तिर्यंचनी परि मिथ्यात्व गुणठाणइ ११७ प्रकृति बांधइं। मिश्र गुणठाणइ ६९ प्रकृति बांधइं, अविरत गुणठाणइ जिन नामकर्म अधिकउं बांधइं। तेह भणी ७१ प्रकृति बांधइं। देशविरत गुणठाणइ ६७ प्रकृति बांधइ। प्रमत्त गुणठाणइ प्रत्याख्याना क्रोध, मान, माया, लोभ न बांधइं तेह भणी ६३ प्रकृति बांधइं। अप्रमत्त गुणठाणइ ५९ अथवा ५८ प्रकृति बांधइं। जेह भणी अरति, शोक, अस्थिर,

अशुभ, अयश, असात ए ६ प्रकृति न बांधइं अनइ आहारक शरीर अंगोपांग २ ए बि प्रकृति अधिकी बांधइं। जइ देवतानउं आऊखुं प्रमत्ति बांधिउं हुइं तउ ५८ प्रकृति बांधइ। निवृत्ति बादर गुणठाणाना सात भाग कीजइं। पहिलइ भागि अट्ठावनजि बांधइं आगिले पांचे भागे निद्रा, प्रचला न बांधइं तेह भणी ५६नउ बंध। सातमइ भागि देवगति १ देवानुपूर्वी २ पंचेंद्रिय जाति ३ शुभविहायोगति ४ त्रस ५ बादर ६ पर्याप्त ७ प्रत्येक ८ स्थिर ९ शुभ १० सुभग ११ सुस्वर १२ आदेय १३ वैक्रियशरीर १४ वैक्रियअंगोपांग १५ आहारक शरीर १६ आहारकअंगोपांग १७ तैजस १८ कार्मण शरीर १९ समचतुरस्रसंस्थान २० निर्माण नाम २१ जिन नाम २२ वर्ण २३ गंध २४ रस २५ स्पर्श २६ अगुरुलघु २७ उपघात २८ पराघात २९ उच्छ्वास ३० ए त्रीस प्रकृति न बांधइं थाकती २६ बांधइ। अनिवृत्ति बादर गुणठाणाना पांच भाग कीजइ। पहिलइ भागि हास्य १ रति २ जुगुप्सा ३ भय ४ ए च्यारि न बांधइं बीजी बावीस प्रकृति बांधइं। बीजइ भागि पुरुषवेद वर्जी २१ बांधइं। त्रीजइ भागि संज्वलन क्रोध टाली २० बांधइं। चउथइ भागि संज्वलन मान टाली १९ बांधइं। पांचमइ भागि संज्वलन माया टाली १८ बांधइं। सूक्ष्मसम्पराय गुणठाणइ संज्वलन लोभवर्जी १७ बांधइं। उपशांतमोह गुणठाणइ चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, उच्चैर्गोत्र, यशोनाम, पांच ज्ञानावरण, पांच अंत्राय, ए सोल प्रकृति न बांधइं। एक साता वेदनीय कर्मप्रकृति बांधइं। क्षीणमोह अनइ सयोगि गुणठाणइ एहजि एक सातवेदनीय बांधइं। अयोगि गुणठाणइ एकइ प्रकृति न बांधइं।

नारकी अनइ देवहुइ पहिली च्यारि गुणठाणां हुइं। मिथ्यात्व गुणठाणइ नारकी १२०(१००) प्रकृति बांधइं। देवगति १ देवानुपूर्वी २ देवतानुं आऊखुं ३ नरकगति ४ नरकानुपूर्वी ५ नरकनउं आऊखुं ६ वैक्रियशरीर (७), वैक्रिय अंगोपांग ८ आहारक शरीर ९ आहारक अंगोपांग १० सूक्ष्म ११ अपर्याप्त १२ साधारण १३ एकेंद्रियजाति १४ बेंद्रिय १५ तेंद्रिय १६ चउरिंद्रिय जाति १७ स्थावर १८ आतप १९ जिननाम कर्म ए २० प्रकृति न बांधइ। जेह भणी नारकी मरी वली नारकी न थाइ, देव अनइ एकेंद्रिय, विकलेंद्रिय पुण न थाइं। देवहुइं एतलउ विशेष – देव मिथ्यात्व गुणठाणइ एकेंद्रिय १ थावर २ आतप ३ त्रिणि प्रकृति अधिकी बांधइ, बीजी वीस न बांधइं, तेह भणी १०३ प्रकृति हुइं। देव कल्पद्रुम–रत्नादिकनइ मोहि मरी एकेंद्रियमांहि ऊपजइ। सास्वादन गुणठाणइ नारकी अनइ देव ९६ अथवा ९४ प्रकृति बांधइ। नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्त संघयण ए च्यारि न बांधइ। मिश्र गुणठाणइ देव अनइ नारकी ७० प्रकृति बांधइ। अनंतानुबंधिया च्यारि, ऋषभ नाराचादि ४ संघयण च्यारि, न्यग्रोधपरिमण्डलादि संस्थान ४, अशुभ विहायोगति १३, नीचैर्गोत्र १४, स्त्रीवेद १५, दुर्भग १७(१६), दुःस्वर १८(१७) अनादेय १९(१८) निद्रानिद्रा १९ प्रचलाप्रचला २० स्त्यानर्द्धि १२(२१) उद्योत २२ तिर्यग्गति २३ तिर्यगानुपूर्वी २४ तिर्यगायु २५ मनुष्यायु २६ ए छवीस प्रकृति न बांधइ। अविरत गुणठाणइ नारकी अनइ देव २२ प्रकृति बांधइ। जेह भणी जिन नाम कर्म अनइ मनुष्यनुं आऊखुं ए बि प्रकृति अधिकी बांधइ। इम तेरे थानके उत्तरप्रकृतिनउ बंध विचारिउ।

जेहे कारणि जीवकर्म बांधइ ते कर्मबंधना कारणनउ विचार लिखीइ छइ। पहिलउं कर्मबंधनउं कारण मिथ्यात्व कहीइ। तेहना पांच भेद। 'माहरउजि दर्शन रूडउ बीजउ कांई नही' इसिउ आपणा दर्शननुं कदाग्रह ते आभिग्रहिक मिथ्यात्व कहीइ। मिथ्याशास्त्रना भणनहार ब्राह्मणादिकनी परि १। जेहनउ इसिउ अभिप्राय– 'सघलाइ दर्शन रूडां, सर्वे धर्म भला' इत्यादि ते अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहीइ। मध्यस्थमानी मिथ्यात्वी गोपालादिकनी परि २। जे अहंकार करी काई आपणउ मत थापइ जमालि–गोष्ठामांहिलनी परि ते अभिनिवेशक मिथ्यात्व कहीइ ३। कूडीनइ साचीइ वस्तुनउ निश्चउ न जाणइ तीणइ करी साचाइ जीवाजीवादिक पदार्थनइ विषइ सन्देह आणइ। 'न (साचउ कि न कुडउ) इ कि कूडउं' इत्यादि ए स्यांशयिक मिथ्यात्व। अजाण जीवहुइं हुइं पांचमउं अनाभोगिक मिथ्यात्व सर्व गहलरूप अचेतन एकेंद्रियादिकहइं हुइं ५। ए पांच भेद मिथ्यात्व

कर्मबंध कारण।

बीजउं कर्मबंधनउं कारण अविरति कहीअइ। तेहना १२ भेद । कर्ण १ चक्षुः २ नासिका ३ जिह्वा ४ स्पर्शन ५ रूप पांच इंद्रिय, छट्ठउं मननउ अनियंत्रण = मोकलउं मूकिवउं। अनइं पृथ्वीकाय १ अप्काय २ तेउकाय ३ वाउकाय ४ वनस्पतिकाय ५ त्रसकाय ६ ए छ जीवनउ विणास ए बारभेद अविरतिना कर्मबंधनउं कारण।

त्रीजउं १६ कषाय ९ नो कषाय कर्मबंधनउं कारण। जे कषाय तीव्र परिणाम मरणि आवइं निवर्तइ नही वरस दीस उत्कृष्टउं जावजीव रहइं ते अनंतानुबंधिया कहीइं। तेहनइ उदइ सम्यक्त्व न लहइं। तेहनइ उदइ मरनउ नरगिजि जाइ १। अप्रत्याख्यान कषाय ऊपना पूठिइं जीवहुइं च्यारिमास ऊपरि उत्कृष्टउं जां वरस रहइ। तेहनइ उदइ सम्यक्त्व लहइं पुण देशविरति श्रावकपणू न लहइं। तेहनइं उदइ मूओ तिर्यंचमांहि जाइं २। जे कषाय ऊपनुं पनर दिहाडा ऊपरि उत्कृष्टउं ४ मास रहइं ते प्रत्याख्यानावरण कषाय कहीइं। एहनइ उदय सम्यक्त्व देशविरति हुइं पुण सर्वविरति चारित्र न हुइं। तेहनइ उदयि मूओ मनुष्यगति लहइं ३। जे कषाय ऊपनउ अंतर्मुहूर्त ऊपरि जां उत्कृष्टउ पनर दिहाडा लगइ रहइ ते संज्वलन कषाय कहीइ। तेहनइ उदयइ सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति लहइं पुण कषायोदय रहित चारित्र न लहइ। तेहनइ उदयइ मूओ देवलोकि जाइं। मोक्षि न जाइ ४। ए च्यारइ क्रोधइ हुइं ५ मानइ हुइं लोभइ हुइं। तेह भणी कषायशब्दइं ए च्यारइ कहीइं।

एह चिहुंना दृष्टांत लिखीइं छइं। संज्वलनउं क्रोध पाणीमांहि लीहनी परि जाणिवउं। जिम पाणी मांहि लीह काढी तत्काल मिलइ तिम एहू कषाय तत्काल निवर्तइ। प्रत्याख्यानावरण क्रोध धूलिमांहि लीह सरीखुं। जिम धूलिनी लीह वडीवार रहइ तिम एहू क्रोध मोउडउ फीटइ २। अप्रत्याख्यान क्रोध सूका तलावनी फाटी माटीनी रेखा सरिखउं। जिम ते रेखा वरस दीस मेघ वूठइं जि भाजइ तिम एहू क्रोध वरसदीसि भाजइ ३। अनंतानुबंधिया क्रोध पर्वतराइ सरीखउं। जिम ते विवर जावजीव रहइं, तिम ए क्रोध जाव जीव लगइ रहइ ४।

संज्वलन मान नेत्रनी लाकडी सरीखउं। जिम ते लाकडी सुखिइं नमाडीइं तिम एहवा अहंकारना धणी सुखिइं नमइं १। प्रत्याख्यानउ काष्ट सरीखउं। जिम ते काष्ट चोपडण–तापादिके करी गाढउ दोहिलउ नमइ तिम एहूनइ उदयि जीव कष्टइं नमइ २। अप्रत्याख्यानउ मान हाड सरीखउं। जिम सइरनु हाड चोपडिवउं सेकवउं चोपडा बांधवादिक उपायइं करी गाढइं कष्टइं नमइ तिम एहूनइ उदयि जीव गाढइ कष्टइं नमइं ३। अनंतानुबंधिउ मान पाषाणना थांभा सरीखउं। जिम ते थांभउ भावइ ते उपाय करउ पुण न नमइ तिम एहनइ उदयइ जीव भावइ तेवडे उपाये न नमइ ४।

संज्वलन माया शस्त्रइ करी जे वांसनी छालि पडइ तेउ सरीखी। जिम ते छालि सूयाली भणी सुखिइं पाधरी कराइ तिम एहनइ उदयइ सुखिइं हीयानी कुटिलता जाइ १। प्रत्याख्यानावरण माया– बलद जातओ मूतरइ ते गोमूत्रिका कहीइ –ते सरीखी। जिम तेहनउं वांकपण मउडउ फीटइ तिम एहनइ उदयइ जीवनी वक्रता घणी अनइ दोहिली २। अप्रत्याख्यानी माया मीढा बोकडा अथवा मीढा बलदनां सीम सरीखी जिम तेहनी वक्रता गाढी हुइ अति गाढइ कष्टइ कालिंगडा बंधनादिक प्रयोगइं फीटइ तिम ए माया जाणिवी ३। अनंतानुबंधिनी माया निवड वंसीआलिना मूल सरिखी। जिम ते मूलनी वक्रता गाढी हुइ आगिइं वलतां न वलइं। तिम ए माया किमइ न जाइ ४।

संज्वलन लोभ हलिद्दना राग सरिखउं। जिम लूगडइ हलिद्दनउ रंग तावडादिकनइ संयोगइं सुखइं जाइं। तिम एहू लोभ सुखइं निवर्तइं २। प्रत्याख्यानावरण लोभ दीवा गाडलानां ऊगण खंजण तेह सरीखु कहीइ। जिम ते लूगडइ लागउ गाढउ दोहिलउं फीटइ तिम एहू दोहिलउ फीटइं २। अप्रत्याख्याना लोभ नगरना चलाह कादव

सरीखउ। जिम तेहनउ छांटउ लागउ अतिकष्टेइं फीटइ तिम ए लोभ अति महाकष्टइं फीटइ ३। अनंतानुबन्धीउ लोभ कृमिराग सरीखउ। जिम ते पटउ लान(ग)उ कृमिराग किम्हइ न जाइ बालिआइ पूठिइं राख रातडी थाइं ४ तिम ए लोभ किम्हइ न फीटइ ४। एवं कषाय सोल नव नो कषाय कर्मबंधनउं कारण कहीइ।

कषायसिउं सहचारी भणी नोकषाय कहीइ। कांई हास्यनउं कारण देखी अथवा ईमइं कर्मनइं विशेषिइं जे हासूं आवइ ते कर्मबंधनउं कारण १। जं जीवहुइं किसीइ वस्तु ऊपरि सकारण निःकारण मननी समाधि ऊपजइ ते रति कहीइ कर्मबंधनउं कारण २। जं किसीइ वस्तु ऊपरि सकारण अथवा निःकारण मननी अप्रीति उपजइ ते अरति कहीयइ कर्मबंधनउं कारण ३। जे किसीइ वस्तुनइ विणासि अथवा ईम्हइ विषाद दुःख उपजइ ते शोक कहीयइ कर्मबंधनउं कारण ४। जं जीव हुइं कांई कारणि अथवा मननइ संकल्पिइं भय ऊपजइ ते भय कहीइ कर्मबंधनउं कारण ५। कांई अशुचि वस्तु देखी अथवा मननइं संकल्पिइं सूग ऊपजइं ते जुगुप्सा कहीइ कर्मबंधनउं कारणं ६। जे पुरुषहुइं स्त्री ऊपरि रागनउ अभिलाष ते पुंवेद कहीइ कर्मबंधनउं कारण ७। तृण पूलाग्नि सरीखउं। जिम तृणानउ पूलउ लगाडिउ वाइसिउं मोटी ज्वाला नीकलइ पछइ उल्हाई जाइ तिम पुरुषवेदइ पहिलुं अभिलाष तीव्र उपजइ पछइ स्त्रीसेवा पूठिइं तत्काल निवर्तइ ७। स्त्रीहुइं पुरुष नइ विषइ अभिलाष ऊपजइ ते स्त्रीवेद कहीइ। स्त्रीवेद कारिसना आगि सरीखउं। जिम ते कारिसनुं आगि पहिलउं मन्द हुइ जिम जिम हलाविइ तिम तिम अधिक प्रज्वलइ तिम स्त्रीवेदइ पुरुषने स्पर्शादिके करी अधिकउ अधिकउ बाधइ ८। पुरुषइ ऊपरि अनइ स्त्री ऊपरि जे अभिलाष ऊपजइ ते नपुंसकवेदक नगरना दाह सरीखउं। जिम नगर बलतउं घणा काल लगइ रहइ मउडउ उल्हाइ तिम नपुंसकवेदनइ उदयइ राग दोहिंलउ निवर्तइ ९। ए नव नो कषाय कर्मबंधनुं कारण। एवं २५ कषाय बी(त्री)जउ कर्मबंधनउं कारण ३।

चउथउ कर्मबंधनउं कारण १५ योग मन वचन काय रूप व्यापार कहीइ। ते पनरयोग आगइ पाछलि वखाणिया छइं। एवं कारइ ५७ भेद कर्मबंधनउं कारण।

हिव ए कर्मबंधनउ कारण तेरे थानके विचारीइ छइ। किहां केतला हुइ? इसी परि। पृथ्वीकायहुइं मिथ्यात्वमांहि एक अनाभोगि मिथ्यात्व १ बार अविरतिमांहि एक स्पर्शनेंद्रियनी अविरती अनइ छ जीवनी अविरति जेह भणी पृथ्वीकायइं करी छइं जीवनी विराधना हुइं। एवं अविरति ७ सोल कषाय अनइ नव नो कषायमांहि पुंवेद अनइं स्त्रीवेद न हुइं। एवं २३ कषाय हुइं। पनर योगमांहि औदारिक १ औदारिक मिश्र २ कार्मण ३ ए त्रियोग हुइं। एवं ३४ कर्मबंधना कारण। पृथ्वीकायहुइं धुरि ऊपजतां छ आवली प्रमाण सास्वादन गुणठाणइउं हुइं तीणी वेलीअजी शरीर अनइ इंद्रिय हूआं नथी। तेह भणी मिथ्यात्व १ स्पर्शनेंद्रिय २ औदारिक ३ वर्जी थाकता ३१ ते तीवारइं हुइंकर्मबंधना कारण हुइं। इम अप्काय वनस्पतिकायमांहि मिथ्यात्व गुणठाणइ ३४ सास्वादन गुणठाणां नां वे(व)ली ३१ तेउकाय-वाउकायहुइं एक मिथ्यात्वजि गुणठाणउं हुइ। तिहां पाछिला ३४ कर्मबंधनां कारण हुइं। वली एवलउ विशेष जं पर्याप्ति बादर वाउकायहुइं वैक्रिय करिवानी लब्धि हुइ तेहहुइं वैक्रियसरीर अनइ वैक्रियमिश्र ए २ योग अधिकी(का) हुइं तेह भणी तेहनइ ३६ हुइं। बेंद्रियहुइं मिथ्यात्व पृथ्वीकायना पाहिं जिह्वेंद्रियनी अविरति, असत्यामृषा भाषा ए बि अधिकाईं तेह भणी तिहां ३६ हुइं। सास्वादन वेलां इंद्रिय,सरीर,भाषादिक कांई हूआं नथी तेह भणी ३१। तेंद्रियहुइं मिथ्यात्व गुणठाणइं ३८ हुइं। सास्वादन गुणठाणइं ३७। असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियहुइं कर्णेंद्रिय अधिकुं तेहभणी तेहनइं ३९, सास्वादनि ३१ संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियहुइं मिथ्यात्व गुणठाणइ आहारक १ शरीर आहारकमिश्र २ ए बि योग वर्जी बीजी ५५ प्रकृति हुइं। सास्वादनि ५ मिथ्यात्ववर्जी बीजी ५०, मिश्र गुणठाणइ ४ च्यारि अनंतानुबंधिया अनइ औदारिकमिश्र १ वैक्रियमिश्र २ कार्मण ३ ए सात टाली बीजा ४३ कर्मबंध कारण हुइं। अविरत गुणठाणइ औदारिकमिश्र १ वैक्रियमिश्र २ कार्मण ३ ए त्रिणिइ योग हुइं तीणइ ४६। देशविरति गुणठाणइ अप्रत्याख्यानावरण च्यारि कषाय

४ औदारिकमिश्र १ कार्मण २ त्रस जीवना वधनी अविरति १ ए सात टाली बीजी ३९ हुइं।

मनुष्यहुइं तिर्यंचनी परि ए पाचे गुणठाणे सरीखउं। प्रमत्त गुणठाणइं प्रत्याख्यानावरण च्यारि कषाय थाकती इग्यार अविरति ए पनर प्रकृति वर्जी आहारक १ आहारकमिश्र १ ए बि योग सहित २६ हुइं। अप्रमत्त गुणठाणइ वैक्रिय मिश्र १ आहारकमिश्र २ ए बि वर्जी २४ हुइं। निवृत्ति बादर वैक्रियशरीर १ आहारकशरीर २ ए बि टाली २२ हुइं। अनिवृत्ति बादर [गुणठाणइ] हास्य षट्क टाली बीजी सोल हुइं। सूक्ष्मसंपराय गुणठाणइ त्रिणि वेद अनइ संज्वलन क्रोध १ मान २ माया ३ ए छ प्रकृति टाली १० हुइं। उपशांतमोह अनइ क्षीणमोह (गुणठाणइ) संज्वलन लोभ टाली ९ हुइं। सयोगि गुणठाणइ औदारिक १, औदारिकमिश्र २, कार्मण ३, सत्य मन ४, असत्यामृषा मन ५ सत्यवचन ६ असत्यामृषा वचन ७ ए सातयोग हुइ। बीजा एकइ कर्मबंधना कारण न हुइं तेह भणी एक साता वेदनीय एकइं समइं बांधिउं बीजइ समइ वेइउं त्रीजइ समइ खिपाइ एव्हउं बांधइं। अयोगि गुणठाणइ कांई कर्म न बांधइ तेह भणी एकू कर्मबंधनउं कारण न हुइं।

नारकीहुइं औदारिक १ औदारिकमिश्र २ आहारक ३ आहारक मिश्र ४ पुरुषवेद ५ स्त्रीवेद ६ ए छ प्रकृति टाली थाकती एकावन प्रकृति कर्मबंधनां कारण हुइं। सास्वादन गुणठाणइं पांच मिथ्यात्व टाली बीजी ४६ हुइं। मिश्र गुणठाणइं च्यारि अनंतानुबंधिया वैक्रियमिश्र, कार्मण ए छ टाली ४० कर्मबंधनां कारण हुइ। अविरत गुणठाणइ वैक्रिय कार्मण योग सहित ४२ हुइं। देवहुइं मिथ्यात्व गुणठाणइ औदारिक १ औदारिकमिश्र २ [आहारक ३] आहारकमिश्र ४ ए च्यारि योग टाली बीजां ५२ कर्मबंधना कारण। सास्वादनि गुणठाणइ पांच मिथ्यात्व टाली बीजां ४७ हुइं। मिश्र गुणठाणइ च्यारि अनंतानुबंधिया ४ वैक्रियमिश्र ४(५) कार्मण ६ ए छ वर्जी बीजीं ४१ कर्मबंधना कारण। अविरति गुणठाणइ वैक्रियमिश्र कार्मण सहित ४३ कर्मबंधना कारण हुइं। आगिला गुणठाणां देवइहुइं नारकीहुइं न हुइं। इसी परि कर्मबंधना कारण जिहां जेतलां हुइं ते विचारियां।।

।। इति मनस्थिरीकरणविचारः।।

।। परमगुरुः भट्टारकप्रभुश्रीगच्छनायक श्री श्री श्री सोमसुन्दरसूरिभिः कृतम्।।

।। शुभं भूयात्।।[१]

१ मुनिलावण्यसागरपठनार्थम् ।। इति संवेगीउपाश्रयगतज्ञानभंडारस्थप्रतौ ।।

परिशिष्ट–६

आ.श्रीमहेन्द्रसिंहसूरिरचितः

।। प्रकृतिबन्धविचारः ।।

(प्रज्ञापनायाः त्रयोविंशतितमपदस्य तृतीयोद्देशात्सङ्कलितः एकेन्द्रियादीनां शताधिकाष्टपञ्चाशत्प्रकृतिबन्धविचारः)

भवभवदुहदवनीरं, नमिउं वीरं सुरिंदगिरिधीरं। मूलियरपयडिसमुदयठिइबंधमहं लिहे दुविहं।।१।।
मुत्तुमकसायि हुस्सा, ठिइ वेयणियस्स बारसं मुहुत्ता। अट्ठट्ठनामगोयाण, सेसयाणं मुहुत्तंतो।।२।।
मोहे कोडाकोडीउ, सत्तरई वीस नामगोयाणं। तीसियराण चउण्हं, तेतीसयराइं आउस्स।।३।।

(प्रवचनसारोद्धार–१२८०, सूक्ष्मार्थसारोद्धार–६४)

चऊयाले पगडिसए, इगविगला सन्निणं दुविहबंधं। नाउं गुरुठिइसहिया, पढमं लिह पयडि बारसहा।।४।।
करणावि सया तित्थाहारगसगसम्ममीसआउचऊ। चउदस मुत्तुं अडवनसया भुयालं सयं गहियं।।५।।
बावीसं दसिगाउ, दु बार दु द्धतेर दुन्नि चउदसिगा। छ पन्नार दु सोला, दु द्धठारा अट्ठ अट्ठारा।।६।।
इगसट्ठी वीसिक्का, वीसंतीसिक्क सोल चालीसा। एगा उ सत्तरिक्का, सगुरुठिई पयडि बारसिमा।।७।।
आइमसंघयणागिइहासरइपुमुच्चसुगइथिरछक्कं। सियमुहुसुरहिमिउलहुरसुरदुगनिद्दुण्ह बावीसा।।८।।
नग्गोहरिसहनारा, हालिद्दं विलय अद्ध(?) तेराओ। नाराय सादि चउदस, अरुणित्थिकसायमणुयदुगं।।९।।
सायं छप्पन्नारा, सोलसिगं कुज्जमद्धनारायं। नीलकडुयद्धठारा, कीलियवामणयसुहुमतिगं।।१०।।
विगलतिगं अट्ठारा, तसचउ तिरिजुयल निरयजुयलं च। तेयविउव्विय उरलाण सत्तगा हुंडसंट्ठाणं।।११।।
पढमंतजाइ कुखगइ, कुवन्ननवगं च नीलकडुवज्जं। पत्तेया य अतित्था, थावर अथिराइछक्कं च।।१२।।
छेवट्ठं सोगारइ, भयकुच्छनपुंसनीयगोयं च। इगसट्ठी वीसक्का, विग्घावरणाइं अस्सायं।।१३।।
वीसंतिसेक्काओ, सोलकसायाउ हुंति चालीसा। मिच्छेगसत्तरिक्का, पयडिविभागे स बारसहा।।१४।।
बारसहठावियाणं, पुवुत्तप्पयडिगुरुठिईणं तु। हर भाग मिच्छठिइए, एगिंदियमाइबंधकए।।१५।।
सव्वत्थवि समसुन्नावगमे सइ बारसोलसठारेसु। दोहिं कुण उवट्टं, पयडिचउक्कंमि पुण एवं।।१६।।
अधतेरॅे पणवीसाए, चउदसे चउदसेहिं उवट्टे। पंचहिं पन्नरसे, अधठारे पणसत्तरिसएणं।।१७।।
दस वीस तीस चत्ता, सयरि सुलद्धेग दु ति च सगअंसा। बारस सोलट्ठारे, पणतीसंसा छ [सत्त] अट्ठ नव।।१८।।
अडवीसंसा पंच उ, अधतेरे चउदसेसु पंचंसो। चउदसमअंस तिन्नि उ, पन्नारे पाउ अधठारे।।१९।।
एयं इगिंदियेहिं, लद्धं इणमेव विगल अमणावि। कमसोलहं ति पणवीस, पन्न सय सहस गुणियं तु।।२०।।
इय करणवसादागय, बंधट्ठिईण पच्चयनिमित्तं। मुद्धाण जं तयमिणं, पदंसिमो सुहविबोहत्थं।।२१।।
अह लिह जंतं तिरि नव, उड्ढाहो चउदरेह अट्ठगिहं। पयडीसंखा पयडी, गुरुट्ठिई भागो य तइयगिहे।।२२।।
तुरि एगिंदियबंधं, पंचमि बेइंदि छट्ठि तेइंदी। सत्तमि चउरिंदिठिइं अमणठिइं अट्ठमे लिहसु।।२३।।[1]
दसिगासिगविगलमणा, सत्तं समयर तिसत्तचउदसगं। बायालसयं उवरिं, चउ इग दुग छच्च सत्तंसे।।२६।।
बारसिसिग विगलमणा, छप्पण तीसंस अयर चउ अट्ठ। सतरस इगसयरि सय, दसवीसं पंच पन्नरसा।।२७।।
अधतेरिगविगलमणा, पणअडवीसं सअयर चउ अट्ठ। सतरस अड सयरिसयं, तेर छवीस चउवीस सोलंसा।।२८।। गीतिरियम्।

---

१. २४–२५ तमे गाथाद्वये न दृश्येते ।

चउदसिगिगविगलमणा, पंचंसो अयर पंच दस वीसं। दुन्नि सया संपुन्ना अंसा उवरिं इहं नत्थि।।२९।।
पणदसि सिगविगलमणा, तिन्नि उ चउदंस अयरपणदसगं। इगवीस चउदसुत्तरबिसई पणदस च्छ चउरंसा।।३०।।
सोलसिसिगविगलमणा, अडपणतीसं सअयरपणिगारा। बावीसडवीसहिया, दुसई पणवीस पनर तिस वीसं।।३१।।गीतिः।
अधठारिगविगलमणा, पाउ छच्चयर पायसंजुत्ता। सङ्घा बारस पणवीस, सङ्घदुसई उ संपुन्ना।।३२।।
अट्ठारिगविगलमणा, नव पणतीसं सअयर च्छ ब्बारा। पणवीस दुसयसगवन्न, पनर तीस पणवीस पण अंसा।।३३।।
वीसिसु इगविगलमणा, सत्तंस दुगं च अयरसगचउदा। अडवीसं पणसीया, दुसई इग दु चउ पंच सत्तंसा।।३४।। गीतिः।
तीसिसु इगविगलमणा, सगंस तिगमयर दसिगवीसं च। बायालडवीसहिया, चउसय पण तिग च्छ चउरंसा।।३५।।
चत्तासिगविगलमणा, सगंस चउमयर चउद अडवीसं। सगवन्निगसयरिजुया, पणसय दुग चउ इग तिगंसा।।३६।।
सइरिसु इगविगलमणा, अयरिगपणवीस पन्न सयसहसं। संपुन्नं बंधंति, भागा इह नत्थि उवरिं तु।।३७।।
इगविगला सन्नीहिं, करणवसा जमिह लद्ध तं पुन्नं। गुरुठिइ तेसिं सच्चिय, पलियासंखं सऊणलहू।।३८।।
इगविगलाऽबंधा उ, विउव्विए पढमु बंधु अमणकओ। दुन्नि सया पणसीया, अंसा पंचेव उवरिं तु।।३९।।
बंधंति न इगविगला, वेउव्वियछक्क देवनिरयाउं। तिरिया तित्थाहारं, गइत्तसा नरतिगुच्चं च।।४०।।
नरयसुरसुहुमविगलत्तिगाणि आहारदुग विउव्विदुगं। बंधहिं न सुरा सायव, थावरेगिंदिनेरइया।।४१।।
अहुणा भणिमो मूलियरपयडिण ठिइबंधदुविहं पि। सन्निहिं पणिंदिएहिं, जह कइ कीरइ करिस्सइ य।।४२।।
मुत्तुमकसायि हुस्सा, ठिइ वेयणियस्स बारसं मुहुत्ता। अट्ठट्ठ नामगोयाण, सेसयाणं मुहुत्तंतो।।४३।।
मोहे कोडाकोडीउ, सत्तरई वीस नामगोयाणं। तीसियराण चउण्हं, तेतीसयराइं आउस्स।।४४।।
दंसण चउविग्घावरणलोहसंजलणहुस्स ठिईबंधो। अंतमुहुत्तं ते अट्ठ, जसुच्चे बारसयसाए।।४५।।

(सूक्ष्मार्थसारोद्धार-६४)

दो मासा अद्धद्धं, संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि। बावीसा पयडीणं, लहु ठिइ सन्नीण खवगाणं।।४६।।

(सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-७४, कर्मप्रकृति-७७)

सेसे सए इगारे, वेउव्विक्कारसे य सन्नीणं। अयरंतकोडिकोडी, लहुठिइ नियमा इहं जम्हा।।४७।।
चउयाले पयडिसए, गुरुयं तं सन्निणो कुणंति ठिइं। बावीसं दसिगाओ, इच्चाइण जा भणियपुव्विं।।४८।।
अंतो कोडाकोडी, तित्थाहाराण जिट्ठठिइबंधो। अंतमुहुत्तमबाहा, इयरो संखिज्जगुणहीणो।।४९।।

(सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-७०, शतकप्रकरणभाष्य-३४०,३५६)

सुरनिरयमिहुणवज्जा, जीवा बंधंति आउलहु खुड्डं। सुरनिरया अंतमुहू, दसवाससहस्समिहुणा वि।।५०।।
इगविगल पुव्वकोडिं, परायु अमणो असंखपल्लंसं। संखाओ तिरियमणुया, तिरिनरविसयं तु पल्लतिगं।।५१।।

(शतकनामा पञ्चमप्राचीनकर्मग्रन्थः -३४)

ते दोवि तितीसयरे, निरए मणुया सुरेसु तेतीसं। तीरियाठार सुरेसुं, जं तग्गइ जा सहस्सारं।।५२।।
तिरिनरमिहुण सुराउं, एकं च्चिय तं परं तिपल्लमियं। सुरनिरया उको(क्को)सं, [पुण] पुव्वकोडि तिरिनरेसु।।५३।।
सम्मे लहु अंतमुहू, समहिय छावट्ठि अयर गुरुट्ठिई। अंतमुहु दुह विमीसे, भणियं पन्नवण तीवीसपए।।५४।।
एगिंदिमाइबंधो, दुहावि लिहिओऽडवन्नपयडिसए। पन्नवणतिवीसपया, तिउद्देसा सिरिमहिंदेहिं।।५५।।

(मनःस्थिरीकरण प्रकरण गाथा-७४/७५)

परिशिष्ट–७

आ.श्रीमहेन्द्रसिंहसूरिरचितः

।।आयुःसङ्ग्रहः।।

सिद्धी कम्माभावे, सो भ(त)वसा तत्थवी वरं झाणं। तंपि य संपइ धम्मं, तत्तवियारो तहिं सारो।।१।।
तस्साइम जियतत्तं, तस्सवि आउं समग्गगुणठाणं। ते चउगइ जियआउं, लहुयं गरुयं पि इह भणिमो।।२।।
जीवा पज्जअपज्जा, नियनियपज्जत्तिं अंतगा पज्जा। करणेण य लद्धीय य, अपज्ज पुण होंति छविहा ऊ।।३।।
नियनियपज्जत्तीणं, अंतं एहिंति न पुण ता पत्ता। ते करणे अपज्जत्ता, जे उण नियनियपज्जत्तीणं।।४।।
अंतं न जंति अंतर, मरंति ते हुंति लद्धिअपज्जत्ता। सव्वत्थाउवियारे अपज्जंते जे उ लद्धीए।।५।।
तिरिनरसंखाऊया, लद्धिकरणेहिं होंति अपज्जत्ता। सुरनिरयमिहुणतिरिनर, करणेणं चेव अपज्जत्ता।।६।।
सुहमियरभूदगागणिपवणनिगोया(१०) पिहत्तरू विगला (३)। समुच्छिम तह गब्भा, जलथलनहउरभुयाचारी।।७।।
इय थिरि----पिहं, अपज्जपज्जत्तणेण अडचत्ता। सव्वेसिमपज्जाणं२४ दुविहं पिय आउ[अं]तमुहू।।८।।
पज्जाण वि सव्वेसिं२४, जहन्नमंतोमुहुत्तमह गरुयं। पंचसु मुहु ----- कनिगोए य अंतमुहू।।९।।
बायरधराइ बावीस, सत्तस तिमह सतिदिण समसहसा। तिन्निदसविगलबारस, समदिणगुणपन्न छम्मासा।।१०।।
जलथलउरभुयपक्खिसु, मुच्छेसुं पुव्वकोडिसमसहसा। चुलसीइ २ तेवन्न ३ बिचत्त ४ बासयरि जहसंखं।।११।।
एएसु गब्भएसुं, परमाउं पुव्वकोडि १ पल्लतिगं२। पुव्वकोंडि पुव्वकोंडि, ४ पल्लस्स असंखभागं च ५।।१२।।
रयणा १ सुद्धा २ वालुय ३ मणसिल ४ सक्कर ५ खरासु पुढवीसु ६। इग १ बार २ चउद ३ सोलस ४ ठारस ५ बावीस ३ समसहसा।।१३।।
नरखिंत्ति कम्मभूमिसु, नगराई चक्किमाइ सिबिराहो। पुन्नक्खया सम्मुच्छइ जहन्न अंगुल असंखंसो।।१४।।
उक्कोस बारजोयण, दीहा पिहुलत्त तयणुरूवेण। उरुसप्पुमिच्छतिरए, अंतमुहू दुहवि आसाली।।१५।।
भोगभूवि नेव विगला, तिरिया चउपाय पक्खिणो मिहुणा सीहाइ जुगलसोम्मा, अजुगलसोम्मा जलोरभुया।।१६।।
चउपय १ पक्खी २ मिहुणा, ते तिह भरहाइ खित्तदसगंमि१। अंतरदीवेसु तहा २ अकम्मभूमिसु तीसाए।।१७।।
समयहियपुव्वकोडीपभिई कालक्कमेण तावट्ठे। जा पल्ल असंखंसो, भरहाइसु आउ पक्खीणं।।१८।।
परमाउ जया जं जं, तेसिं लहुमवि तमेव किंचूणं। एवं चउप्पयाण वि, नवरं तेसिं तिपल्लंतं।।१९।।
अंतरदीविग चउपयपक्खीणमकम्मभूमिपक्खीणं। पल्लस्स असंखंसो, गुरुयं लहुयं तु किंचूणो।।२०।।
हेमवएरन्नेसुं, हरिवासे रम्मएसु १० कुरुसु १० कमा। इगदुतिपल्ला चउपय गुरुलहु तमसंखभागूणं।।२१।।
मिहुणचउप्पयपक्खिसु, गब्भअपज्जा य तहय मुच्छा य। हुंती तेसिं आउं, दुविहं पि य होइ अंतमुहू।।२२।।इति तिरयगइ।।
भरहाइ १० विदेहं ५ तर ५६ अकम्मभूमी ३० भवा नरा चउहा। पढमे मिहुणअमिहुणा १, विदेह अमिहुण २ दुगे मिहुणा।।२३।।
जा पुव्वकोडि आऊ, वा संखमसंखयं तु तेण परं। अमिहुण संखाऊया, मिहुणा सव्वे असंखाऊ।।२४।।
संखाउनरा तिविहा, गब्भे पज्जियर २ मुच्छिम अपज्जा। तहिं मुच्छिमसब्भावा, चलिएसुं मणुयऽमणुयवयवेसुं।।२५।।
उच्चारवमणपसवणपिसियाइसु तह पुमित्थिसंजोगे। मुच्छहिं नरिगदुगाई, जहन्नमुक्कोसउ असंखा।।२६।।
सइ संभवंमि एवं, ते पुण लोए न लब्भहिं सयावि। जं मुच्छनरंतरमवि, चउवीसमुहुत्त गुरु अत्थि।।२७।।
उडुकाले पुणअहिया, गब्भय एगाय जाव नवलक्खा। तहि पज्जा एगाई, जा बतीसं अपज्जीयरे।।२८।।

इय अमिहुणनर तिविहा, मिहुणा पुण गब्भपज्ज एगविहा। तेसु वि गब्भिअ पज्जा, वंताइसु मुच्छ परं न ते मिहुणा।।२९।। गीतिरियम्।

कम्माकम्मगभूमिसु, अंतरदीवेसु मणुय मुच्छंति। गब्भयमणुवयवेसुं, इय पन्नवणाए पढमपए।।३०।।

भरहाइसु जे मुच्छा, मिहुणामिहुणाण वमणमाईसु। जे वि य गब्भि अपज्जा, अंतमुहु दुहवि ताणाउ।।३१।।

भरहेरावयगब्भय, पज्जनराऊ जहन्नमंतमुहू। गुरु सोलसवरिसाई, जा वीसं आइमे अरए।।३२।।

वीसाउ जाऽहियसयं बीए २ तइए उ अहियवाससया। जा पुव्वकोडी, तुरीए पुव्वकोडिओ जा पल्लं।।३३।।

पल्ला दुपल्ल पंचमि ५, पल्लदुगाउ तिपल्ल जा छट्ठे ६। एवं उस्सप्पिणीए, ओसप्पिणीए वि विवरियं।।३४।।

दसखित्तयुगल समयाहियपुव्वकोडीउ जाव पल्लतिगं। उस्सप्पिणि गुरुआउ, ओसप्पिणीए उ पडिलोमं।।३५।।

दसखित्तीमिहुणाणं, जं जं आउं जया जया गरुयं। तं चिय तयावि लहुयं, नियनियठाणम्मि किंचूणं।।३६।।

वइदेहमणुयमुच्छिमगब्भअपज्जाण दुहवि अंतमुहू। गब्भयपज्जाण गुरुपुव्वकोडि तहंतमहुलहुयं।।३७।।

मिहुणाऊ दीवेसु, गरुयं पुन्नो(पल्लो) लहुं तु किंचूणो। पल्लासंखंसु तओ, हेमवएरन्नवासेसुं।।३८।।

हरिवासरम्मएसुं १०, कुरुसु १० इग दोन्नि तिन्नि पल्लकमा। पुन्ना गरुयं लहु पुण, पल्लस्स असंखअंसूणा।।३९।।

मिहुणयगब्भअपज्जा, जे जे वि य वंतिमाइसुं मुच्छा। अंतर अकम्मभूमिसु, ताणाउ दुहवि अंतमुहू।।४०।। इति मणुयगई।।

रयणपहा लहुआऊ, दसवाससहस्स तह गुरु अयरं। अयरेगतिगं बियाए, तच्चपुढवीए तिग सत्त।।४१।।

तुरियाए सत्तदसगं, दससतरस पंचमीए अह छट्ठी। सतरस बावीसयरा, सत्तमि बावीस तेत्तीसा।।४२।।

तेरिक्कारस-नव-सग-पण-तिग-एक्को य पयरगुणपन्नं। सव्वत्थ दुविहमाउं, मुत्तूणं नरयमपइट्ठं।।४३।।

सीमंतपत्थडाऊ, दसनउई समसहस्स लहु गरुयं। दसनउइलक्ख बिइए, तह लहु समलक्खनवई उ।।४४।।

गुरुपुव्वकोडि तईए, तुरिए पुवकोडिअयरदसभागो। एगो दोन्नि दसंसा, पंचमि छट्ठे उ दो तिन्नि।।४५।।

इगइगदसंसवुड्ढी, ता कज्जा जाव तेरसे पयरे। दसमंसग नव लहुयं, गुरुआऊं पुन्नमयरं तु।।४६।।

उवरि खिइठिइविसेसो, सगपयरविहत्थ इत्थ संगुणिओ। उवरिमखिइठिइसहिओ, इच्छियपयरंमि उक्कोसो।।४७।।

सम्प्रति द्वितीयादिपृथिवीषु ईप्सितप्रतरे गुरुस्थितिपरिज्ञानाय करणमाह –**उवरि खिइठिइ गाहा।**

व्याख्या– उपरितनोपरितनक्षितिगुरुस्थितेरधस्तनाधस्तनक्षितिगुरुस्थितिभ्यो यो विश्लेषः सः स्वकीय प्रतरैर्विभज्यते ततो यल्लब्धं तदीप्सितप्रतरसङ्ख्यया गुण्यते। तत उपरितनोपरितनक्षितिस्थितेर्योजने सति यद्भवति सा व्यवक्षत(विवक्षित) प्रतरे उत्कृष्टा स्थितिः। अत्रोदाहरणम्– केनचित्पृष्टम् 'द्वितीयपृथिव्यां षष्ठप्रतरे का गुरुस्थितिः ?' ततो द्वितीयपृथिव्याः सागरत्रिकरूपा गुरुस्थितिः स्थाप्यते। तस्याश्च प्रथमपृथिवीसागरे विश्लेषिते पश्चात् स्थितं सागरद्वयं तस्य स्वकैरेकादशभिः प्रतरैर्भागे लब्धं सागरस्य एकादशं भागद्वयम्। तच्चेच्छया ईप्सित-प्रतरसङ्ख्यया षट्केन गुण्यते। [आ]याता द्वादशएकादशभागाः। तेषामेकादशभिः सागरे कृते एको भागोऽवशिष्यते। ततस्तस्मिन् सागरे उपरितनपृथ्वीस्थितिसागरं योज्यते। तत आगतं षष्ठप्रतरे सागरद्वयम् एकश्च एकादशो भागो गरीयसी स्थितिः। अत्र चायं प्रत्ययोऽवशिष्टप्रतरे पञ्चमप्रतरसत्कं सागरं सागरैकादशभागाश्च दश लघ्वी स्थितिः। एवमन्येष्वपि प्रश्नेषु(प्रतरेषु?) करणमेवं विधेयम् ।

उवरिधरा गुरू ठिई, सा अह धरपढमपत्थडे लहुई। उवरुवरिपयरगुरुठिई, अहोहपयरेसु सा लहुई।।४८।। इति निरयगई। असुराइ देवदेवीए, दाहिण वीसं तहुत्तरा वीसं। वणय[१] .....

१. एकं पत्रं नास्ति ।

.....
.....
.....
..... चउ दुगे दुगे चउ। गेविज्जाइसु दसगं, छावट्ठी उड्ढलोगम्मि।।६७।।
सोहम्मपढमपयरे, परमाउं अयरतेरसं सदुगं। उवरि दु दु भागवुड्ढी, जा अयरदुगंतिमे पयरे।।६८।।
एवं चिय ईसाणे, नवरं सच्चत्थ किंचि अहियत्तं। भणियव्वं तह कुणसू, उवरिमकप्पेसु करणमिणं।।६८।।
सुरकप्पट्ठिइविसेसो, सगपयरविहत्त इत्थ संगुणिओ। हिट्ठिल्लट्ठिइसहिओ, इच्छियपयरंमि उक्कोसा।।६९।।
केनचित्पृष्टं तृतीयकल्पाष्टमप्रतरे कियती गुरुस्थितिरिति? अत्र करणम्– **सुरकप्प गाहा।** प्रथमं सुरकल्पयोः स्थितिर्विश्लेष(स्थितेर्विश्लेषः) क्रियते। एतदुक्तं भवति–तृतीयकल्पस्य सागरसप्तकरूपाया गुरुस्थितेर्मध्याद–धस्तनकल्पस्थितिः सागरद्वयमपह्रियते ततः स्थितानि पञ्चसागराणि। तानि च स्वकैः द्वादशभिः प्रतरैर्विभज्यन्ते। ततो लब्धं सागरस्य द्वादशतमाः पञ्चभागाः। ते चेच्छया विवक्षितप्रतरसङ्ख्याष्टकरूपया गुण्यन्ते। [आ]याता चत्वारिंशत्। षट्त्रिंशता रूपत्रयं कृतं भागचतुष्कं चावशिष्यते। ततोऽतरत्रयमधस्तनकल्पस्थित्यतरद्वयेन सहितं क्रियते। तत आगतं तृतीयकल्पाष्टमप्रतरे सागर पञ्चकं भागचतुष्टयं चोत्कृष्टा स्थितिः। प्रत्ययश्चात्र अवशिष्ट–प्रतरचतुष्टयमपि विंशतिभागान् लभते। ततस्तैः पूर्वैश्चतुर्भिः सागरद्वये कृते सप्तातराणि भवन्तीति। एवं सर्वेष्वपि प्रश्नेषु(प्रतरेषु?) करणं विधेयम्।
उवरुवरि पयरगरुयं, अहोहपयरेसु होइ लहुनिरए। इह पुण अहकप्प गुरु, उवरिमकप्पे लहू सयले।।७०।।
कब्बिससुहम्मीसाणे, तितुरियकप्पेसु लंतए य कमा। पढमतिचउपयरेसुं, तिपलियसारतिगतेराऊ।।७१।।
अनिरयचउपंचभवो, जमालि लंतंमि तेरसाराऊ। किब्बिसिवियार भगवइ, नवसयतेतीस उद्देसे।।७२।।
सोहम्मे ईसाणे, परिगहियाणं सुरीण लहुमाउं। पल्लं समहियपल्लं, सत्त य नवपल्ल उक्कोसं।।७२।।
छलक्खा सोहम्मे, चउरो लक्खा विमान ईसाणे। केवल सुरीण वासा, अपरिग्गहियाण ताण उणो।।७३।।
पलियाउ जा सुहम्मे, समहियपल्लाउ जा उ ईसाणे। नियनियकप्पसुराणं, अनियइचारेण ता भुज्जा।।७४।।
जा पुण सुहमे पल्लुवरि, अहियपल्लोवरिं तु ईसाणे। अहियाऊ इगदुतिचउ, संखमसंखेहिं समएहिं।।७५।।
जा दस पनरस पल्ला, ता कमसो तइयतुरियकप्पाणं। पुव्वुत्तवुड्ढि पुणरवि, जा वीसं पल्लपणवीसं।।७६।।
ता बंभलंतयाणं, पुण वुड्ढि जा बतीसपणतीसं। ता सुक्कसहस्सारे, उवरिं पुव्वुत्त पुण वुड्ढी।।७७।।
जा चत्ता पणचत्ता, ता आणयपाणयाण पुण वुड्ढी। जा पन्ना पणपन्ना, ता आरण अच्चुयाणं तु।।७८।।
बंभे रिट्ठे अट्ठण्ह, कण्हराईण अंतरालेसु। अट्ठट्ठसागराऊ, नवविहलोगंतिया देवा।।७९।।
इय धम्मसूरिसुगुरूवएसओ सिरिमहिंदसूरीहिं। कइवयथूलपयाऊ, संकलियं बारचुलसीए।।८०।।

।। आउसंगहो समत्तो।।

मुखपृष्ठ परिचय

प्रकृति के प्रसिद्ध पांच मूल तत्त्व है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश। भारत का प्रत्येक दर्शन या धर्म इन पांच में से किसी एक तत्त्व को केंद्र में रखकर विकसित हुआ है। जैन धर्म का केंद्रवर्ती तत्त्व अग्नि है। अग्नि तत्त्व ऊर्ध्वगामी, विशोधक, लघु और प्रकाशक है।

श्रुतज्ञान अग्नि की तरह अज्ञान का विशोधक है और प्रकाशक है। अग्नि के इन दो गुणधर्मों को केंद्र में रखकर मुखपृष्ठ का पृष्ठभू (Theme) तैयार किया गया है।

कृष्ण वर्ण अज्ञान और अशुद्धि का प्रतीक है। अग्नि का तेज अशुद्धियों को भस्म करते हुए शुद्ध ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। विशुद्धि की यह प्रक्रिया श्रुतभवन की केंद्रवर्ती संकल्पना (Core Value) है।

अग्नि प्राण है। अग्नि जीवन का प्रतीक है। जीवन की उत्पत्ति और निर्वाह अग्नि के कारण होते है। श्रुत के तेज से ही ज्ञानरूप कमल सदा विकसित रहता है और विश्व को सौंदर्य, शांति एवं सुगंध देता है। चित्र में सफेद वर्ण का कमल इसका प्रतीक है।

श्रुतभवन में अप्रगट, अशुद्ध और अस्पष्ट शास्त्रों का शुद्धिकरण होता है। शुद्धिकरण के फलस्वरूप श्रुत तेज के आलोक में ज्ञानरूपी कमल का उदय होता है।

सयर प्रमाण; लाम्बपणि जघन्यतउ असंख्यातमउ भागउ उत्कृष्टत संख्याता जोअण लगइ तैजस सइर सहित जीवप्रदेश दण्ड बाहिरि काढइ। तीणइ करी जेह ऊपरि रीस हुइ तेह मनुष्यादिकहुइं बालइ। ए तैजस समुद्घात अंतर्मुहूर्त प्रमाण हुइ ५।

वैक्रिय समुद्घातनी परिइं आहारक समुद्घात जाणिवउ। ते चऊद पूर्वधरनइ आहारक शरीर करता हुइ ६।

जेह केवलीनइ वेदनीयादिकना कर्मपुद्गल घणा हुइंआऊखुं थोडउं हुइं ते पुद्गलसिउं आऊषाहुइं समा करवानइ केवलि समुद्घात करइ। तेहनइ वेदनियादिक पुद्गलसिउं आऊखुं समउं हुइं ते न करइं। केवलि समुद्घात करतउ पहिलइ समइ पिहुलपणि = जाडपणि आपणा शरीर जेवडउ ऊपरि हेठलि लोकांत लागउ आपणा जीवप्रदेशनउ दण्ड करइ १। बीजइ समइ आपणा शरीरप्रमाण पूर्व-पश्चिम लोकांति लागउ कपाट करइ २। त्रीजइ समइ उत्तर-दक्षिण दण्ड प्रमाण जीवप्रदेश विस्तारी मंथाणउ रवाइउ करइ ३। चउथइ समइ आंतरां पूरी आपणे जीवप्रदेशे करी चऊद रज्ज्वात्मक लोकव्यापी थाइ ४। पांचमइ आंतरा संहरइ ५। छट्ठइ मंथाणउ संहरइ ६। सातमइ समइ कपाट संहरइ ७। आठमइ समइ वली सयरजिमांहि आवइ ८। इम केवलि समुद्घात करतां आठ समय लागइं। तेहनइ पहिलउ अनइ आठमइ समइ औदारिक योग हुइ। बीजइ, छट्ठइ, सातमइ समइ औदारिकमिश्रयोग हुइ। त्रीजइ, चउथइ, पांचमइ समइ कार्मणयोग हुइ। एहे त्रिहुं समये अनाहारक हुइ। बीजे सविहू समये आहारक हुइ।

ए सात समुद्घात तेरे थानके विचारीइं छइं। पृथ्वीकाय १ अप्काय २ तेउकाय ३ वनस्पतिकाय ४ बेंद्रिय ५ त्रेंद्रिय ६ चउरिंद्रिय ७ असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय ८ मांहि त्रिणि ३ समुद्घात हुइं - वेदना समुद्घात १ कषाय समुद्घात २ मरण समुद्घात ३। वाउकायमांहि ए त्रिणि अनइ वैक्रिय समुद्घात हुइं। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि अनइ नारकी-देवमांहि आहारक अनइ केवलि समुद्घात टाली बीजा पांच पांच समुद्घात हुइं। वेदना समुद्घात १ कषाय समुद्घात २ मरण ३ वैक्रिय ४ तैजस ५ समुद्घात हुइं। मनुष्यमांहि सातइ समुद्घात प्रामीअइं। एम तेरे थानके समुद्घातविचारः। इति समुद्घात विचारः।

अथ परभवना आऊखानउं बंधविचार। पृथ्वीकाय परलोकि पृथ्वीकायमांहि जातउ जघन्य आऊखुं अंतर्मुहूर्तप्रमाण बांधइ। उत्कृष्टउं मनुष्य अथवाइ तिर्यंचमांहि जातउ एक पूर्वकोडि प्रमाण आऊखुं बांधइ। इम अप्काय-वाउकाय-वनस्पतिकायइनइ जाणिवुं। पुण एतलुं विशेष - तेउकाय अनइ वाउकाय मनुष्यनुं आऊषुं न बांधइ तिर्यंचजइ योगि पूर्वकोडि प्रमाण आऊखुं उत्कृष्टउं बांधइं। बेंद्रिय-त्रेंद्रिय-चउरिंद्रिय परलोकि पृथव्यादिकमांहि जातां जघन्य अंतर्मुहूर्त बांधइ, मनुष्य-तिर्यंच मांहि जातां उत्कृष्टउं एक पूर्वकोडि आऊखुं बांधइ। असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियइ जघन्य परलोकि अंतर्मुहूर्त प्रमाण आऊखुं बांधइ। भुवनपत्यादिकमांहि जातां उत्कृष्टउं पल्योपमनउ असंख्यातमउ भाग आऊखुं बांधइं। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय अनइ मनुष्य पृथिव्यादिक मांहि जातां जघन्य आऊखुं अंतर्मुहूर्त प्रमाण बांधइं। उत्कृष्टउं तिर्यंच सातमइ नरगि अनइ मनुष्य सातमइ नरगि अनइ अनुत्तर विमानि जातां उत्कृष्टउं तेत्रीस सागरोपम आऊखुं बांधइं। नारकी तंदुलमत्स्यादिकमांहि ऊपजतां अनइ देव पृथिव्यादिकमांहि ऊपजतां जघन्य आऊखुं अंतर्मुहूर्त प्रमाण बांधइ। नारकी अनइ देवइ उत्कृष्टउं मनुष्य-तिर्यंचमांहि ऊपजता एक पूर्वकोडि प्रमाण आऊखुं बांधइ। इति तेरे थानके परलोकि आऊषुं बांधवानउ विचार कहिउं।।

हिव आऊखानी आबाधाकालनउ विचार कहीइ छइ। जीव परलोक योग्य आऊखउं अहां भवना त्रीजइ

---

१ टी.-यहाँ पर 'संज्ञिया----मनुष्यमां' तक की पंक्ति का पुनरावर्तन हुआ है ।

२ = शृंखला

भागि अथवा नवमइ भागि अथवा सत्तावीसमइ भागि ३ अथवा छेहिलइ अंतमुहूर्त्ति निश्चय बांधइ। आऊखुं बांधतां अंतर्मुहूर्त लागइ। पछइ जे आऊखुं पोतांजि थिकु रंहइ, उदय नावइ जां लगइ ते जीव न मरइ। मूआ पूठिइं ऋजुगतिइं पहिलइजि समइ वक्रगतिं बीजइ समइ ते आऊखुं उदय आवइ। जेतलुं काल ते आऊखउं उदय न आवइ ते आबाधाकाल कहीइ।

ते जघन्य केतलउ हुइ अनइ उत्कृष्टउं केतलउं हुइ? ए वात तेरे स्थानके विचारीइ छइ। पृथ्वीकाय १ अप्काय २ तेअ(उ)काय ३ वायुकाय ४ वनस्पतिकाय ५ बेंद्रिय ६ त्रेंद्रिय ७ चउरिंद्रिय ८ असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय १० मनुष्य ए इग्यारए स्थानकि जउ आऊखुं परलोगउं छेहडइ बांधइ तउ तेहनु आबाधाकाल जघन्य अंतर्मुहूर्त प्रमाण हुइ। उत्कृष्टउं बावीस सहस्रवर्ष प्रमाण आऊखानइउ धणी पृथ्वीकायनइ आपणा भवनइ त्रीजइ भागि परलोकनउं आऊखउं बांधइ तउ तेह नउ उत्कृष्टउ आबाधाकाल सातसहस त्रिणिसइं तेत्रीसां वरस अनइ च्यारिमास एतलुं हुइ। अप्कायमांहि उत्कृष्टउ अबाधाकाल बि सहस्र त्रिणिसइ तेत्रीसां वर्ष अनइ ४ मास त्रेवीससइं त्रेत्रीसां एतलुं हुइ। आंकथउ तेतल २३३३,१/२ एतलुं हुइ। तेउकायमांहि उत्कृष्टउ आबाधाकाल एक दिहाडउ। वायुकायमांहि एक सहस्र वरस उत्कृष्टउ आबाधाकाल हुइ। वनस्पतिमांहि अंकतस्तु ३३३३ एतलुं हुइ। बेंद्रियमांहि उत्कृष्टउ आबाधाकाल च्यारि वरस रहइ। तेंद्रिय मांहि उत्कृष्टउ आबाधाकाल सोल दिवस अनइ एकवीस घडी अनइ घडीनु त्रीजउ भाग। चउरिंद्रियमांहि उत्कृष्टउ आबाधाकाल बिमास हुइ। असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियमांहि उत्कृष्टउ आबाधाकाल हुइ तेत्रीस लाख तेत्रीस सहस्र त्रिन्निसइं तेत्रीसां एतला पूर्व अनइ तेवीस कोडि लाख बावन कोडि सहस्र एतलां वरस ऊपरि जाणिवा। आंकथउ ३३,३३,३३३ एतला पूर्व २३,५२,००,०००,०००,०० एतलां वरस हुइं। संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियहुइं अनइ मनुष्यमांहि तिमजि पूर्वकोडि नउ त्रीजउ भाग उत्कृष्टउ आबाधाकाल हुइं। अनइ युगो(ग)लियां तिर्यंच मनुहुइं तथा नारकी देव हुइं[१] आऊखानउ आबाधाकाल छेहिला छमास आऊखानुं आबाधाकाल जाणिवउ। इम त(ते)रे स्थानके आऊखानउ आबाधाकाल विचारिउ।

अथ आठ कर्मबंध तेरे स्थानके विचारीइ छइ। घटपटादिक विशेषरूप वस्तुनउ जाणिवउं जे आवरइ = आच्छादइ ते ज्ञानावरणीय कर्म। आँखिहुइं आडइ जिम वस्तु हुइ तेह सरीखु जीवहुइं ए कर्म १। सामान्य वस्तुमात्र नउं जाणिवुं दर्शन कहीइ। तेहनुं आवरण ते दर्शनावरणीय कहीइं। रायनुं दर्शन करिवा वांछता पुरुषहुइ जिम प्रतीहार अंत्राय कर्म करइ तिम ए कर्म जाणिवउं २। सुखदुःखादिकनुं जीणइं कर्मिइं वेयवुं हुइ ते वेदनीय कर्म। मधुखरडी खांडानी धारना आस्वादिवा सरिखउं जाणिवउं ३। मिथ्यात्व, कषाय, राग, हास्यादिक भाव जीणइं कर्मिइं करी हुइ ते मोहनीय कर्म। ए कर्म मद्यपान सरिखउं जाणिवउं। जिम मद्यि पीधइ अवेतथिकउ यथास्थित वस्तु न जाणइ, अनेरीइ हुइ अनेरी जाणइं इम ईणइ अदेव देव भणइ ४। जीणइ कर्मिइं जीव जीवइ ते आऊखुं कर्म हडि[२] सरिखुं कहीइ ५। जीणइं कर्मिइं मनुष्यादिक गति सइर, संघयण, वर्ण, स्वरादिक भाव हुइ ते अनेकभेद नाम कर्म कहीइ। ए चित्रकर सरिखु जाणिवुं ६। जीणइं कर्मिइं जीव उच्च नीचि गोत्रि अवतारिअइ ते गोत्रकर्म कहीइ। ए कुंभकार सरिखुं जाणिवउं, जिम कुंभकार रुडाइ घडादिक करइ अनइ भूंभलाइ करइ तिम ए कर्म जीवनइं उँचाइ कुल आवइ नीचाइ कुल करइं ७। जीणइं कर्मिइं लक्ष्मी भोगादिकने संयोगे छते ए दान दिई न सकइं, भोगादिक भोगवी न सकइं, व्यवसाय करता लाभ न हुइ, सयरि मोटइ छतइ बलशक्ति न हुइं ते अंत्राय कर्म कहीइं। भंडारी सरीखउं, जिम भंडारी सानुकूल न हुइं तउ राजादिक दान देई न सकइं तिम तेहू ए कर्म जाणिवुं ८।

पृथ्वीकाय जीव आपणा भवनइ त्रीजइ भागि अथवा नूमइ भागि अथवा सत्तावीसमइ भागि अथवा

छेहलइ अंतमुहूर्ति जे तीवारइं आवता भवनूं आऊखुं बांधइं तिवारइं आठइ कर्मनउ बंध हुइ। अनेरी वेला समइ समइ सात कर्म बंधइ। इम अप्काय, तेउकाय, वाउकाय, वनस्पतिकाय, बेंद्रिय, त्रेंद्रिय, चउरिंद्रिय, पंचेंद्रिय असंज्ञिया तिर्यंच एतला जीव जे वारइं आवता भवनुं आऊखुं बांधइं तिवारइं आठ कर्म बांधइ, अनेरी वेलां सदैव समइ समइ सात कर्म बांधइ। मनुष्य प्रमत्तगुणठाणा लगइ आऊखाबंधवेलाइं आठ कर्म बांधइ अनेरी वेलां सदैव समइ समइ सात कर्म बांधइ। पुण एतलुं विशेष मिश्रगुणठाणइं जीव मरइ नही ए स्वभाव, तिहां आऊखुं पणि न बांधइ सातइजि कर्म बांधइ। निवृत्तिबादर, अनिवृत्ति बादर ए बिहु गुणठाणे आऊखुं वर्जी बीजां सातकर्म बांधइ। सूक्ष्मसम्पराय गुणठाणइ आऊखुं अनइ मोहनीय टाली बीजां छ कर्म बांधइ। पुण उपशांतमोह, क्षीणमोह, सजोगि एहे त्रिहु गुणठाणे एक सातावेदनीयजि कर्म बांधइ, बीजउं एकइ न बांधइं। अयोगि गुणठाणइ एकू कर्म न बांधइं। देव अनइ नारकी छेहल छए मासे जिवारइं परलोक योग्य आऊखुं बांधइं तिवारइं आठ कर्म बांधइं बीजी बीजी परि सदैव सातजि कर्म समइ समइ बांधइं। इम तेरे स्थानके प्रकृतिमूलबंधविचारः।

हव ए आठकर्मनी उत्तरप्रकृति बांधवानउं विचार लिखीइ छइ। ज्ञानावरणीय कर्मि पांच उत्तर प्रकृति– मि(म)तिज्ञानावरण १ श्रुतज्ञानावरण २ अवि(व)धिज्ञानावरण ३ मनःपर्ययज्ञानावरण ४ केवलज्ञानावरण ५।

दर्शनावरणीय नवभेद – चक्षुर्दर्शनावरण १ अचक्षुर्दर्शनावरण २ अवि(व)धि दर्शनावरण ३ केवलदर्शनावरण ४ निद्रा ५ निद्रानिद्रा ६ प्रचला ७ प्रचलाप्रचला ८ स्त्यानर्द्धि ९। एवं नवविध दर्शनावरणीय।

वेदनीयना बि भेद सातावेदनीय १ असातावेदनीय २।

मोहनीयना अट्ठावीस भेद मिथ्यात्व १ मिश्र २ पुद्गलमय सम्यक्त्व ३, अनंतानुबंधिया क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४, प्रत्याख्याना क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४, अप्रत्याख्याना क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४, संज्वलन क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४ एवं कषाय १६। उत्तर प्रकृति ९। हास्य २० रति २१ अरति २२ शोक २३ भय २४ जुगुप्सा २५ पुरुषवेद २६ स्त्रीवेद २७ नपुंसकवेद २८ ए अट्ठावीस भेदमांहि जीव २६ छव्वीसजि प्रकृति बांधइ। जेह भणी सम्यक्त्व अनइ मिश्र जूआं न बांधइ। मूलि मिथ्यात्वजिं एक बांधइं। तेमांहि केतलाइं चोखा पुद्गल सम्यक्त्वरूप थाइं। तेहजि मांहिला अर्द्ध चोखा केतला पुद्गल मिश्ररूप थाइं तेह भणी एह बिहुनुं जूओ बंध न हुइं।

आऊखुं कर्म चिहुं भेदे हुइं। देवनुं आऊखुं १ तिर्यंचनुं (आऊखुं २) मनुष्यनउं आऊखुं ३ नरकनु आऊखुं ४।

नामकर्मना सातसट्ठि भेद। मनुष्यगति १ देवगति २ नरकगति ३ तिर्यंचगति ४, एकेंद्रियजाति ५ बेंद्रियजाति ६ तेंद्रियजाति ७ चउरिंद्रिय(जाति) ८ पंचेंद्रियजाति ९ औदारिकशरीर १० वैक्रियशरीर ११ आहारकशरीर १२ तैजस शरीर १३ कार्मण(सरीर) १४ औदारिकशरीरना उपांग १५ वैक्रियशरीरनुं उपांग १६ आहारकशरीरनुं उपांग १७ पनर बंधन अनइ पाच संघातन वर्ण–गंध–रस–रस–स्पर्शना सोल भेद। ए छत्रीस भेद सइरजिमांहि आव्या जूआ न गणीअइ। वज्रऋषभनाराच १८ ऋषभनाराच १९ नाराच २० अर्द्धनाराच २१ कीलिका २३ सेवार्त संघयण। समचतुरस्र संस्थान २४ न्यग्रोध परिमंडल (संस्थान) २५ सादि संस्थान २६ वामन संस्थान २७ कुब्ज संस्थान २८ हुंड संस्थान २९ एक वर्ण ३० एक गंध ३१ एक रूप ३२ एक रस ३३ एक स्पर्श ३३ मनुष्यानुपूर्वी ३४ देवानुपूर्वी ३५ नरकानुपूर्वी ३६ तिर्यगानुपूर्वी ३७ शुभविहायोगति ३८ अशुभविहायोगति ३९ पराघात ४० ऊसास ४१ आतप ४२ उद्योत ४३ अगुरुलघु ४४ तीर्थकरनाम ४५ निर्माण ४६ उपघात ४७ त्रस ४८ बादर ४९ पर्याप्त ५० प्रत्येक ५१ स्थिर ५२ शुभ ५३ सुभग ५४ सुस्वर ५५

आदेयनामकर्म ५६ यशोनामकर्म ५७ स्थावर ५८ सूक्ष्म ५९ अपर्याप्त ६० साधारण ६१ अस्थिर ६२ अशुभ ६३ दुर्भग ६४ दुःस्वर ६५ अनादेय ६६ अयशोनामकर्म ६७।

गोत्रकर्मि बि भेद उच्चै गोत्र१ नीचै गौत्र २।

अंत्राय कर्म पांच भेद दानांतराय १ लाभांतराय २ भोगांतराय ३ उपभोगांतराय ४ वीर्यांतराय ५ एवं आठे कर्मे थई १२० प्रकृति सर्वजीवनी अपेक्षाइं बांधइं।

को जीव केही बांधइ? कुणहइं गुणठाणइ? ए उत्तर प्रकृतिनु बंध तेरे स्थानके विचारीइ छइ। पृथ्वीकायमांहि एकवीसोत्तरसउ प्रकृतिमांहि नवोत्तरसउ बांधइं। जिननामकर्म १ देवगति २ देवानुपूर्वी३ वैक्रियशरीर ४ वैक्रियअंगोपांग ५ आहारकशरीर ६ (आहारक)अंगोपांग ७ देवायुष्क ८ नरकगति ९ नरकानुपूर्वी१० नरकायुष्क ११ ए इग्यार प्रकृति न बांधइं। जेह भणी पृथ्वीकाय मरी देवलोकि नरगि न जाइ। सास्वादन गुणठाणानी वेलां पृथ्वीकाय ९४ प्रकृति बांधइं। जेह भणी सूक्ष्म १ अपर्याप्त २ साधारण ३ बेंद्रिय ४ तेंद्रिय ५ चउरिंद्रिय ६ एकेंद्रिय जाति ७ थावर नाम ८ आतप ९ नपुंसक वेद १० मिथ्यात्व ११ हुंड संस्थान १२ सेवार्त संघयण १३ तिर्यागायु १४ नरायु १५ ए पनर प्रकृति न बांधइ। मिथ्यात्व पाहिं विशुद्ध परिणाम भणी अप्काय जीवहुइं एजि बिहुं गुणठाणे नवोत्तरसउ प्रकृति अनइ चउराणू छंनू प्रकृति हुइ। तेउकाय वाउकायना जीवहुइं एक मिथ्यात्वजि गुणठाणउ हुइ। तिहां पंचोत्तरसउ प्रकृति बांधइं। मनुष्यगति १ मनुष्यानुपूर्वी २ मनुष्यायु ३ उच्चैर्गोत्र ए च्यारि प्रकृति पृथ्वीकायना पाहिं ओछी बांधइं। जेह भणी ए मरी मनुष्यगतिं न जाई। वनस्पतिकाय बेंद्रिय तेंद्रिय चउरिंद्रिय जीव पृथ्वीकायनी परि मिथ्यात्वगुणठाणइ नवोत्तरसउ प्रकृति बांधइं। सास्वादन गुणठाणइ चउराणू अथवा छंनू प्रकृति बांधइ। असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रिय मिथ्यात्व गुणठाणइ सत्तोत्तरसउ प्रकृति बांधइं। तीर्थंकर नामकर्म १ आहारक शरीर २ आहारक अंगोपांग ए त्रिणि प्रकृति न बांधइ। सास्वादन गुणठाणानी वेलां नरकगति १ नरकानुपूर्वी २ नरकनउ आऊखुं ३ सूक्ष्म ४ अपर्याप्त ५ साधारण ६ बेंद्रिय जाति ७ तेंद्रिय ज्ञाति] ८ चउरिंद्रिय ज्ञाति] ९ एकेंद्रिय जाति १० स्थावर ११ आतप १२ नपुंसकवेद १३ मिथ्यात्व १४ हुंड संस्थान १५ सेवार्त संघयण १६ ए सोल प्रकृति न बांधइ। बीजी एकोत्तरसउ प्रकृति बांधइं। संज्ञिया पर्याप्ता तिर्यंच पंचेंद्रिय हुइं पांच गुणठाणाहुइं। ते मिथ्यात्व गुणठाणइं जिन नामकर्म १ आहारक अंगोपांग २ आहारक शरीर ३ ए त्रिणि प्रकृति टाली बीजी सत्तोत्तरसउ प्रकृति बांधइं। सास्वादन गुणठाणइ पाछिली परि एकोत्तरसउ प्रकृति बांधइ। मिश्रगुणठाणइ देवतानु आऊखुं, च्यारि अनंतानुबंधिया, न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान; सादि; वामन; कुब्ज ए च्यारि संस्थान, ऋषभनाराच; अर्द्धनाराच; नाराच कीलिका ए च्यारि संघयण, कुत्सित विहायोगति, नीचैर्गोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि, उद्योत, तिर्यंचगति, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग, वज्रऋषभनाराच ए छत्रीस प्रकृति न बांधइं, बीजी ६९ प्रकृति बांधइं।

अविरत गुणठाणइ देवनुं आऊखुं बांधइं। तेह भणी ७० प्रकृति {बांधइ} देशविरति बांधइ।

देशविरति गुणठाणइं अप्रत्याख्याना क्रोध, मान, माया, लोभ न बांधइ। तेह भणी तीणइ गुणठाणइ ६६ प्रकृति बांधइं। आगिला गुण(ठाणा) तिर्यंचहुइं न हुइं।

पर्याप्ता मनुष्यनइ १४ गुणठाणा हुइं। ते तिर्यंचनी परि मिथ्यात्व गुणठाणइ ११७ प्रकृति बांधइं। मिश्र गुणठाणइ ६९ प्रकृति बांधइं, अविरत गुणठाणइ जिन नामकर्म अधिकउं बांधइं। तेह भणी ७१ प्रकृति बांधइं। देशविरत गुणठाणइ ६७ प्रकृति बांधइ। प्रमत्त गुणठाणइ प्रत्याख्याना क्रोध, मान, माया, लोभ न बांधइं तेह भणी ६३ प्रकृति बांधइं। अप्रमत्त गुणठाणइ ५९ अथवा ५८ प्रकृति बांधइं। जेह भणी अरति, शोक, अस्थिर,

अशुभ, अयश, असात ए ६ प्रकृति न बांधइं अनइ आहारक शरीर अंगोपांग २ ए बि प्रकृति अधिकी बांधइं। जइ देवतानउं आऊखुं प्रमत्ति बांधिउं हुइं तउ ५८ प्रकृति बांधइ। निवृत्ति बादर गुणठाणाना सात भाग कीजइं। पहिलइ भागि अट्ठावनजि बांधइं आगिले पांचे भागे निद्रा, प्रचला न बांधइं तेह भणी ५६नउ बंध। सातमइ भागि देवगति १ देवानुपूर्वी २ पंचेंद्रिय जाति ३ शुभविहायोगति ४ त्रस ५ बादर ६ पर्याप्त ७ प्रत्येक ८ स्थिर ९ शुभ १० सुभग ११ सुस्वर १२ आदेय १३ वैक्रियशरीर १४ वैक्रियअंगोपांग १५ आहारक शरीर १६ आहारकअंगोपांग १७ तैजस १८ कार्मण शरीर १९ समचतुरस्रसंस्थान २० निर्माण नाम २१ जिन नाम २२ वर्ण २३ गंध २४ रस २५ स्पर्श २६ अगुरुलघु २७ उपघात २८ पराघात २९ उच्छ्वास ३० ए त्रीस प्रकृति न बांधइं थाकती २६ बांधइ। अनिवृत्ति बादर गुणठाणाना पांच भाग कीजइ। पहिलइ भागि हास्य १ रति २ जुगुप्सा ३ भय ४ ए च्यारि न बांधइं बीजी बावीस प्रकृति बांधइं। बीजइ भागि पुरुषवेद वर्जी २१ बांधइं। त्रीजइ भागि संज्वलन क्रोध टाली २० बांधइं। चउथइ भागि संज्वलन मान टाली १९ बांधइं। पांचमइ भागि संज्वलन माया टाली १८ बांधइं। सूक्ष्मसम्पराय गुणठाणइ संज्वलन लोभवर्जी १७ बांधइं। उपशांतमोह गुणठाणइ चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, उच्चैर्गोत्र, यशोनाम, पांच ज्ञानावरण, पांच अंत्राय, ए सोल प्रकृति न बांधइं। एक साता वेदनीय कर्मप्रकृति बांधइं। क्षीणमोह अनइ सयोगि गुणठाणइ एहजि एक सातवेदनीय बांधइं। अयोगि गुणठाणइ एकइ प्रकृति न बांधइं।

नारकी अनइ देवहुइ पहिली च्यारि गुणठाणां हुइं। मिथ्यात्व गुणठाणइ नारकी १२०(१००) प्रकृति बांधइं। देवगति १ देवानुपूर्वी २ देवतानुं आऊखुं ३ नरकगति ४ नरकानुपूर्वी ५ नरकनउं आऊखुं ६ वैक्रियशरीर (७), वैक्रिय अंगोपांग ८ आहारक शरीर ९ आहारक अंगोपांग १० सूक्ष्म ११ अपर्याप्त १२ साधारण १३ एकेंद्रियजाति १४ बेंद्रिय १५ तेंद्रिय १६ चउरिंद्रिय जाति १७ स्थावर १८ आतप १९ जिननाम कर्म ए २० प्रकृति न बांधइ। जेह भणी नारकी मरी वली नारकी न थाइ, देव अनइ एकेंद्रिय, विकलेंद्रिय पुण न थाइं। देवहुइं एतलउ विशेष – देव मिथ्यात्व गुणठाणइ एकेंद्रिय १ थावर २ आतप ३ त्रिणि प्रकृति अधिकी बांधइ, बीजी वीस न बांधइं, तेह भणी १०३ प्रकृति हुइं। देव कल्पद्रुम–रत्नादिकनइ मोहि मरी एकेंद्रियमांहि ऊपजइ। सास्वादन गुणठाणइ नारकी अनइ देव ९६ अथवा ९४ प्रकृति बांधइ। नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्त संघयण ए च्यारि न बांधइ। मिश्र गुणठाणइ देव अनइ नारकी ७० प्रकृति बांधइ। अनंतानुबंधिया च्यारि, ऋषभ नाराचादि ४ संघयण च्यारि, न्यग्रोधपरिमण्डलादि संस्थान ४, अशुभ विहायोगति १३, नीचैर्गोत्र १४, स्त्रीवेद १५, दुर्भग १७(१६), दुःस्वर १८(१७) अनादेय १९(१८) निद्रानिद्रा १९ प्रचलाप्रचला २० स्त्यानर्द्धि १२(२१) उद्योत २२ तिर्यग्गति २३ तिर्यगानुपूर्वी २४ तिर्यगायु २५ मनुष्यायु २६ ए छवीस प्रकृति न बांधइ। अविरत गुणठाणइ नारकी अनइ देव २२ प्रकृति बांधइ। जेह भणी जिन नाम कर्म अनइ मनुष्यनुं आऊखुं ए बि प्रकृति अधिकी बांधइ। इम तेरे थानके उत्तरप्रकृतिनउ बंध विचारिउ।

जेहे कारणि जीवकर्म बांधइ ते कर्मबंधना कारणनउ विचार लिखीइ छइ। पहिलउं कर्मबंधनउं कारण मिथ्यात्व कहीइ। तेहना पांच भेद। 'माहरउजि दर्शन रूडउ बीजउ कांई नही' इसिउ आपणा दर्शननुं कदाग्रह ते आभिग्रहिक मिथ्यात्व कहीइ। मिथ्याशास्त्रना भणनहार ब्राह्मणादिकनी परि १। जेहनउ इसिउ अभिप्राय– 'सघलाइ दर्शन रूडां, सर्वे धर्म भला' इत्यादि ते अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहीइ। मध्यस्थमानी मिथ्यात्वी गोपालादिकनी परि २। जे अहंकार करी काई आपणउ मत थापइ जमालि–गोष्ठामांहिलनी परि ते अभिनिवेशक मिथ्यात्व कहीइ ३। कूडीनइ साचीइ वस्तुनउ निश्चउ न जाणइ तीणइ करी साचाइ जीवाजीवादिक पदार्थनइ विषइ सन्देह आणइ। 'न (साचउ कि न कुडउ) इ कि कूडउं' इत्यादि ए स्यांशयिक मिथ्यात्व। अजाण जीवहुइं हुइं पांचमउं अनाभोगिक मिथ्यात्व सर्व गहलरूप अचेतन एकेंद्रियादिकहइं हुइं ५। ए पांच भेद मिथ्यात्व

कर्मबंध कारण।

बीजउं कर्मबंधनउं कारण अविरति कहीअइ। तेहना १२ भेद । कर्ण १ चक्षुः २ नासिका ३ जिह्वा ४ स्पर्शन ५ रूप पांच इंद्रिय, छट्ठउं मननउ अनियंत्रण = मोकलउं मूकिवउं। अनइं पृथ्वीकाय १ अप्काय २ तेउकाय ३ वाउकाय ४ वनस्पतिकाय ५ त्रसकाय ६ ए छ जीवनउ विणास ए बारभेद अविरतिना कर्मबंधनउं कारण।

त्रीजउं १६ कषाय ९ नो कषाय कर्मबंधनउं कारण। जे कषाय तीव्र परिणाम मरणि आवइं निवर्तइ नही वरस दीस उत्कृष्टउं जावजीव रहइं ते अनंतानुबंधिया कहीइं। तेहनइ उदइ सम्यक्त्व न लहइं। तेहनइ उदइ मरनउ नरगिजि जाइ १। अप्रत्याख्यान कषाय ऊपना पूठिइं जीवहुइं च्यारिमास ऊपरि उत्कृष्टउं जां वरस रहइ। तेहनइ उदइ सम्यक्त्व लहइं पुण देशविरति श्रावकपणू न लहइं। तेहनइं उदइ मूओ तिर्यंचमांहि जाइं २। जे कषाय ऊपनुं पनर दिहाडा ऊपरि उत्कृष्टउं ४ मास रहइं ते प्रत्याख्यानावरण कषाय कहीइं। एहनइ उदय सम्यक्त्व देशविरति हुइं पुण सर्वविरति चारित्र न हुइं। तेहनइ उदयि मूओ मनुष्यगति लहइं ३। जे कषाय ऊपनउ अंतर्मुहूर्त ऊपरि जां उत्कृष्टउ पनर दिहाडा लगइ रहइ ते संज्वलन कषाय कहीइ। तेहनइ उदयइ सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति लहइं पुण कषायोदय रहित चारित्र न लहइ। तेहनइ उदयइ मूओ देवलोकि जाइं। मोक्षि न जाइ ४। ए च्यारइ क्रोधइ हुइं ५ मानइ हुइं लोभइ हुइं। तेह भणी कषायशब्दइं ए च्यारइ कहीइं।

एह चिहुंना दृष्टांत लिखीइं छइं। संज्वलनउं क्रोध पाणीमांहि लीहनी परि जाणिवउं। जिम पाणी मांहि लीह काढी तत्काल मिलइ तिम एहू कषाय तत्काल निवर्तइ। प्रत्याख्यानावरण क्रोध धूलिमांहि लीह सरीखुं। जिम धूलिनी लीह वडीवार रहइ तिम एहू क्रोध मोउडउ फीटइ २। अप्रत्याख्यान क्रोध सूका तलावनी फाटी माटीनी रेखा सरिखउं। जिम ते रेखा वरस दीस मेघ वूठइं जि भाजइ तिम एहू क्रोध वरसदीसि भाजइ ३। अनंतानुबंधिया क्रोध पर्वतराइ सरीखउं। जिम ते विवर जावजीव रहइं, तिम ए क्रोध जाव जीव लगइ रहइ ४।

संज्वलन मान नेत्रनी लाकडी सरीखउं। जिम ते लाकडी सुखिइं नमाडीइं तिम एहवा अहंकारना धणी सुखिइं नमइं १। प्रत्याख्यानउ काष्ट सरीखउं। जिम ते काष्ट चोपडण–तापादिके करी गाढउ दोहिलउ नमइ तिम एहूनइ उदयि जीव कष्टइं नमइ २। अप्रत्याख्यानउ मान हाड सरीखउं। जिम सइरनु हाड चोपडिवउं सेकवउं चोपडा बांधवादिक उपायइं करी गाढइं कष्टइं नमइ तिम एहूनइ उदयि जीव गाढइ कष्टइं नमइं ३। अनंतानुबंधिउ मान पाषाणना थांभा सरीखउं। जिम ते थांभउ भावइ ते उपाय करउ पुण न नमइ तिम एहनइ उदयइ जीव भावइ तेवडे उपाये न नमइ ४।

संज्वलन माया शस्त्रइ करी जे वांसनी छालि पडइ तेउ सरीखी। जिम ते छालि सूयाली भणी सुखिइं पाधरी कराइ तिम एहनइ उदयइ सुखिइं हीयानी कुटिलता जाइ १। प्रत्याख्यानावरण माया– बलद जातओ मूतरइ ते गोमूत्रिका कहीइ –ते सरीखी। जिम तेहनउं वांकपण मउडउ फीटइ तिम एहनइ उदयइ जीवनी वक्रता घणी अनइ दोहिली २। अप्रत्याख्यानी माया मीढा बोकडा अथवा मीढा बलदनां सीम सरीखी जिम तेहनी वक्रता गाढी हुइ अति गाढइ कष्टइ कालिंगडा बंधनादिक प्रयोगइं फीटइ तिम ए माया जाणिवी ३। अनंतानुबंधिनी माया निवड वंसीआलिना मूल सरिखी। जिम ते मूलनी वक्रता गाढी हुइ आगिइं वलतां न वलइं। तिम ए माया किमइ न जाइ ४।

संज्वलन लोभ हलिद्दना राग सरिखउं। जिम लूगडइ हलिद्दनउ रंग तावडादिकनइ संयोगइं सुखइं जाइं। तिम एहू लोभ सुखइं निवर्तइं २। प्रत्याख्यानावरण लोभ दीवा गाडलानां ऊगण खंजण तेह सरीखु कहीइ। जिम ते लूगडइ लागउ गाढउ दोहिलउं फीटइ तिम एहू दोहिलउ फीटइं २। अप्रत्याख्याना लोभ नगरना चलाह कादव

सरीखउ। जिम तेहनउ छांटउ लागउ अतिकष्टेइं फीटइ तिम ए लोभ अति महाकष्टइं फीटइ ३। अनंतानुबन्धीउ लोभ कृमिराग सरीखउ। जिम ते पटउ लान(ग)उ कृमिराग किम्हइ न जाइ बालिआइ पूठिइं राख रातडी थाइं ४ तिम ए लोभ किम्हइ न फीटइ ४। एवं कषाय सोल नव नो कषाय कर्मबंधनउं कारण कहीइ।

कषायसिउं सहचारी भणी नोकषाय कहीइ। कांई हास्यनउं कारण देखी अथवा ईमइं कर्मनइं विशेषिइं जे हासूं आवइ ते कर्मबंधनउं कारण १। जं जीवहुइं किसीइ वस्तु ऊपरि सकारण निःकारण मननी समाधि ऊपजइ ते रति कहीइ कर्मबंधनउं कारण २। जं किसीइ वस्तु ऊपरि सकारण अथवा निःकारण मननी अप्रीति उपजइ ते अरति कहीयइ कर्मबंधनउं कारण ३। जे किसीइ वस्तुनइ विणासि अथवा ईम्हइ विषाद दुःख उपजइ ते शोक कहीयइ कर्मबंधनउं कारण ४। जं जीव हुइं कांई कारणि अथवा मननइ संकल्पिइं भय ऊपजइ ते भय कहीइ कर्मबंधनउं कारण ५। कांई अशुचि वस्तु देखी अथवा मननइं संकल्पिइं सूग ऊपजइं ते जुगुप्सा कहीइ कर्मबंधनउं कारणं ६। जे पुरुषहुइं स्त्री ऊपरि रागनउ अभिलाष ते पुंवेद कहीइ कर्मबंधनउं कारण ७। तृण पूलाग्नि सरीखउं। जिम तृणानउ पूलउ लगाडिउ वाइसिउं मोटी ज्वाला नीकलइ पछइ उल्हाई जाइ तिम पुरुषवेदइ पहिलुं अभिलाष तीव्र उपजइ पछइ स्त्रीसेवा पूठिइं तत्काल निवर्तइ ७। स्त्रीहुइं पुरुष नइ विषइ अभिलाष ऊपजइ ते स्त्रीवेद कहीइ। स्त्रीवेद कारिसना आगि सरीखउं। जिम ते कारिसनुं आगि पहिलउं मन्द हुइ जिम जिम हलाविइ तिम तिम अधिक प्रज्वलइ तिम स्त्रीवेदइ पुरुषने स्पर्शादिके करी अधिकउ अधिकउ बाधइ ८। पुरुषइ ऊपरि अनइ स्त्री ऊपरि जे अभिलाष ऊपजइ ते नपुंसकवेदक नगरना दाह सरीखउं। जिम नगर बलतउं घणा काल लगइ रहइ मउडउ उल्हाइ तिम नपुंसकवेदनइ उदयइ राग दोहिंलउ निवर्तइ ९। ए नव नो कषाय कर्मबंधनुं कारण। एवं २५ कषाय बी(त्री)जउ कर्मबंधनउं कारण ३।

चउथउ कर्मबंधनउं कारण १५ योग मन वचन काय रूप व्यापार कहीइ। ते पनरयोग आगइ पाछलि वखाणिया छइं। एवं कारइ ५७ भेद कर्मबंधनउं कारण।

हिव ए कर्मबंधनउ कारण तेरे थानके विचारीइ छइ। किहां केतला हुइ? इसी परि। पृथ्वीकायहुइं मिथ्यात्वमांहि एक अनाभोगि मिथ्यात्व १ बार अविरतिमांहि एक स्पर्शनेंद्रियनी अविरती अनइ छ जीवनी अविरति जेह भणी पृथ्वीकायइं करी छइं जीवनी विराधना हुइं। एवं अविरति ७ सोल कषाय अनइ नव नो कषायमांहि पुंवेद अनइं स्त्रीवेद न हुइं। एवं २३ कषाय हुइं। पनर योगमांहि औदारिक १ औदारिक मिश्र २ कार्मण ३ ए त्रियोग हुइं। एवं ३४ कर्मबंधना कारण। पृथ्वीकायहुइं धुरि ऊपजतां छ आवली प्रमाण सास्वादन गुणठाणइउं हुइं तीणी वेलीअजी शरीर अनइ इंद्रिय हूआं नथी। तेह भणी मिथ्यात्व १ स्पर्शनेंद्रिय २ औदारिक ३ वर्जी थाकता ३१ ते तीवारइं हुइंकर्मबंधना कारण हुइं। इम अप्काय वनस्पतिकायमांहि मिथ्यात्व गुणठाणइ ३४ सास्वादन गुणठाणां नां वे(व)ली ३१ तेउकाय-वाउकायहुइं एक मिथ्यात्वजि गुणठाणउं हुइ। तिहां पाछिला ३४ कर्मबंधनां कारण हुइं। वली एवलउ विशेष जं पर्याप्ति बादर वाउकायहुइं वैक्रिय करिवानी लब्धि हुइ तेहहुइं वैक्रियसरीर अनइ वैक्रियमिश्र ए २ योग अधिकी(का) हुइं तेह भणी तेहनइ ३६ हुइं। बेंद्रियहुइं मिथ्यात्व पृथ्वीकायना पाहिं जिह्वेंद्रियनी अविरति, असत्यामृषा भाषा ए बि अधिकाईं तेह भणी तिहां ३६ हुइं। सास्वादन वेलां इंद्रिय,सरीर,भाषादिक कांई हूआं नथी तेह भणी ३१। तेंद्रियहुइं मिथ्यात्व गुणठाणइं ३८ हुइं। सास्वादन गुणठाणइं ३७। असंज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियहुइं कर्णेंद्रिय अधिकुं तेहभणी तेहनइं ३९, सास्वादनि ३१ संज्ञिया तिर्यंच पंचेंद्रियहुइं मिथ्यात्व गुणठाणइ आहारक १ शरीर आहारकमिश्र २ ए बि योग वर्जी बीजी ५५ प्रकृति हुइं। सास्वादनि ५ मिथ्यात्ववर्जी बीजी ५०, मिश्र गुणठाणइ ४ च्यारि अनंतानुबंधिया अनइ औदारिकमिश्र १ वैक्रियमिश्र २ कार्मण ३ ए सात टाली बीजा ४३ कर्मबंध कारण हुइं। अविरत गुणठाणइ औदारिकमिश्र १ वैक्रियमिश्र २ कार्मण ३ ए त्रिणिइ योग हुइं तीणइ ४६। देशविरति गुणठाणइ अप्रत्याख्यानावरण च्यारि कषाय

४ औदारिकमिश्र १ कार्मण २ त्रस जीवना वधनी अविरति १ ए सात टाली बीजी ३९ हुइं।

मनुष्यहुइं तिर्यंचनी परि ए पाचे गुणठाणे सरीखउं। प्रमत्त गुणठाणइं प्रत्याख्यानावरण च्यारि कषाय थाकती इग्यार अविरति ए पनर प्रकृति वर्जी आहारक १ आहारकमिश्र १ ए बि योग सहित २६ हुइं। अप्रमत्त गुणठाणइ वैक्रिय मिश्र १ आहारकमिश्र २ ए बि वर्जी २४ हुइं। निवृत्ति बादर वैक्रियशरीर १ आहारकशरीर २ ए बि टाली २२ हुइं। अनिवृत्ति बादर [गुणठाणइ] हास्य षट्क टाली बीजी सोल हुइं। सूक्ष्मसंपराय गुणठाणइ त्रिणि वेद अनइ संज्वलन क्रोध १ मान २ माया ३ ए छ प्रकृति टाली १० हुइं। उपशांतमोह अनइ क्षीणमोह (गुणठाणइ) संज्वलन लोभ टाली ९ हुइं। सयोगि गुणठाणइ औदारिक १, औदारिकमिश्र २, कार्मण ३, सत्य मन ४, असत्यामृषा मन ५ सत्यवचन ६ असत्यामृषा वचन ७ ए सातयोग हुइ। बीजा एकइ कर्मबंधना कारण न हुइं तेह भणी एक साता वेदनीय एकइं समइं बांधिउं बीजइ समइ वेइउं त्रीजइ समइ खिपाइ एव्हउं बांधइं। अयोगि गुणठाणइ कांई कर्म न बांधइ तेह भणी एकू कर्मबंधनउं कारण न हुइं।

नारकीहुइं औदारिक १ औदारिकमिश्र २ आहारक ३ आहारक मिश्र ४ पुरुषवेद ५ स्त्रीवेद ६ ए छ प्रकृति टाली थाकती एकावन प्रकृति कर्मबंधनां कारण हुइं। सास्वादन गुणठाणइं पांच मिथ्यात्व टाली बीजी ४६ हुइं। मिश्र गुणठाणइं च्यारि अनंतानुबंधिया वैक्रियमिश्र, कार्मण ए छ टाली ४० कर्मबंधनां कारण हुइ। अविरत गुणठाणइ वैक्रिय कार्मण योग सहित ४२ हुइं। देवहुइं मिथ्यात्व गुणठाणइ औदारिक १ औदारिकमिश्र २ [आहारक ३] आहारकमिश्र ४ ए च्यारि योग टाली बीजां ५२ कर्मबंधना कारण। सास्वादनि गुणठाणइ पांच मिथ्यात्व टाली बीजां ४७ हुइं। मिश्र गुणठाणइ च्यारि अनंतानुबंधिया ४ वैक्रियमिश्र ४(५) कार्मण ६ ए छ वर्जी बीजीं ४१ कर्मबंधना कारण। अविरति गुणठाणइ वैक्रियमिश्र कार्मण सहित ४३ कर्मबंधना कारण हुइं। आगिला गुणठाणां देवइहुइं नारकीहुइं न हुइं। इसी परि कर्मबंधना कारण जिहां जेतलां हुइं ते विचारियां।।

।। इति मनस्थिरीकरणविचारः।।

।। परमगुरुः भट्टारकप्रभुश्रीगच्छनायक श्री श्री श्री सोमसुन्दरसूरिभिः कृतम्।।

।। शुभं भूयात्।।[१]

१ मुनिलावण्यसागरपठनार्थम् ।। इति संवेगीउपाश्रयगतज्ञानभंडारस्थप्रतौ ।।

परिशिष्ट–६

आ.श्रीमहेन्द्रसिंहसूरिरचितः

।। प्रकृतिबन्धविचारः ।।

(प्रज्ञापनायाः त्रयोविंशतितमपदस्य तृतीयोद्देशात्सङ्कलितः एकेन्द्रियादीनां शताधिकाष्टपञ्चाशत्प्रकृतिबन्धविचारः)

भवभवदुहदवनीरं, नमिउं वीरं सुरिंदगिरिधीरं। मूलियरपयडिसमुदयठिइबंधमहं लिहे दुविहं।।१।।
मुत्तुमकसायि हुस्सा, ठिइ वेयणियस्स बारसं मुहुत्ता। अट्ठट्ठनामगोयाण, सेसयाणं मुहुत्तंतो।।२।।
मोहे कोडाकोडीउ, सत्तरई वीस नामगोयाणं। तीसियराण चउण्हं, तेतीसयराइं आउस्स।।३।।

(प्रवचनसारोद्धार–१२८०, सूक्ष्मार्थसारोद्धार–६४)

चऊयाले पगडिसए, इगविगला सन्निणं दुविहबंधं। नाउं गुरुठिइसहिया, पढमं लिह पयडि बारसहा।।४।।
करणावि सया तित्थाहारगसगसम्ममीसआउचऊ। चउदस मुत्तुं अडवनसया भुयालं सयं गहियं।।५।।
बावीसं दसिगाउ, दु बार दु द्धतेर दुन्नि चउदसिगा। छ पन्नार दु सोला, दु द्धठारा अट्ठ अट्ठारा।।६।।
इगसट्ठी वीसिक्का, वीसंतीसिक्क सोल चालीसा। एगा उ सत्तरिक्का, सगुरुठिई पयडि बारसिमा।।७।।
आइमसंघयणागिइहासरइपुमुच्चसुगइथिरछक्कं। सियमुहुसुरहिमिउलहुरसुरदुगनिद्दुण्ह बावीसा।।८।।
नग्गोहरिसहनारा, हालिद्दं विलय अद्ध(?) तेराओ। नाराय सादि चउदस, अरुणित्थिकसायमणुयदुगं।।९।।
सायं छप्पन्नारा, सोलसिगं कुज्जमद्धनारायं। नीलकडुयद्धठारा, कीलियवामणयसुहुमतिगं।।१०।।
विगलतिगं अट्ठारा, तसचउ तिरिजुयल निरयजुयलं च। तेयविउव्विय उरलाण सत्तगा हुंडसंट्ठाणं।।११।।
पढमंतजाइ कुखगइ, कुवन्ननवगं च नीलकडुवज्जं। पत्तेया य अतित्था, थावर अथिराइछक्कं च।।१२।।
छेवट्ठं सोगारइ, भयकुच्छनपुंसनीयगोयं च। इगसट्ठी वीसक्का, विग्घावरणाइं अस्सायं।।१३।।
वीसंतिसेक्काओ, सोलकसायाउ हुंति चालीसा। मिच्छेगसत्तरिक्का, पयडिविभागे स बारसहा।।१४।।
बारसहठावियाणं, पुवुत्तप्पयडिगुरुठिईणं तु। हर भाग मिच्छठिइए, एगिंदियमाइबंधकए।।१५।।
सव्वत्थवि समसुन्नावगमे सइ बारसोलसठारेसु। दोहिं कुण उवट्टं, पयडिचउक्कंमि पुण एवं।।१६।।
अधतेरॅे पणवीसाए, चउदसे चउदसेहिं उवट्टे। पंचहिं पन्नरसे, अधठारे पणसत्तरिसएणं।।१७।।
दस वीस तीस चत्ता, सयरि सुलद्धेग दु ति च सगअंसा। बारस सोलट्ठारे, पणतीसंसा छ [सत्त] अट्ठ नव।।१८।।
अडवीसंसा पंच उ, अधतेरे चउदसेसु पंचंसो। चउदसमअंस तिन्नि उ, पन्नारे पाउ अधठारे।।१९।।
एयं इगिंदियेहिं, लद्धं इणमेव विगल अमणावि। कमसोलहं ति पणवीस, पन्न सय सहस गुणियं तु।।२०।।
इय करणवसादागय, बंधट्ठिईण पच्चयनिमित्तं। मुद्धाण जं तयमिणं, पदंसिमो सुहविबोहत्थं।।२१।।
अह लिह जंतं तिरि नव, उड्ढाहो चउदरेह अट्ठगिहं। पयडीसंखा पयडी, गुरुट्ठिई भागो य तइयगिहे।।२२।।
तुरि एगिंदियबंधं, पंचमि बेइंदि छट्ठि तेइंदी। सत्तमि चउरिंदिठिइं अमणठिइं अट्ठमे लिहसु।।२३।।[1]
दसिगासिगविगलमणा, सत्तं समयर तिसत्तचउदसगं। बायालसयं उवरिं, चउ इग दुग छच्च सत्तंसे।।२६।।
बारसिसिग विगलमणा, छप्पण तीसंस अयर चउ अट्ठ। सतरस इगसयरि सय, दसवीसं पंच पन्नरसा।।२७।।
अधतेरिगविगलमणा, पणअडवीसं सअयर चउ अट्ठ। सतरस अड सयरिसयं, तेर छवीस चउवीस सोलंसा।।२८।। गीतिरियम्।

---

१. २४–२५ तमे गाथाद्वये न दृश्येते ।

चउदसिगिगविगलमणा, पंचंसो अयर पंच दस वीसं। दुन्नि सया संपुन्ना अंसा उवरिं इहं नत्थि।।२९।।
पणदसि सिगविगलमणा, तिन्नि उ चउदंस अयरपणदसगं। इगवीस चउदसुत्तरबिसई पणदस च्छ चउरंसा।।३०।।
सोलसिसिगविगलमणा, अडपणतीसं सअयरपणिगारा। बावीसडवीसहिया, दुसई पणवीस पनर तिस वीसं।।३१।।गीतिः।
अधठारिगविगलमणा, पाउ छच्चयर पायसंजुत्ता। सङ्घा बारस पणवीस, सङ्घदुसई उ संपुन्ना।।३२।।
अट्ठारिगविगलमणा, नव पणतीसं सअयर च्छ ब्बारा। पणवीस दुसयसगवन्न, पनर तीस पणवीस पण अंसा।।३३।।
वीसिसु इगविगलमणा, सत्तंस दुगं च अयरसगचउदा। अडवीसं पणसीया, दुसई इग दु चउ पंच सत्तंसा।।३४।। गीतिः।
तीसिसु इगविगलमणा, सगंस तिगमयर दसिगवीसं च। बायालडवीसहिया, चउसय पण तिग च्छ चउरंसा।।३५।।
चत्तासिगविगलमणा, सगंस चउमयर चउद अडवीसं। सगवन्निगसयरिजुया, पणसय दुग चउ इग तिगंसा।।३६।।
सइरिसु इगविगलमणा, अयरिगपणवीस पन्न सयसहसं। संपुन्नं बंधंति, भागा इह नत्थि उवरिं तु।।३७।।
इगविगला सन्नीहिं, करणवसा जमिह लद्ध तं पुन्नं। गुरुठिइ तेसिं सच्चिय, पलियासंखं सऊणलहू।।३८।।
इगविगलाऽबंधा उ, विउव्विए पढमु बंधु अमणकओ। दुन्नि सया पणसीया, अंसा पंचेव उवरिं तु।।३९।।
बंधंति न इगविगला, वेउव्वियछक्क देवनिरयाउं। तिरिया तित्थाहारं, गइत्तसा नरतिगुच्चं च।।४०।।
नरयसुरसुहुमविगलत्तिगाणि आहारदुग विउव्विदुगं। बंधहिं न सुरा सायव, थावरेगिंदिनेरइया।।४१।।
अहुणा भणिमो मूलियरपयडिण ठिइबंधदुविहं पि। सन्निहिं पणिंदिएहिं, जह कइ कीरइ करिस्सइ य।।४२।।
मुत्तुमकसायि हुस्सा, ठिइ वेयणियस्स बारसं मुहुत्ता। अट्ठट्ठ नामगोयाण, सेसयाणं मुहुत्तंतो।।४३।।
मोहे कोडाकोडीउ, सत्तरई वीस नामगोयाणं। तीसियराण चउण्हं, तेतीसयराइं आउस्स।।४४।।
दंसण चउविग्घावरणलोहसंजलणहुस्स ठिईबंधो। अंतमुहुत्तं ते अट्ठ, जसुच्चे बारसयसाए।।४५।।

(सूक्ष्मार्थसारोद्धार-६४)

दो मासा अद्धद्धं, संजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि। बावीसा पयडीणं, लहु ठिइ सन्नीण खवगाणं।।४६।।

(सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-७४, कर्मप्रकृति-७७)

सेसे सए इगारे, वेउव्विक्कारसे य सन्नीणं। अयरंतकोडिकोडी, लहुठिइ नियमा इहं जम्हा।।४७।।
चउयाले पयडिसए, गुरुयं तं सन्निणो कुणंति ठिइं। बावीसं दसिगाओ, इच्चाइण जा भणियपुव्विं।।४८।।
अंतो कोडाकोडी, तित्थाहाराण जिट्ठठिइबंधो। अंतमुहुत्तमबाहा, इयरो संखिज्जगुणहीणो।।४९।।

(सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-७०, शतकप्रकरणभाष्य-३४०,३५६)

सुरनिरयमिहुणवज्जा, जीवा बंधंति आउलहु खुड्डं। सुरनिरया अंतमुहू, दसवाससहस्समिहुणा वि।।५०।।
इगविगल पुव्वकोडिं, परायु अमणो असंखपल्लंसं। संखाओ तिरियमणुया, तिरिनरविसयं तु पल्लतिगं।।५१।।

(शतकनामा पञ्चमप्राचीनकर्मग्रन्थः -३४)

ते दोवि तितीसयरे, निरए मणुया सुरेसु तेतीसं। तीरियाठार सुरेसुं, जं तग्गइ जा सहस्सारं।।५२।।
तिरिनरमिहुण सुराउं, एकं च्चिय तं परं तिपल्लमियं। सुरनिरया उको(क्को)सं, [पुण] पुव्वकोडि तिरिनरेसु।।५३।।
सम्मे लहु अंतमुहू, समहिय छावट्ठि अयर गुरुट्ठिई। अंतमुहु दुह विमीसे, भणियं पन्नवण तीवीसपए।।५४।।
एगिंदिमाइबंधो, दुहावि लिहिओऽडवन्नपयडिसए। पन्नवणतिवीसपया, तिउद्देसा सिरिमहिंदेहिं।।५५।।

(मनःस्थिरीकरण प्रकरण गाथा-७४/७५)

परिशिष्ट–७

आ.श्रीमहेन्द्रसिंहसूरिरचितः

।।आयुःसङ्ग्रहः।।

सिद्धी कम्माभावे, सो भ(त)वसा तत्थवी वरं झाणं। तंपि य संपइ धम्मं, तत्तवियारो तहिं सारो।।१।।
तस्साइम जियतत्तं, तस्सवि आउं समग्गगुणठाणं। ते चउगइ जियआउं, लहुयं गरुयं पि इह भणिमो।।२।।
जीवा पज्जअपज्जा, नियनियपज्जत्तिं अंतगा पज्जा। करणेण य लद्धीय य, अपज्ज पुण होंति छविहा ऊ।।३।।
नियनियपज्जत्तीणं, अंतं एहिंति न पुण ता पत्ता। ते करणे अपज्जत्ता, जे उण नियनियपज्जत्तीणं।।४।।
अंतं न जंति अंतर, मरंति ते हुंति लद्धिअपज्जत्ता। सव्वत्थाउवियारे अपज्जंते जे उ लद्धीए।।५।।
तिरिनरसंखाऊया, लद्धिकरणेहिं होंति अपज्जत्ता। सुरनिरयमिहुणतिरिनर, करणेणं चेव अपज्जत्ता।।६।।
सुहमियरभूदगागणिपवणनिगोया(१०) पिहत्तरू विगला (३)। समुच्छिम तह गब्भा, जलथलनहउरभुयाचारी।।७।।
इय थिरि----पिहं, अपज्जपज्जत्तणेण अडचत्ता। सव्वेसिमपज्जाणं२४ दुविहं पिय आउ[अं]तमुहू।।८।।
पज्जाण वि सव्वेसिं२४, जहन्नमंतोमुहुत्तमह गरुयं। पंचसु मुहु ----- कनिगोए य अंतमुहू।।९।।
बायरधराइ बावीस, सत्तस तिमह सतिदिण समसहसा। तिन्निदसविगलबारस, समदिणगुणपन्न छम्मासा।।१०।।
जलथलउरभुयपक्खिसु, मुच्छेसुं पुव्वकोडिसमसहसा। चुलसीइ २ तेवन्न ३ बिचत्त ४ बासयरि जहसंखं।।११।।
एएसु गब्भएसुं, परमाउं पुव्वकोडि १ पल्लतिगं२। पुव्वकोंडि पुव्वकोंडि, ४ पल्लस्स असंखभागं च ५।।१२।।
रयणा १ सुद्धा २ वालुय ३ मणसिल ४ सक्कर ५ खरासु पुढवीसु ६। इग १ बार २ चउद ३ सोलस ४ ठारस ५ बावीस ३ समसहसा।।१३।।
नरखिंत्ति कम्मभूमिसु, नगराई चक्किमाइ सिबिराहो। पुन्नक्खया सम्मुच्छइ जहन्न अंगुल असंखंसो।।१४।।
उक्कोस बारजोयण, दीहा पिहुलत्त तयणुरूवेण। उरुसप्पुमिच्छतिरए, अंतमुहू दुहवि आसाली।।१५।।
भोगभूवि नेव विगला, तिरिया चउपाय पक्खिणो मिहुणा सीहाइ जुगलसोम्मा, अजुगलसोम्मा जलोरभुया।।१६।।
चउपय १ पक्खी २ मिहुणा, ते तिह भरहाइ खित्तदसगंमि१। अंतरदीवेसु तहा २ अकम्मभूमिसु तीसाए।।१७।।
समयहियपुव्वकोडीपभिई कालक्कमेण तावट्ठे। जा पल्ल असंखंसो, भरहाइसु आउ पक्खीणं।।१८।।
परमाउ जया जं जं, तेसिं लहुमवि तमेव किंचूणं। एवं चउप्पयाण वि, नवरं तेसिं तिपल्लंतं।।१९।।
अंतरदीविग चउपयपक्खीणमकम्मभूमिपक्खीणं। पल्लस्स असंखंसो, गुरुयं लहुयं तु किंचूणो।।२०।।
हेमवएरन्नेसुं, हरिवासे रम्मएसु १० कुरुसु १० कमा। इगदुतिपल्ला चउपय गुरुलहु तमसंखभागूणं।।२१।।
मिहुणचउप्पयपक्खिसु, गब्भअपज्जा य तहय मुच्छा य। हुंती तेसिं आउं, दुविहं पि य होइ अंतमुहू।।२२।।इति तिरयगइ।।
भरहाइ १० विदेहं ५ तर ५६ अकम्मभूमी ३० भवा नरा चउहा। पढमे मिहुणअमिहुणा १, विदेह अमिहुण २ दुगे मिहुणा।।२३।।
जा पुव्वकोडि आऊ, वा संखमसंखयं तु तेण परं। अमिहुण संखाऊया, मिहुणा सव्वे असंखाऊ।।२४।।
संखाउनरा तिविहा, गब्भे पज्जियर २ मुच्छिम अपज्जा। तहिं मुच्छिमसब्भावा, चलिएसुं मणुयऽमणुयवयवेसुं।।२५।।
उच्चारवमणपसवणपिसियाइसु तह पुमित्थिसंजोगे। मुच्छहिं नरिगदुगाई, जहन्नमुक्कोसउ असंखा।।२६।।
सइ संभवंमि एवं, ते पुण लोए न लब्भहिं सयावि। जं मुच्छनरंतरमवि, चउवीसमुहुत्त गुरु अत्थि।।२७।।
उडुकाले पुणअहिया, गब्भय एगाय जाव नवलक्खा। तहि पज्जा एगाई, जा बतीसं अपज्जीयरे।।२८।।

इय अमिहुणनर तिविहा, मिहुणा पुण गब्भपज्ज एगविहा। तेसु वि गब्भिअ पज्जा, वंताइसु मुच्छ परं न ते मिहुणा।।२९।। गीतिरियम्।

कम्माकम्मगभूमिसु, अंतरदीवेसु मणुय मुच्छंति। गब्भयमणुवयवेसुं, इय पन्नवणाए पढमपए।।३०।।

भरहाइसु जे मुच्छा, मिहुणामिहुणाण वमणमाईसु। जे वि य गब्भि अपज्जा, अंतमुहु दुहवि ताणाउ।।३१।।

भरहेरावयगब्भय, पज्जनराऊ जहन्नमंतमुहू। गुरु सोलसवरिसाई, जा वीसं आइमे अरए।।३२।।

वीसाउ जाऽहियसयं बीए २ तइए उ अहियवाससया। जा पुव्वकोडी, तुरीए पुव्वकोडिओ जा पल्लं।।३३।।

पल्ला दुपल्ल पंचमि ५, पल्लदुगाउ तिपल्ल जा छट्ठे ६। एवं उस्सप्पिणीए, ओसप्पिणीए वि विवरियं।।३४।।

दसखित्तयुगल समयाहियपुव्वकोडीउ जाव पल्लतिगं। उस्सप्पिणि गुरुआउ, ओसप्पिणीए उ पडिलोमं।।३५।।

दसखित्तीमिहुणाणं, जं जं आउं जया जया गरुयं। तं चिय तयावि लहुयं, नियनियठाणम्मि किंचूणं।।३६।।

वइदेहमणुयमुच्छिमगब्भअपज्जाण दुहवि अंतमुहू। गब्भयपज्जाण गुरुपुव्वकोडि तहंतमहुलहुयं।।३७।।

मिहुणाऊ दीवेसु, गरुयं पुन्नो(पल्लो) लहुं तु किंचूणो। पल्लासंखंसु तओ, हेमवएरन्नवासेसुं।।३८।।

हरिवासरम्मएसुं १०, कुरुसु १० इग दोन्नि तिन्नि पल्लकमा। पुन्ना गरुयं लहु पुण, पल्लस्स असंखअंसूणा।।३९।।

मिहुणयगब्भअपज्जा, जे जे वि य वंतिमाइसुं मुच्छा। अंतर अकम्मभूमिसु, ताणाउ दुहवि अंतमुहू।।४०।। इति मणुयगई।।

रयणपहा लहुआऊ, दसवाससहस्स तह गुरु अयरं। अयरेगतिगं बियाए, तच्चपुढवीए तिग सत्त।।४१।।

तुरियाए सत्तदसगं, दससतरस पंचमीए अह छट्ठी। सतरस बावीसयरा, सत्तमि बावीस तेत्तीसा।।४२।।

तेरिक्कारस-नव-सग-पण-तिग-एक्को य पयरगुणपन्नं। सव्वत्थ दुविहमाउं, मुत्तूणं नरयमपइट्ठं।।४३।।

सीमंतपत्थडाऊ, दसनउई समसहस्स लहु गरुयं। दसनउइलक्ख बिइए, तह लहु समलक्खनवई उ।।४४।।

गुरुपुव्वकोडि तईए, तुरिए पुवकोडिअयरदसभागो। एगो दोन्नि दसंसा, पंचमि छट्ठे उ दो तिन्नि।।४५।।

इगइगदसंसवुड्ढी, ता कज्जा जाव तेरसे पयरे। दसमंसग नव लहुयं, गुरुआऊं पुन्नमयरं तु।।४६।।

उवरि खिइठिइविसेसो, सगपयरविहत्थ इत्थ संगुणिओ। उवरिमखिइठिइसहिओ, इच्छियपयरंमि उक्कोसो।।४७।।

सम्प्रति द्वितीयादिपृथिवीषु ईप्सितप्रतरे गुरुस्थितिपरिज्ञानाय करणमाह –**उवरि खिइठिइ गाहा।**

व्याख्या– उपरितनोपरितनक्षितिगुरुस्थितेरधस्तनाधस्तनक्षितिगुरुस्थितिभ्यो यो विश्लेषः सः स्वकीय प्रतरैर्विभज्यते ततो यल्लब्धं तदीप्सितप्रतरसङ्ख्यया गुण्यते। तत उपरितनोपरितनक्षितिस्थितेर्योजने सति यद्भवति सा व्यवक्षत(विवक्षित) प्रतरे उत्कृष्टा स्थितिः। अत्रोदाहरणम्– केनचित्पृष्टम् 'द्वितीयपृथिव्यां षष्ठप्रतरे का गुरुस्थितिः ?' ततो द्वितीयपृथिव्याः सागरत्रिकरूपा गुरुस्थितिः स्थाप्यते। तस्याश्च प्रथमपृथिवीसागरे विश्लेषिते पश्चात् स्थितं सागरद्वयं तस्य स्वकैरेकादशभिः प्रतरैर्भागे लब्धं सागरस्य एकादशं भागद्वयम्। तच्चेच्छया ईप्सित-प्रतरसङ्ख्यया षट्केन गुण्यते। [आ]याता द्वादशएकादशभागाः। तेषामेकादशभिः सागरे कृते एको भागोऽवशिष्यते। ततस्तस्मिन् सागरे उपरितनपृथ्वीस्थितिसागरं योज्यते। तत आगतं षष्ठप्रतरे सागरद्वयम् एकश्च एकादशो भागो गरीयसी स्थितिः। अत्र चायं प्रत्ययोऽवशिष्टप्रतरे पञ्चमप्रतरसत्कं सागरं सागरैकादशभागाश्च दश लघ्वी स्थितिः। एवमन्येष्वपि प्रश्नेषु(प्रतरेषु?) करणमेवं विधेयम् ।

उवरिधरा गुरू ठिई, सा अह धरपढमपत्थडे लहुई। उवरुवरिपयरगुरुठिई, अहोहपयरेसु सा लहुई।।४८।। इति निरयगई। असुराइ देवदेवीए, दाहिण वीसं तहुत्तरा वीसं। वणय[१] .....

१. एकं पत्रं नास्ति ।

.....
.....
.....
..... चउ दुगे दुगे चउ। गेविज्जाइसु दसगं, छावट्ठी उड्ढलोगम्मि।।६७।।
सोहम्मपढमपयरे, परमाउं अयरतेरसं सदुगं। उवरि दु दु भागवुड्ढी, जा अयरदुगंतिमे पयरे।।६८।।
एवं चिय ईसाणे, नवरं सच्चत्थ किंचि अहियत्तं। भणियव्वं तह कुणसू, उवरिमकप्पेसु करणमिणं।।६८।।
सुरकप्पट्ठिइविसेसो, सगपयरविहत्त इत्थ संगुणिओ। हिट्ठिल्लट्ठिइसहिओ, इच्छियपयरंमि उक्कोसा।।६९।।
केनचित्पृष्टं तृतीयकल्पाष्टमप्रतरे कियती गुरुस्थितिरिति? अत्र करणम्– **सुरकप्प गाहा।** प्रथमं सुरकल्पयोः स्थितिर्विश्लेष(स्थितेर्विश्लेषः) क्रियते। एतदुक्तं भवति–तृतीयकल्पस्य सागरसप्तकरूपाया गुरुस्थितेर्मध्याद–धस्तनकल्पस्थितिः सागरद्वयमपह्रियते ततः स्थितानि पञ्चसागराणि। तानि च स्वकैः द्वादशभिः प्रतरैर्विभज्यन्ते। ततो लब्धं सागरस्य द्वादशतमाः पञ्चभागाः। ते चेच्छया विवक्षितप्रतरसङ्ख्याष्टकरूपया गुण्यन्ते। [आ]याता चत्वारिंशत्। षट्त्रिंशता रूपत्रयं कृतं भागचतुष्कं चावशिष्यते। ततोऽतरत्रयमधस्तनकल्पस्थित्यतरद्वयेन सहितं क्रियते। तत आगतं तृतीयकल्पाष्टमप्रतरे सागर पञ्चकं भागचतुष्टयं चोत्कृष्टा स्थितिः। प्रत्ययश्चात्र अवशिष्ट–प्रतरचतुष्टयमपि विंशतिभागान् लभते। ततस्तैः पूर्वैश्चतुर्भिः सागरद्वये कृते सप्तातराणि भवन्तीति। एवं सर्वेष्वपि प्रश्नेषु(प्रतरेषु?) करणं विधेयम्।
उवरुवरि पयरगरुयं, अहोहपयरेसु होइ लहुनिरए। इह पुण अहकप्प गुरु, उवरिमकप्पे लहू सयले।।७०।।
कब्बिससुहम्मीसाणे, तितुरियकप्पेसु लंतए य कमा। पढमतिचउपयरेसुं, तिपलियसारतिगतेराऊ।।७१।।
अनिरयचउपंचभवो, जमालि लंतंमि तेरसाराऊ। किब्बिसिवियार भगवइ, नवसयतेतीस उद्देसे।।७२।।
सोहम्मे ईसाणे, परिगहियाणं सुरीण लहुमाउं। पल्लं समहियपल्लं, सत्त य नवपल्ल उक्कोसं।।७२।।
छलक्खा सोहम्मे, चउरो लक्खा विमान ईसाणे। केवल सुरीण वासा, अपरिग्गहियाण ताण उणो।।७३।।
पलियाउ जा सुहम्मे, समहियपल्लाउ जा उ ईसाणे। नियनियकप्पसुराणं, अनियइचारेण ता भुज्जा।।७४।।
जा पुण सुहमे पल्लुवरि, अहियपल्लोवरिं तु ईसाणे। अहियाऊ इगदुतिचउ, संखमसंखेहिं समएहिं।।७५।।
जा दस पनरस पल्ला, ता कमसो तइयतुरियकप्पाणं। पुव्वुत्तवुड्ढि पुणरवि, जा वीसं पल्लपणवीसं।।७६।।
ता बंभलंतयाणं, पुण वुड्ढि जा बतीसपणतीसं। ता सुक्कसहस्सारे, उवरिं पुव्वुत्त पुण वुड्ढी।।७७।।
जा चत्ता पणचत्ता, ता आणयपाणयाण पुण वुड्ढी। जा पन्ना पणपन्ना, ता आरण अच्चुयाणं तु।।७८।।
बंभे रिट्ठे अट्ठण्ह, कण्हराईण अंतरालेसु। अट्ठट्ठसागराऊ, नवविहलोगंतिया देवा।।७९।।
इय धम्मसूरिसुगुरूवएसओ सिरिमहिंदसूरीहिं। कइवयथूलपयाऊ, संकलियं बारचुलसीए।।८०।।

।। आउसंगहो समत्तो।।

परिशिष्ट–८

संपादनोपयुक्तग्रन्थसूचिः

ग्रंथनाम	संपादक	प्रकाशक	आवृत्ति	वर्ष
आगमपद्यानाम् अकारादिक्रमेण अनुक्रमणिका–१	पू.मु.श्री.विनयरक्षितवि	शास्त्रसंदेश, नवसारी	१	वि.सं.२०६५
आत्मोपदेशमाला हस्तप्रत		ला.द. विद्यामंदिर, अहमदाबाद		
कर्मप्रकृतिः	आ.प्रेमसूरि म.	मुक्ताबाई जैन ज्ञानभंडार डभोई		वि.सं.१९९३
गुणस्थान विवेचन				
जीवाभिगमसूत्र	आ.आनंदसागरसूरि.म.	देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था		
धर्मसङ्ग्रहणिः	आ.अजितशेखरसूरि म.सा.	अर्हं परिवार ट्रस्ट	२	वि.सं.२०६७
ध्यानशतकम् .	आ.कीर्तियशसूरिजी	सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद		
नन्दिसूत्रम्	मुनिपुण्यविजय	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद		इ.स.२००८
नन्दीसूत्र	मु. पुण्यविजयजी	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद		
निर्युक्तिसङ्ग्रहः	आ.जिनेन्द्रसूरि	हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, शांतिपुरी	१	
पण्णवणासुत्तं	मु. पुण्यविजयजी	महावीर जैन विद्यालय, मुंबई		
प्रवचनसारोद्धारः	आ.श्री.मुनिचन्द्रसूरि म.	भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति	१	वि.सं.२०३६
प्रशमरतिप्रकरणम्	मु. वैराग्यरतिवि.	श्रुतभवन संशोधन केंद्र, पुणे		वि.सं.२०१५
प्राकृत व्याकरण	के. वा. आपटे	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी	१	वि.सं.२०५२

प्राकृत हिन्दी कोश प्राकृतपद्यानाम् अकारादिक्रमेण	के. आर. चन्द्र	पार्श्वनाथ विद्यापीठ	२	इ.स.२०११
अनुक्रमणिका-२	पू.मु.श्री.विनयरक्षितवि	शास्त्रसंदेश, नवसारी	१	वि.सं.२०६५
बन्धशतकम्	मु. वैराग्यरतिवि., मु. प्रशमरतिवि.	प्रवचन प्रकाशन, पुणे		वि.सं.२०६१
बृहत्कल्पभाष्यम्	मु. दुलहराज	जैन विश्व भारती, लाडनूं		
भगवतीसूत्र भा. १-४	आ.बेचरदास जीवराज	जिनागम प्रकाशक, सभा	१	वि.सं.१९७४
विशेषावश्यकभाष्यम् १,२,३	दलसुख मालवणीया	ला.द. विद्यामंदिर, अहमदाबाद	१	इ.स.१९६६, १९६८
शतकनामाप्यमकर्मग्रन्थः	महेन्द्र जैन			
शास्त्रवार्तासमुच्चयः	के.के. दीक्षित	ला.द. विद्यामंदिर, अहमदाबाद	१	इ.स.१९६९
शास्त्रसंदेशमाला १.१८	पू.मु.श्री.विनयरक्षितवि	शास्त्रसंदेशमाला सुरत प्रवचन प्रकाशन, पुणे	१	वि.सं.२०६१
श्रावकप्रज्ञप्तिः संस्कृतपद्यानाम् अकारादिक्रमेण				
अनुक्रमणिका-३	पू.मु.श्री.विनयरक्षितवि	शास्त्रसंदेश, नवसारी	१	वि.सं.२०६५
सङ्घपट्टकः				

मुखपृष्ठ परिचय

प्रकृति के प्रसिद्ध पांच मूल तत्त्व है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश। भारत का प्रत्येक दर्शन या धर्म इन पांच में से किसी एक तत्त्व को केंद्र में रखकर विकसित हुआ है। जैन धर्म का केंद्रवर्ती तत्त्व अग्नि है। अग्नि तत्त्व ऊर्ध्वगामी, विशोधक, लघु और प्रकाशक है।

श्रुतज्ञान अग्नि की तरह अज्ञान का विशोधक है और प्रकाशक है। अग्नि के इन दो गुणधर्मों को केंद्र में रखकर मुखपृष्ठ का पृष्ठभू (Theme) तैयार किया गया है।

कृष्ण वर्ण अज्ञान और अशुद्धि का प्रतीक है। अग्नि का तेज अशुद्धियों को भस्म करते हुए शुद्ध ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। विशुद्धि की यह प्रक्रिया श्रुतभवन की केंद्रवर्ती संकल्पना (Core Value) है।

अग्नि प्राण है। अग्नि जीवन का प्रतीक है। जीवन की उत्पत्ति और निर्वाह अग्नि के कारण होते है। श्रुत के तेज से ही ज्ञानरूप कमल सदा विकसित रहता है और विश्व को सौंदर्य, शांति एवं सुगंध देता है। चित्र में सफेद वर्ण का कमल इसका प्रतीक है।

श्रुतभवन में अप्रगट, अशुद्ध और अस्पष्ट शास्त्रों का शुद्धिकरण होता है। शुद्धिकरण के फलस्वरूप श्रुत तेज के आलोक में ज्ञानरूपी कमल का उदय होता है।